श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित

शतक नामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ

पं० कैलाशचन्द्रजी रचित

हिन्दी व्याख्या आदि सहित

सम्पादक

न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भा० की प्रस्तावनाके लेखक

तथा

साप्ताहिक पत्र जैनसन्देशके सम्पादक

न्यायतीर्थ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

प्रधानाध्यापक स्याद्वाद जैन विद्यालय

बनारस

प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल

रोशन मुहल्ला, आगरा।

वीर निर्वाण सम्वत् २४६८

प्रथम संस्करण १०००]   १९४२   [मूल्य ३)

समर्पण

श्री पण्डित सुखलालजी संघवी,

प्रधानाध्यापक-जैन दर्शन,

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस,

को

उनके मण्डलके साथ घनिष्ठ संबंधकी

यादमें

यह पञ्चमकर्मग्रन्थका अनुवाद समर्पित करके
आ० पु० प्र० मण्डल अपनेको कृतकृत्य
समझता है।

पञ्चम कर्मग्रन्थका अनुक्रम

श्रीमती पानबाई

श्रीमती पानबाईजीका परिचय

श्रीमती पानबाई उपनाम पन्नो बीबी लाला बनारसीदासजी नाहर जौहरी लखनऊकी पुत्री थीं। आपका पितृकुल बहुत प्रतिष्ठित है। आपके दादा नवाब वाजिद अलीशाहके जौहरी व मुकीम थे। वि० सं० १९४१ में आपका जन्म हुआ और दस वर्षकी उम्रमें लाला चिम्मनलालजी चोरड़िया के पुत्र लाला बाबूलालजीसे विवाह हुआ। उस वक्त वरकी उम्र १४ साल की थी और वह छठे दर्जेमें पढ़ते थे। आपका खानदान भी बहुत प्रतिष्ठित था, जो कि अबतक लाला गुलाबचन्द छुट्टनलाल जौहरी आगरावालोंके नाम से समस्त जैन ओसवाल समाजमें प्रसिद्ध है। विवाह बहुत धूमधामसे हुआ। किन्तु विवाहसे लौटनेके बादही बाबूलालजी बीमार पड़ गये और ८ महीने तक बीमार रहकर सदाके लिये चल बसे। उनकी मृत्युसे दोनों कुटुम्बों पर रंजका पहाड़ टूट पड़ा। श्रीमती पानबाईकी ददिया सास और सासने इस समय बड़े धीरजसे काम लिया और पानबाईको दिलासा देकर उसे बड़े प्यारसे रक्खा। ददिया सासके गुजर जानेके बादसे इनके वैधव्य जीवनका अधिक भाग अपनी मांके संसर्गमें ही बीता। आपकी माता बड़ी धर्मात्मा थीं। उनके साथमें पानबाईने सैकड़ों बार तीर्थयात्रा की और खूब तपस्यामय जीवन बिताया। माता-पिताकी मृत्यु होजानेके बाद वे आगरा या लखनऊ रहा करती थीं। प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ आदि किया करती थीं। पठनपाठनकी ओर उनकी अच्छी रुचि थी किन्तु उनका विशेष लक्ष्य तीर्थयात्रा व तपस्यामें रहता था। जैसे जैसे तपस्या करती

थीं, निर्बल होती जाती थीं। इसीसे प्रायः बीमार रहा करती थीं। कुछ वर्ष पहले उनके छोटे भाई शिखरचन्दजी चल बसे। उसके बाद उनके बड़े भाई बाबू केसरीचन्दजी बीमार पड़े, जिनकी इन्होंने तीन महीने तक सेवा की। मगर वह भी गुजर गये। उनके गुजरते ही इनकी दशा पागलोंकीसी होगई और यह बीमार पड़ गईं। लखनऊमें बहुत कुछ इलाज करनेपर भी जब कोई लाभ न हुआ तो अपने छोटे भाई खेमचन्दजीसे कहकर आगरासे अपने श्वसुरालयमेंसे बाबू दयालचन्दजी जौहरीको बुलवाया और उनसे आगरा ले चलनेकी प्रेरणा की। बाबू दयालचन्दजी अपने भतीजे धर्म-चन्दजीके साथ बड़ी कठिनाईसे उन्हें आगरा लेगये। वहां तेरह दिनतक जीवित रहकर और सबसे क्षमा मांगकर जेठबदी १४ सं० १९९७ को ५६ वर्षकी उम्रमें परलोक सिधार गईं। मरते समय वे ज्ञानदानमें ५००) पंच-मकर्मग्रन्थके सहायतार्थ देगई थीं। जिसके लिये मंडल उनका आभारी है।

प्रकाशकका वक्तव्य

प्रिय पाठको !

जिस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यह पुस्तकप्रचारक मण्डल आजसे ३० वर्ष पहिले जारी किया गया था कि हिन्दीभाषा भाषियोंके पढ़नेके लिये धार्मिक ग्रन्थ तैयार किये जावें, उसकी पूर्ति करनेके लिये अन्य कई ग्रन्थोंका प्रकाशन होनेके सिवाय चार भाग इस ग्रन्थके श्री पं० सुखलालजीके कर कमलोंसे लिखने व छपनेके बाद कितने ही पाठकोंकी उत्कट अभिलाषा देखते हुए जो कि चौथे कर्मग्रन्थके छपनेके बादसे चल रही थी, सम्वत् १९७८ से पाँचवें कर्मग्रन्थको तैयार करनेका विचार मण्डलने किया। यद्यपि यह काम तैयारी व खर्चके ख्यालसे सरल नहीं था, तब भी बार बार यह ख्याल करके कि कर्मग्रन्थके छहों भाग मण्डलसे छपकर निकल जावें तो एक बहुत बड़े कामकी पूर्ति हो जाती है, अतः इसके लिये पं० सुख-लालजीसे बार २ प्रार्थना की गई। मगर पण्डितजीको दूसरे ग्रन्थोंकी तैयारी में लगे रहनेसे बिलकुल फुरसत न मिलती थी। तब उनसे प्रार्थना की गई कि वह अपनी देख-रेखमें दूसरे किसी पण्डितसे तैयार करा देवें। इसपर उन्होंने गौर करके श्री पं० कैलाशचन्द्रजीको इस विषयके योग्य पण्डित समझकर उनके सुपुर्द किया, जिन्होंने सतत परिश्रमके बाद इसको तैयार किया। इस ग्रन्थमें दूसरे पण्डितोंके कर्मग्रन्थोंसे खास २ खूबियाँ जो हैं उसको तो पाठकगण खुद समझ लेंगे। इसके लिये हम पं० सुखलालजी व पं० कैलाशचन्द्रजी दोनोंके अति आभारी हैं कि जिन्होंने हमारे पाँचवें कर्म-ग्रन्थके छपनेके विचारको कार्यरूपमें प्रस्तुत किया। साथ ही हम श्रीमती पानबाई जी आगराके भी आभारी हैं कि जिन्होंने अपने जीवनमें ५००) सहा-यताका वचन देकर उसको पूरा किया।

मन्त्री—**जवाहरलाल नाहटा।**

दयालचन्द्र जौहरी।

पूर्वकथन

कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवादके साथ तथा हिन्दी अनुवादप्रकाशक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डलके साथ मेरा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि इस अनुवादके साथ भी पूर्वकथन रूपसे कुछ न कुछ लिख देना मेरे लिए अनिवार्य सा हो जाता है ।

जैन वाङ्मयमें इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्म-शास्त्र मौजूद हैं उनमेंसे प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थोंका साक्षात् सम्बन्ध दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्वके साथ बतलाती हैं । दोनों पर-म्पराएँ आग्रायणीय पूर्वको दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराएँ समानरूपसे मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीरकी सर्वज्ञ वाणीका साक्षात् फल है । इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यताके अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङ्मय शब्दरूपसे नहीं तो अन्ततः भावरूपसे भगवान् महावीरके साक्षात् उपदेशका ही परम्परा प्राप्त सारमात्र है । इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूपसे केवल भगवान् महावीरकी ही पूर्वकालीन नहीं, बल्कि पूर्व पूर्वमें हुए अन्यान्य तीर्थङ्करोंसे भी पूर्वकालकी अतएव एक तरहसे अनादि हैं । प्रवाहरूपसे अनादि होनेपर भी समय समयपर होनेवाले नव नव तीर्थङ्करोंके द्वारा वे पूर्व पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं । इसी मान्यताको प्रकट करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसामें, नैयायिक जयन्त भट्टका अनुकरण करके बड़ी खूबीसे कहा है कि—"**अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नव-**

नवीभवन्ति, तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते । किन्त्वाश्रौषीः न कदाचिद्-नीदृशं जगत् ।'

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता ऐसी है कि जिसको साम्प्रदायिक लोग आजतक अक्षरशः मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदोंके अनादित्वकी मान्यताका। साम्प्रदायिक लोग दो प्रकारके होते हैं—बुद्धि-अप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तुको बुद्धिका प्रयोग बिना किए ही श्रद्धामात्रसे मान लेते हैं और बुद्धिप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तुको केवल श्रद्धासे मान ही नहीं लेते पर उसका बुद्धिके द्वारा यथा सम्भव समर्थन भी करते हैं । इस तरह साम्प्रदायिक लोगोंमें पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यताका आदरणीय स्थान होनेपर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्वके सम्बन्धमें एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करना प्राप्त है । वह दृष्टि है ऐतिहासिक ।

एक तो जैन परम्परामें भी साम्प्रदायिक मानसके अलावा ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेका युग कभीसे आरम्भ हो गया है और दूसरे यह कि मुद्रण युगमें प्रकाशित किए जानेवाले मूल तथा अनुवाद ग्रन्थ जैनों तक ही सीमित नहीं रहते । जैनतर भी उन्हें पढ़ते हैं । सम्पादक, लेखक, अनुवादक और प्रकाशकका ध्येय भी ऐसा रहता है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ किस तरह अधिकाधिक प्रमाणमें जैनेतर पाठकोंके हाथमें पहुँचे । कहनेकी शायद ही जरूरत हो कि जैनेतर पाठक साम्प्रदायिक हो नहीं सकते । अत एव कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्रके बारेमें हम साम्प्रदायिक दृष्टिसे कितना ही क्यों न सोचें और लिखें फिर भी जब तक उसके बारेमें हम ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार न करेंगे तब तक हमारा मूल एवं अनुवाद प्रकाशनका उद्‌देश्य ठीक ठीक सिद्ध हो नहीं सकता । साम्प्रदायिक मान्यताओंके स्थानमें ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेके पक्षमें और भी प्रबल दलीलें हैं । पहली तो यह कि अब धीरे धीरे कर्मविषयक जैन वाङ्मयका प्रवेश

कालिजोंके पाठ्यक्रममें भी हुआ है जहाँका वातावरण असाम्प्रदायिक होता है। दूसरी दलील यह है कि अब साम्प्रदायिक वाङ्मय सम्प्रदायकी सीमा लांघकर दूर दूरतक पहुँचने लगा है। यहाँतक कि जर्मन विद्वान् ग्लेझ़नप् जो "जैनिस्मस्"—जैनदर्शन जैसी सर्वसंग्राहक पुस्तकका प्रसिद्ध लेखक है, उसने तो श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थोंका जर्मन भाषामें उल्था भी कभीका कर दिया है और वह उसी विषयमें पी० एच्० डी० भी हुआ है। अतएव मैं इस जगह थोड़ी बहुत कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्र सम्बन्धी चर्चा ऐतिहासिक दृष्टिसे करना चाहता हूँ।

मैंने अभी तक जो कुछ वैदिक और अवैदिक श्रुत तथा मार्गका अवलोकन किया है और उसपर जो थोड़ा बहुत विचार किया है उसके आधारपर मेरी रायमें कर्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली नीचे लिखी वस्तुस्थिति खास तौरसे फलित होती है जिसके अनुसार कर्मतत्त्वविचारक सब परम्पराओंकी शृंखला ऐतिहासिक क्रमसे सुसङ्गत हो सकती है।

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थके सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टिमें इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व माननेके लिए बाधित न था जो अच्छे बुरे जन्मान्तर या परलोककी प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चार्वाक परंपराके नामसे विख्यात हुआ। पर साथही उस अति पुराने युगमें भी ऐसे चिंतक थे जो बतलाते थे कि मृत्युके बाद जन्मान्तर भी है*। इतना हीं नहीं

---

* मेरा ऐसा अभिप्राय है कि इस देश में किसी भी बाहरी स्थान से प्रवर्तक धर्म या याज्ञिक मार्ग आया और वह ज्यों ज्यों फैलता गया त्यों त्यों इस देशमें उस प्रवर्तक धर्मके आनेके पहलेसे ही विद्यमान निवर्तक धर्म अधिकाधिक बल पकड़ता गया। याज्ञिक प्रवर्तक धर्मकी दूसरी शाखा ईरानमें

बल्कि इस दृश्यमान लोकके अलावा और भी श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक हैं। ये पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे ही पुनर्जन्म और परलोकके कारण-रूपसे कर्मतत्त्वको स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोकका सम्बन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्मकी मान्यताके आधारपर कर्मतत्त्वका स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपनेको परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

कर्मवादिओंके मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्मका फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ठ परलोकके वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिये। यह दल परलोकवादी होनेसे तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूपसे धर्मका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे, धर्म-अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थोंको मानता था, उसकी दृष्टिमें मोक्षका अलग पुरुषार्थ रूपसे स्थान न था।

जरथोस्थ्रियनधर्मरूपसे विकसित हुई। और भारतमें आनेवाली याज्ञिक प्रवर्तक धर्मकी शाखाका निवर्तक धर्मवादिओंके साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव शुरू हुआ। यहाँके पुराने निवर्तक धर्मवादी आत्मा, कर्म, मोक्ष, ध्यान, योग, तपस्या आदि विविधि मार्ग यह सब मानते थे। वे न तो जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य मानते थे और न चातुराश्रम्यकी नियत व्यवस्था। उनके मतानुसार किसी भी धर्मकार्यमें पतिके लिए पत्नीका सहचार अनिवार्य न था प्रत्युत त्यागमें एक दूसरेका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता था। जबकि प्रवर्तक धर्ममें इससे सब कुछ उलटा था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें गार्हस्थ्य और त्यागाश्रम-की प्रधानतावाले जो संवाद पाय जाते हैं वे उक्त दोनों धर्मोंके विरोधसूचक हैं। प्रत्येक निवृत्ति धर्मवालेके दर्शनके सूत्रग्रन्थोंमें मोक्षको ही पुरुषार्थ लिखा है जबकि याज्ञिक मार्गके सब विधान स्वर्गलक्षी बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अंशोंमें उन दोनों धर्मोंका समन्वय भी हो गया है।

जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्मका उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दलके मन्तव्यका सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेपमें यह है कि धर्म-शुभकर्मका फल स्वर्ग और अधर्म-अशुभकर्मका फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हींके द्वारा जन्म जन्मान्तरकी चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मतके अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्थाका समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं विहित आचरणोंसे धर्मकी उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्मकी उत्पत्ति बतलाकर सब तरहकी सामाजिक सुव्यवस्थाका ही संकेत करता था। वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नामसे प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादिओंका दूसरा दल उपर्युक्त दलसे बिलकुल विरुद्ध दृष्टि रखनेवाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्मका कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मोंके आचरणसे धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर वह धर्म भी अधर्मकी तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवनका लक्ष्य है और मोक्षके वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्मका उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्नसे वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्मका उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मतका सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दलकी दृष्टिके विरुद्ध ही कर्मकी उत्पत्तिका असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्मका मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं; किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण

क्यों न हो पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेष मूलक है तो उससे अधर्मकी ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पापका भेद स्थूल दृष्टि-वालोंके लिए है। तत्वतः पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं रागद्वेषमूलक होनेसे अधर्म एवं हेय ही है। यह निवर्तक धर्मवादिदल सामाजिक न होकर व्यक्तिविकासवादी रहा। जब इसने कर्मका उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इसे कर्मके उच्छेदक एवं मोक्षके जनक कारणोंपर भी विचार करना पड़ा। इसी विचारके फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किए वही इस दलका निवर्तक धर्म है। प्रवर्तक और निवर्तकधर्मकी दिशा बिलकुल परस्पर विरुद्ध है। एकका ध्येय सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षा और सुव्यवस्थाका निर्माण है जब दूसरेका ध्येय निजी आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है, अतएव मात्र आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं रागद्वेष जनित होनेसे उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग् ज्ञान और रागद्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकीके तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयमके ही साधनरूपसे माने गए!

निवर्तक धर्मवादिओंमें अनेक पक्ष प्रचलितथे। यह पक्ष भेद कुछ तो वादोंकी स्वभाव-मूलक उग्रता-मृदुताका आभारी था और कुछ अंशोंमें तत्त्वज्ञानकी जुदी जुदी प्रक्रियापर भी अवलंबित था। ऐसे मूलमें तीन पक्ष रहे जान पड़ते हैं। एक परमाणुवादी, दूसरा प्रधानवादी और तीसरा परमाणुवादी होकर भी प्रधानकी छायावाला था। इसमेंसे पहला परमाणु-वादी मोक्ष समर्थक होनेपर भी प्रवर्तकधर्मका उतना विरोधी न था जितने कि पिछले दो। यही पक्ष आगे जाकर न्याय-वैशेषिक दर्शनरूपसे प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी था और वह आत्यन्तिक कर्मनिवृत्तिका समर्थक होनेसे प्रवर्तकधर्म अर्थात् श्रौत-स्मार्तकर्मको भी हेय बतलाता था।

यही पक्ष सांख्ययोग नामसे प्रसिद्ध है और इसीके तत्त्वज्ञानकी भूमिकाके ऊपर तथा इसीके निवृत्तिवादकी छायामें आगे जाकर वेदान्तदर्शन और संन्यासमार्गकी प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधानच्छायापन्न अर्थात् परिणामी परमाणुवादीका रहा जो दूसरे पक्षकी तरह ही प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एवं निर्ग्रन्थ दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। बौद्ध-दर्शन प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी है पर वह दूसरे और तीसरे पक्षके मिश्रणका एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। सभी निवर्तक वादिओंका सामान्य लक्षण यह है कि किसी न किसी प्रकारसे कर्मोंकी जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहांसे फिर जन्मचक्रमें आना न पड़े।

ऐसा मालूम नहीं होता है कि कभी प्रवर्तकधर्म मात्र प्रचलित रहा हो और निवर्तक धर्मवादका पीछेसे प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भी प्रारंभिक समय ऐसा जरूर बीता है जब कि समाजमें प्रवर्तक धर्मकी प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म व्यक्तिओं तक ही सीमित होनेके कारण प्रवर्तक धर्म-वादिओंकी तरफसे न केवल उपेक्षित ही था बल्कि उसके विरोधकी चोटें भी सहता रहा। पर निवर्तक धर्मवादिओंकी जुदी जुदी परंपराओंने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वोंका क्रमशः इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तकधर्मके होते हुए भी सारे समाजपर एक तरहसे निवर्तकधर्मकी ही प्रतिष्ठाकी मुहर लग गई। और जहाँ देखो वहाँ निवृत्तिकी ही चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्तिके विचारोंसे ही निर्मित एवं प्रचारित होने लगा।

निवर्तकधर्मवादिओंको मोक्षके स्वरूप तथा उसके साधनोंके विषयमें तो ऊहापोह करना ही पड़ता था पर इसके साथही साथ उनको कर्मतत्त्वों के विषयमें भी बहुत विचार करना पड़ा, उन्होंने कर्म तथा उसके भेदोंकी परिभाषाएं एवं व्याख्याएं स्थिर कीं। कार्य और कारणकी दृष्टिसे कर्मतत्त्व का विविध वर्गीकरण किया। कर्मकी फलदान शक्तिओंका विवेचन किया।

जुदे जुदे विपाकोंकी काल मर्यादाएँ सोचीं। कर्मोंके पारस्परिक संबंधपर भी विचार किया। इसतरह निवर्तक धर्मवादिओंका खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित हो गया और इसमें दिन प्रतिदिन नये नये प्रश्नों और उनके उत्तरोंके द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तक धर्म-वादी जुदे जुदे पक्ष अपने सुभीतेके अनुसार जुदा जुदा विचार करते रहे पर जबतक इन सबका संमिलित ध्येय प्रवर्तक धर्मवादका खण्डन रहा तब तक उनमें विचार विनिमय भी होता रहा और उनमें एकवाक्यता भी रही। यही सबब है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन के कर्मविषयक साहित्यमें परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदिका शब्दशः और अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखनेमें आता है,जब कि उक्त दर्शनोंका मौजूदा साहित्य उस समयकी अधिकांश पैदाइश है जिस समय कि उक्त दर्शनोंका परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था। मोक्षवादियोंके सामने एक जटिल समस्या पहलेसे यह थी कि एक तो पुराने बद्धकर्म ही अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमशः फल भोगनेके समय प्रत्येकक्षणमें नये नये भी कर्म बंधते हैं, फिर इन सब कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है, इस समस्याका हल भी मोक्षवादिओंने बड़ी खूबीसे किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनोंके साहित्यमें उस हलका वर्णन संक्षेप या विस्तारसे एकसा पाते हैं। यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करनेके लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तक-वादिओंके भिन्न भिन्न पक्षोंमें खूब विचार विनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे धीरे ऐसा समय आगया जब कि ये निवर्तकवादी पक्ष आपसमें प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी हरएक पक्ष कर्मतत्त्व-के विषयमें ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीचमें ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तक वादिपक्षमें एक खासा कर्मचिन्तक वर्गही स्थिर हो गया जो और मोक्षसंबंधी प्रश्नोंकी अपेक्षा कर्मके विषयमें ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसीका अध्ययन अध्यापन करता था जैसा कि अन्य

अन्य विषयके खास चिन्तक वर्ग अपने अपने विषयमें किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्रका चिन्तकवर्ग जैन दर्शनका कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्मके बंधक कारणों तथा उसके उच्छेदक उपायोंके बारेमें तो सब मोक्षवादी गौण मुख्यभावसे एक मतही हैं पर कर्मतत्त्वके स्वरूपके बारेमें ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्गका जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्मको चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म बतलाते थे जब कि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणुको परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अपनी जुदी प्रक्रियाके अनुसार कर्मको चेतन और जड़ उभयके परिणामरूपसे उभयरूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्यके प्राकृत अन्तःकरणकी तरह संकोच विकासशील था, जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड़ कर्माणुओंके साथ एक-रस भी हो सकता है। वैशेषिक आदिके मतानुसार कर्म चेतनधर्म होनेसे वस्तुतः चेतनसे जुदा नहीं और सांख्यके अनुसार कर्म प्रकृतिधर्म होनेसे वस्तुतः जड़से जुदा नहीं। जब कि जैन चिन्तकोंके मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभयरूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं। यह सारी कर्मतत्त्व संबंधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि कर्मतत्त्वके चिन्तकोंमें परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। यह समय कितना पुराना है यह निश्चयरूपसे तो कहाही नहीं जा सकता पर जैनदर्शनमें कर्मशास्त्रका जो चिरकालसे स्थान है, उस शास्त्रमें जो विचारोंकी गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंका असाधारण निरूपण है इसे ध्यानमें रखनेसे यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैन दर्शनकी विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथके पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्याके धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और

यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्वके नामसे विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्वशब्दका मतलब भगवान् महावीरके पहलेसे चला आनेवाला शास्त्र विशेष है। निःसंदेह ये पूर्व वस्तुतः भगवान् पार्श्वनाथके पहलेसे ही एक या दूसरे रूपमें प्रचलित रहे। एक ओर जैन चिन्तकोंने कर्मतत्त्वके चिन्तनकी ओर बहुत ध्यान दिया जब कि दूसरी ओर सांख्य-योगने ध्यानमार्गकी ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होंने भी ध्यानपर ही अधिक भार दिया। पर सबोंने बिरासतमें मिले कर्मचिन्तनको अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तारमें जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्य-योग, बौद्ध आदि दर्शनोंके कर्मचिन्तनोंके साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूलमें एकता भी है जो कर्मशास्त्रके अभ्यासिओंके लिए ज्ञातव्य है।

सामान्यरूपसे संक्षिप्त ऐतिहासिक अवलोकन करनेके बाद अब मैं प्रस्तुत अनुवाद तथा अनुवादक आदिके बारेमें थोड़ा लिख देना जरूरी समझता हूँ। जब मैंने ई० स० १९१७ से १९१९ तकमें चार कर्मग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद किया तब मेरे कुछ संभावित मित्रोंने मुझसे कहा कि तुम कर्मग्रन्थ जैसे मामूली विषयोंपर शक्ति क्यों खर्च करते हो? पर मैंने अपना अनुवाद पूरा ही किया। मेरी धारणा पहलेसे यह तो थी ही कि भारतीय दर्शनोंमें जो सांप्रदायिकता घुस गई है, ज्ञानके क्षेत्रमें भी जो चौकावृत्ति बंध गई है वह तुलनात्मक तटस्थ अध्ययनके द्वारा ही मिट सकती है। इस धारणाके अनुसार मैंने कर्मग्रन्थोंके अनुवादके साथ प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि रूपसे कुछ न कुछ लिखा। मैंने उस समय यह सोच लिया था कि कर्मतत्त्वके बारेमें भी ऐसा लिखना कि जिससे सहोदर भाई जैसे श्वेताम्बर-दिगम्बर दो फिरके कमसे कम ज्ञानके प्रदेशमें तो एक दूसरे निकट आवें और परस्पर आदरशील बनकर उदारभावसे एक

दूसरेका साहित्य पढ़ें । इस विचारके अनुसार चारों कर्मग्रन्थोंके अनुवादोंमें उत्तरोत्तर श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थोंके आधारपर अधिकाधिक तुलना मैंने की थी । आगे मेरा इरादा यह था कि पांचवें छठे कर्मग्रन्थोंके अनुवादोंमें तो और भी विशेष तुलना करूँ । पाचवें कर्मग्रन्थका दो तिहाई अनुवाद मैंने कर भी लिया था और उसकी कापियां आगरा रखी थीं । मैं उसे पूरा करूँ इसके पहले ही अहमदाबाद चला गया और अन्य प्रवृत्तिमें वह काम छूट गया । जब कभी आगरा आता तो उन कापिओंको संभाल लेता । फिर भी अवसर न आया कि उसे मैं पूरा करूँ । क्रमशः वे कापियां भी गुम हुई । इधर मेरे पुराने मित्र बाबू दयाल चन्दजीका बार बार अनुरोध होता रहा कि बाकीके कर्मग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद पूरा हो । मैं ऐसे योग्य आदमीकी तलाशमें था कि जो इस कामके लिए पूरा क्षम हो । काशीमें पं० कैलाशचन्दजी परिचित थे । और वे धर्मशास्त्रके अध्यापक भी हैं । उनकी विचार तथा लेखनकी विशदतासे मैं पूरा परिचित था । अतएव मैंने उन्हींसे पंचमकर्मग्रन्थका अनुवाद करनेको कहा । उन्होंने मेरा अनुरोध और कामोंका बोझ होते हुए भी मान लिया और बहुत श्रमसे इस अनुवादको तैयार किया ।

पं० कैलाशचन्दजी दिगंबरीय कर्मसाहित्यके तो पारगामी थे ही, पर जब मैंने उनसे मेरी अनुवादविषयक दृष्टि सूचितकी तब उन्होंने श्वेताम्बरीय कर्मविषयक करीब करीब महत्त्वका संपूर्ण साहित्य पढ़ डाला और फलतः यह अनुवाद तुलनात्मक दृष्टिसे तैयार किया । मेरे प्रथमके चार अनुवादोंमें दिगंबरीय साहित्यकी तुलना थी पर वह उतनी न थी जितनी कि इस अनुवादमें है । कारण स्पष्ट है । पंडितजीको सारा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र स्मरण है । इसतरह प्रस्तुत अनुवादमें श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मशास्त्र जो असलमें एकही स्रोतके दो प्रवाहमात्र हैं वे गंगायमुनाकी तरह मिल गए हैं । उन्होंने जो प्रस्तावना लिखी है वह भी गहरे अध्य-

थनके बाद ही लिखी है। उनकी भाषा तो मानो विशद प्रवाह है। इस तरह मुझे जो पांचवें कर्मग्रन्थका अनुवाद न कर सकनेका असंतोष था वह इस अनुवादसे दूर ही नहीं हुआ बल्कि एक प्रकारका संतोषलाभ भी हुआ है। इस अनुवादके द्वारा श्वेताम्बरीय अभ्यासिओंको दिगम्बर परंपराका तत्त्व जाननेकी बहुत कुछ सामग्री मिलेगी। और जो दिगम्बरीय अभ्यासी इस अनुवादको पढ़ेंगे उन्हें श्वेताम्बरीय वाङ्मयका सौरभ भी अनुभूत होगा। पं० कैलाशचन्दजी दिगम्बर परंपराके हैं। उनके किए अनुवादकी ओर अगर दिगंबर परंपराके अभ्यासिओंका ध्यान गया तो निःसंदेह वे मौजूदा ज्ञानधरातलसे बहुत कुछ ऊंचा उठेंगे। और उनका ज्ञानका दायरा विस्तीर्ण होगा। पंडितजीने अनुवाद पूरा करनेके बाद मुझको सुनाया तब अमुक भाग सुननेके बाद मैंने उसे तज्ज्ञ सहृदय मित्र हीराचन्द देव-चन्दको अहमदाबाद देखनेके वास्ते भेज दिया, जैसा कि मैं अपने अनु-वादोंके बारेमें भी करता रहा। श्रीयुत हीराचन्द भाईका कर्मशास्त्रके विषयमें खासकर श्वेताम्बरीय-कर्मशास्त्रोंके विषयमें जो स्थान है वह मेरी जानकारीमें और किसी श्वेताम्बर विद्वान्का नहीं है। उन्होंने बड़ी लगन और दिल-चस्पीसे इस अनुवादको बारीकीके साथ देखा और मातृभाषा हिन्दी न होते हुए भी उन्होंने कुछ सूचनाएं सुधारणाकी दृष्टिसे कीं। पं० कैलाश चन्दजीने उन सूचनाओंमेंसे जो ठीक थीं उसके अनुसार यथास्थान सुधार किया। इसतरह अन्तमें यह ग्रन्थ तैयार होकर अभ्यासिओंके संमुख उप-स्थित होता है। मैं पं० कैलाशचन्दजी तथा भाई हीराचन्द दोनोंके श्रमका मूल्य समझता हूं और एतदर्थ अपनी ओरसे तथा मंडलकी ओरसे उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

प्रकाशक मंडलने कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करके हिन्दी साहित्यमें एक नया ही प्रस्थान शुरू किया है। यों तो परमश्रुतप्रभावक मंडलकी ओरसे दिगम्बरीय जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड ग्रन्थोंके दिगम्बरीय

विद्वानोंके द्वारा किए गये अनुवाद बहुत पहलेसे ही प्रसिद्ध थे । और उन अनुवादोंका पुनः संस्करण भी एक प्रसिद्ध दिगम्बर पंडितके द्वारा ही हुआ है जो दिगम्बरीय कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ समझे जाते हैं और जिनकी मातृभाषा भी हिन्दी है। फिर भी आ० मण्डल द्वारा प्रकाशित और प्रकाश्यमान प्रस्तुत अनुवादके साथ जब उन जीवकाण्ड कर्मकाण्डके अनुवादोंकी तुलना करता हूँ तब कहना पड़ता है कि मण्डलका प्रयत्न कहीं ज्यादा सफल और व्यापक है । मंडलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी कर्मग्रन्थोंके बाद तो गुजराती भाषामें भी कर्मग्रंथोंके अच्छे अनुवाद प्रसिद्ध हुए हैं, जो पं० भगवानदासके किए हुए हैं । और जिनमें मण्डलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादमेंसे अमुकसामग्री भी अक्षरशः ली गई है । मंडल के हिन्दी अनुवाद हिन्दीभाषी प्रान्तोंके अलावा गुजरातमें इतने अधिक प्रचलित हुए हैं कि मंडलकी पुस्तकोंकी बिक्रीका बड़ा भाग गुजरातमें ही हुआ है । प्रस्तुत अनुवाद भी गुजरातमें बहुत प्रचलित होगा और संभव है कि इसके आश्रयसे गुजरातीमें भी अनुवाद तैयार हो ।

अन्तमें मैं दो एक बातोंकी ओर पाठकोंका ध्यान खींचता हूँ । पं० कैलाशचन्द्रजीने अपनी स्पष्टभाषिताके अनुसार खुद ही कहा है कि अभ्यास-के कारण दिगम्बरीय परिभाषाओं और संकेतोंसे जितना मैं परिचित हूँ उतना श्वेताम्बरीय परिभाषाओंसे नहीं । यह उनका कहना वास्तविक है । और इसमें कोई दोष नहीं प्रत्युत गुण है । फिर भी उन्होंने श्वेताम्बरीय परिभाषाओं को समझने और अपनानेका भरसक प्रयत्न किया है । प्रस्तावनामें उन्होंने दर्शनान्तरीय ग्रन्थोंका परिशीलन करके मतलबकी ठीक २ बातें लिखी हैं, जहाँ कहीं जैन ग्रन्थोंके हवालेका सवाल आया वहाँ उन्होंने विशेषरूपसे दिगम्बरीय ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत किए हैं । यह स्वाभाविक है । क्योंकि उन्हें श्वेताम्बरीय ग्रन्थ उतने उपस्थित और रममाण नहीं हो सकते जितने दिगम्बरीय ग्रन्थ । पर इससे श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय अभ्यासियोंको तो

फायदा ही होगा । पण्डितजीने प्रसिद्ध दिगम्बर ग्रन्थ षट्खण्डागमका निर्देश करते हुए जो उसके समयके सम्बन्धमें मान्यता प्रगटकी है उसे मैं अपनी दृष्टिसे ठीक नहीं समझता । प्रो० हीरालालजीने षट्खण्डागम वीर सम्बत् ६८३के आसपासकी कृति होनेका विचार प्रकट किया है। अभी वे खुद ही अन्तिम निर्णयपर पहुँचे नहीं हैं (देखो पुस्तक १ प्रस्तावना पृ० २९)। दूसरी बात यह है कि वीर निर्वाण सम्बत् ६८३ के आसपासकी कृति होनेके प्रचलित विचारके विरुद्ध विद्वान् मुनि कल्याणविजयजीने महावीर चरित्रमें बहुत कुछ विचारणीय लिखा है जो थोड़े ही दिनोंमें प्रसिद्ध होगा। मैंने उसे पढ़ा तब मुझे लगा कि ऐतिहासिकोंको वीर निर्वाण ६८३ वाली विचारणाके विरुद्ध बहुत कुछ नये सिरेसे विचार करना पड़ेगा । अतएव पण्डित कैलाशचन्द्रजीका षट्खण्डागमके सम्बन्धमें पहली शताब्दी वाला कथन अभी विचाराधीन ही समझना चाहिये । आगे जाकर उसके सम्बन्धमें जो कुछ निर्णय हो। फिर भी प्रस्तावनामें ऐसी कुछ कृतिओंका नाम निर्देश करना रह गया है जो अभी उपलब्ध हैं और जो विक्रम संवत् पहलेकी हैं तथा जिनमें कर्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली विविध और विस्तृत चर्चाएँ हैं । ऐसी कृतियोंमें प्रथम तो भगवती सूत्र है जो व्याख्याप्रज्ञप्ति नामसे प्रसिद्ध है । यद्यपि भगवतीका वर्तमान स्वरूप वालभी वाचना कालीन है फिर भी उसमें चर्चित कर्मसम्बन्धी आदि अनेक विषय प्राचीन शैली और प्राचीन भाषामें ज्योंके त्यों हैं। उत्तराध्ययन जिसको प्रो०याकोबी आदि यूरोपीय विद्वान् भी निःसन्देहरूपसे विक्रम सम्बत्की पूर्वशताब्दिओंकी कृति समझते हैं उसमें भी संक्षिप्त कर्मप्रकृतियोंका वर्णन है। सबसे अधिक और विशद कर्मसम्बन्धी विविध प्रश्नोंका वर्णन तो प्रज्ञापना सूत्रमें है जो श्यामाचार्यकी विक्रम सम्वत्के सौ वर्ष पहलेकी निश्चित कृति है ।

अस्तु, जो कुछ हो, न तो मात्र पुरातनत्व यथार्थताका नियामक है और न मात्र नवीनत्व कल्पितताका नियामक। समयका प्रश्नमात्र इतिहाससे

संबन्ध रखता है। इस अनुवादमें तो करीब दो हजार वर्षोंसे एक दूसरेसे विलग हुई दो सहोदर श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराएँ मिल गईं हैं और एक तरहसे ज्ञान प्रदेशमें एकीकरण हुआ है जो सबसे अधिक मूल्यवान् है।

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी।
ता० २६-११-४१

सुखलाल संघवी
प्रधान जैनदर्शनाध्यापक ओरियण्टल कालिज
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

सम्पादकका वक्तव्य

साढ़े तीन वर्षके लगभग हुए, पं० सुखलालजीकी प्रेरणासे मैंने पञ्चम कर्मग्रन्थके अनुवादका कार्य हाथमें लिया था। अनुवाद ग्रन्थकार श्रीदेवेन्द्र सूरिकी स्वरचित टीकाके आधारपर किया गया है। संस्कृतटीकामें जो विशेष बातें आईं हैं, उनका सारांश भावार्थमें दे दिया गया है। आवश्यकता-नुसार पं० जयसोमरचित गुजराती टबेसे भी सहायता ली गई है। ग्रन्थ-कारने अपनी संस्कृत टीकामें पहली गाथाके प्रारम्भमें प्रतिपादित बारह विषयोंका बारह द्वारोंके रूपमें विभाजन किया है। अर्थात् जैसे अन्य ग्रंथों-का विभाजन अध्याय, सर्ग, परिच्छेद आदिके रूपमें पाया जाता है वैसे ही इस ग्रन्थका विभाजन बारह द्वारोंके रूपमें किया गया है। किन्तु गुजराती टबेमें १६ प्रकृतियाँ, ४ प्रकारके बन्ध, ४ उनके स्वामी, १ उपशमश्रेणि और १ क्षपकश्रेणि, इस प्रकार ग्रन्थमें प्रतिपादित छब्बीस विषयोंको लेकर छब्बीस द्वार बतलाये हैं। किन्तु मैंने कई बातोंका विचार करके बाइस द्वार ही रक्खे हैं—बन्ध और उनके स्वामियोंको पृथक् पृथक् द्वारमें न रखकर एक एक द्वारमें ही रखा है। उचित तो यही था कि ग्रन्थकारके अनुसार बारह ही द्वार रखे जाते, किन्तु प्रारम्भके कुछ भागको द्वारोंमें विभाजित करके शेष बहुभागको बिना द्वारके ही रखना उचित नहीं जान पड़ा। अतः यह अनधिकार चेष्टा करनी पड़ी।

कुछ परिभाषाओं, नामों तथा मान्यताओंको लेकर कर्मविषयक दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें भी मतभेद पाया जाता है। इसके सिवा कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंमें भी अनेक मान्यताओंके सम्बन्धमें मत-भेद है। प्रस्तुत ग्रन्थमें चर्चित विषयोंके सम्बन्धमें इस तरहके जो मतभेद मेरे दृष्टिगोचर हो सके, उन्हें मैंने टिप्पणीमें दे दिया है। आशा है तुलना-त्मक अध्ययनके प्रेमियोंके लिये ये टिप्पण रुचिकर होंगे। इस तरहके अन्य

भी अनेक मतभेदोंका मैंने संकलन किया था और इच्छा थी कि उन्हें एक स्वतन्त्र परिशिष्टमें दे दूंगा। किन्तु कुछ गार्हस्थिक झँझटोंमें फँस जानेके कारण मैं अपनी उस इच्छाको पूरा न कर सका।

दिगम्बर साहित्यका अभ्यासी होनेके कारण उसीकी मान्यताएँ, परिभाषाएँ और संज्ञाएँ मेरी स्मृतिमें समाई हुई हैं, फिर भी मैंने अनुवादमें श्वेताम्बर परम्पराका पूरा ध्यान रखनेकी भरसक चेष्टाकी है। छापनेसे पहले अहमदाबादके कर्मशास्त्रोंके विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् पं० हीराचन्द्रजी ने इस अनुवादको आद्योपान्त पढ़कर अपने जो सुझाव भेजे थे, उसके अनुसार अनुवादमें संशोधन भी कर दिया गया है। आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित पञ्चम कर्मग्रन्थके प्रथम संस्करणके आधारपर यह अनुवाद किया गया था। बादको नवीन संस्करणके प्रकाशित हो जानेपर उसके आधारसे गाथाओंका संशोधन करके पाठान्तर नीचे टिप्पणमें दे दिये गये हैं।

अन्तमें मैं उन सभी महानुभावोंका आभार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने किसी भी प्रकारसे इस कार्यमें सहयोग दिया है। सबसे प्रथम मैं हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके अध्यापक पण्डितवर सुखलाल जीका कृतज्ञ हूं, जिनके सहज स्नेहवश मुझे यह काम हाथमें लेना पड़ा। मुझे इस बातकी भी प्रसन्नता है कि मेरे इस कार्यसे उन्हें सन्तोष हुआ है। और उन्होंने मेरे अनुरोधपर इस पुस्तकका प्राक्कथन लिखनेका भी कष्ट किया है। पं० हीराचन्दजीने पूरे अनुवादको ध्यानपूर्वक पढ़कर जो सुझाव भेजनेका कष्ट किया था, उसके लिये उनका मैं बहुत ही आभारी हूं। हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनागमके अध्यापक पं० दलसुखजी मालविणियाने छपाई वगैरहके सम्बन्धमें मुझे उचित सलाह दी है। स्याद्वाद विद्यालय काशीके न्यायाध्यापक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने प्रेस तथा टाइप वगैरहके चुनावमें क्रियात्मक सहयोग दिया है। अतः उन दोनों विद्वानोंका भी मैं आभारी हूँ। मण्डलके मन्त्री बाबू दयालचन्द्रजी जौहरीके सौजन्यपूर्ण

व्यवहारके लिये भी मैं उनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ। उन्हींके अध्यवसायसे यह ग्रन्थ वर्तमान रूपमें प्रकाशित हो सका है।

मेरे अनुज प्रो० खुशालचन्द्र एम० ए० साहित्याचार्यने प्रारम्भसे ही प्रूफ संशोधनमें मेरा हाथ बटाया था। किन्तु संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीके आफिस सेक्रेटरीका काम करते हुए उन्हें सरकारने नजरबन्द कर लिया। अतः उनकी जेल यात्राके बाद स्याद्वाद विद्यालय काशीके सुयोग्य स्नातक पण्डित अमृतलालजी शास्त्रीसे इस सम्बन्धमें मुझे पूरी सहायता मिली। अतः अपने इन दोनों बन्धुओंका भी मैं आभारी हूं।

काशी
पौष कृष्ण एकादशी
वी० नि० सं० २४६८

कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रधानाध्यापक स्याद्वाद दि० जैन
विद्यालय, काशी।

प्रस्तावना

१ कर्मसिद्धान्त

यह ग्रन्थ, जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है, कर्मसिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है। अतः कर्मसिद्धान्तके कुछ मुख्य मुख्य मुद्दोंपर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१ कर्मसिद्धान्तका आशय—संसारमें बड़ी विषमता दिखाई देती है। कोई अमीर है कोई गरीब, कोई सुन्दर है कोई कुरूप, कोई बलिष्ठ है कोई कमज़ोर, कोई बुद्धिमान है कोई मूर्ख। तथा, यदि यह विषमता विभिन्न कुलोंके मनुष्योंमें ही पाई जाती, तब भी एक बात थी। किन्तु एक ही कुलकी तो कौन कहे, एकही माताकी कोखसे जन्म लेनेवाली सन्तानोंमें भी इसका साम्राज्य देखा जाता है। अधिक क्या कहें, पशुयोनि भी इस विषमतासे नहीं बच सकी है। उदाहरणके लिये कुत्तोंको ही ले लीजिये—एक वे कुत्ते हैं जो पेट भरनेके लिये इधर उधर घूमते फिरते हैं, जिन्हें खाज और घाव हो रहे हैं और उसपर भी मार खाते डोलते हैं। दूसरे वे कुत्ते हैं जो पेटभर दूध रोटी खाते हैं, मोटरोंमें बैठकर घूमते हैं और राजकुमारोंकी तरह जिनका लालन-पालन होता है। सारांश यह है कि संसारमें जिधर दृष्टि डालिये उधर ही विषमता दिखाई देती है। इसका क्या कारण है? क्यों एकही माता-पितासे जन्म लेनेपर भी एक बुद्धिमान होता है दूसरा मूर्ख, एक स्वस्थ होता है दूसरा रोगी, एक सुन्दर होता है

दूसरा कुरूप? इस विषमताका कारण है प्राणियोंके अपने अपने कर्म। यतः सब प्राणियोंके कर्म जुदी जुदी तरहके होते हैं, अतः उनका फल भी जुदा जुदा होता है। यही कारण है कि संसारके चराचर प्राणियोंमें इतनी विषमता देखी जाती है। इसीसे कविवर तुलसीदासजीने **रामायणमें** लिखा है—

"करम प्रधान विश्वकरि राखा,
जो जस करहि सो तस फल चाखा।"

प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसाही फल भोगना पड़ता है। मोटे तौरसे यही कर्मसिद्धान्तका आशय है। इस सिद्धान्तको जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक वगैरह आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं, किन्तु अनात्मवादी बौद्ध[1] दर्शन भी मानता है। इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इसमें प्रायः एकमत हैं।

---

१ इसके सम्बन्धमें राजा मिलिन्द और स्थविर नागसेनका निम्न संवाद अवलोकनीय है—"राजा बोला—"भन्ते! क्या कारण है कि सभी आदमी एक ही तरहके नहीं होते? कोई कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयुवाले, कोई बहुत रोगी, कोई नीरोग, कोई भद्दे, कोई बड़े सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई बड़े प्रभाववाले, कोई गरीब, कोई धनी, कोई नीच कुलवाले, कोई ऊँचे कुलवाले, कोई बेवकूफ और कोई होशियार क्यों होते हैं?

स्थविर बोले—"महाराज! क्या कारण है कि सभी बनस्पतियाँ एक जैसी नहीं होती? कोई खट्टी, कोई नमकीन, कोई तीती, कोई कडुई, कोई कसैली और कोई मीठी क्यों होती है?

भन्ते! मैं समझता हूँ कि बीजोंके भिन्न-भिन्न होनेसे ही वनस्पतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

महाराज! इसी तरह सभी मनुष्योंके अपने अपने कर्म भिन्न-भिन्न होनेसे वे सभी एकही तरहके नहीं है। कोई कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयुवाले होते हैं।

महाराज ! भगवानने भी कहा है—हे मानव ! सभी जीव अपने कर्मों से ही फलका भोग करते हैं, सभी जीव अपने कर्मोंके आप मालिक हैं, अपने कर्मोंके अनुसार ही नाना योनियोंमें उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म हीसे ऊँचे और नीचे हुए हैं।" मिलिन्द प्रश्न, पृ० ८०-८१।

न्यायमञ्जरीकार जयन्तने भी यही बात दर्शाई है। यथा—

"तथा च केचिज्जायन्ते लोभमात्रपरायणाः।
द्रव्यसंग्रहणैकाग्रमनसो मूषिकादयः॥
मनोभवमयाः केचित् सन्ति पारावतादयः।
* * *
जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादिभेदतः।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित्।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित्॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिणः।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम्॥"

न्या० मञ्ज०, पृ० ४२ (उत्तरभाग)

अर्थात्—कोई कोई मूषिका वगैरह विशेष लोभी होते हैं, कबूतर वगैरह विशेष कामी देखे जाते हैं। संसारमें कोई सुखी है तो कोई दुःखी है। खेती नौकरी वगैरह करनेपर भी किसीको विशेष लाभ होता है और किसीको उलटा नुकसान उठाना पड़ता है। किसीको अचानक सम्पत्ति मिल जाती है और किसीपर बैठे बिठाये बिजली गिर पड़ती है। किसीको विना प्रयत्न किये ही फलप्राप्ति होजाती है और किसीको यत्न करने पर भी फल-

२ कर्मका स्वरूप—उपर्युक्त कर्मसिद्धान्तके बारेमें ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियोंमें ऐकमत्य होते हुए भी कर्मके स्वरूप और उसके फलदानके सम्बन्धमें मौलिक मतभेद है। साधारण तौरसे जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना वगैरह। परलोकवादी दार्शनिकोंका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य अपना संस्कार छोड़ जाता है। उस संस्कारको नैयायिक[1] और वैशेषिक[2] धर्म या अधर्मके नामसे पुकारते हैं। योग[3] उसे कर्माशय कहते हैं, बौद्ध[4] उसे अनुशय आदि नामोंसे पुकारते हैं।

आशय यह है कि जन्म-जरा-मरणरूप संसारके चक्रमें पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वसे संलिप्त हैं। इस अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वके कारण वे संसारके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें असमर्थ हैं, अतः उनका जो कुछ भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें राग-द्वेषका अभिनिवेश लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्माके बन्धनका ही कारण होता है। जैसा कि विभिन्न दार्शनिकोंके निम्न मन्तव्योंसे स्पष्ट है—

बौद्ध ग्रन्थ **मिलिन्द प्रश्नमें** लिखा है—

"(मरनेके बाद) कौन जन्म ग्रहण करते हैं और कौन नहीं? जिनमें क्लेश (चित्तका मैल) लगा है वे जन्म ग्रहण

प्राप्ति नहीं होती। ये सब बातें किसी दृष्टकारणकी वजहसे नहीं होतीं, अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

१ "स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते।"

न्या० मञ्ज० (उत्तरभाग) पृ० ४४।

२ प्रशस्त० कन्दली०, पृ० २७२ वगैरह।

३ "क्लेशमूलः कर्माशयः···॥ २-१२ ॥" योगद०

४ "मूलं भवस्यानुशयः।" अभिधर्म०, ५-१।

करते हैं और जो क्लेश से रहित हो गये हैं वे जन्म नहीं ग्रहण करते।

भन्ते ! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं ?

महाराज यदि संसारकी ओर आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूँगा और यदि आसक्ति छूट जायगी तो नहीं करूँगा।" पृ० ३९

और भी—"अविद्याके होनेसे संस्कार, संस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नाम और रूप, नाम और रूपके होनेसे छः आयतन, छः आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जन्म और जन्मके होनेसे बुढापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख बेचैनी और परेशानी होती है। इस प्रकार इस दुःखोंके सिलसिलेका आरम्भ कहांसे हुआ इसका पता नहीं।" पृ० ६२।

योगदर्शनमें लिखा है—

"वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः" ॥ १-५ ॥

"क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः।" व्या०भा०।

"प्रतिपत्ताऽर्थमवसाय तत्र सक्तो द्विष्टो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तयः क्लिष्टा इति। तत्ववै०।

"तथा जातीयकाः=क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रं निरन्तरमावर्तते।" भास्वती।

अर्थात्—पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं, जो क्लिष्ट भी होती हैं और

अक्लिष्ट भी होती हैं। जिन वृत्तियोंका कारण क्लेश होता है और जो कर्माशयके सञ्चयके लिये आधारभूत होती हैं उन्हें क्लिष्ट कहते हैं। अर्थात् ज्ञाता अर्थको जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करनेसे कर्माशयका सञ्चय करता है। इस प्रकार धर्म और अधर्मको उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं। क्लिष्टजातीय अथवा अक्लिष्टजातीय संस्कार वृत्तियोंके ही द्वारा होते हैं और वृत्तियाँ संस्कार से होती हैं। इस प्रकार वृत्ति और संस्कारका चक्र सर्वदा चलता रहता है।

सांख्यकारिकामें लिखा है—

"सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥६७॥"
"संस्कारो नाम धर्माधर्मौ निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति।
......संस्कारवशात्–कर्मवशादित्यर्थः।" माठ० वृ०।

अर्थात् धर्म और अधर्मको संस्कार कहते हैं। उसीके निमित्तसे शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर धर्मादिक पुनर्जन्म करनेमें समर्थ नहीं रहते। फिर भी संस्कारकी वजहसे पुरुष संसारमें ठहरा रहता है। जैसे, कुलालके दण्डका सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कारके वशसे चाक घूमता रहता है। क्योंकि बिना फल दिये संस्कारका क्षय नहीं होता।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय वगैरहको धर्मके और हिंसा, असत्य, स्तेय वगैरहको अधर्मके साधन बतलाकर **प्रशस्तपादमें** लिखा है—

"अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिर्योगो भवति। तथा प्रकृष्टादधर्मात् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिर्योगो भवति। एवं प्रवृत्तिलक्षणाद्

धर्माद् अधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः संसारबन्धो भवति।" पृ० २८०-२८१।

अर्थात्—राग और द्वेषसे युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट धर्ममूलक कामोंके करनेसे ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृ-लोक और मनुष्यलोकमें अपने आशय=कर्माशयके अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिकको प्राप्त करता है। तथा कुछ धर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट अधर्ममूलक कामोंके करनेसे प्रेतयोनि तिर्यग्योनि वगैरह स्थानोंमें अनिष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और दुःखादिकको प्राप्त करता है। इस प्रकार अधर्मसहित प्रवृत्तिमूलक धर्मसे देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंमें (जन्म लेकर) बारम्बार संसारबन्धको करता है।

न्यायमञ्जरीकारने भी इसी मतको व्यक्त करते हुए लिखा है—

"यो ह्ययं देवमनुष्यतिर्यग्भूमिषु शरीरसर्गः, यश्च प्रतिविषयं बुद्धिसर्गः, यश्चात्मना सह मनसः संसर्गः, स सर्वः प्रवृत्तेरेव परिणामविभवः। प्रवृत्तेश्च सर्वस्याः क्रियात्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसंस्कारः कर्मफलोपभोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव × × न च जगति तथाविधं किमपि कार्यमस्ति वस्तु यन्न धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्तसम्भवम्।" पृ० ७०।

अर्थात्—देव, मनुष्य और तिर्यग्योनिमें जो शरीरकी उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तुको जाननेके लिये जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, और आत्माका मनके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सब प्रवृत्तिका ही परिणाम है। सभी प्रवृत्तियाँ क्रियारूप होनेके कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे होनेवाला आत्मसंस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्दसे कहा जाता है, कर्मफलके भोगने पर्यन्त स्थित रहता है। × × × संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्मसे व्याप्त न हो।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकोंके उक्त मन्तव्योंसे यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्तिका है और उस प्रवृत्तिके मूलमें राग और द्वेष रहते हैं। तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कारसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे संस्कारकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसीका नाम संसार है। किन्तु जैनदर्शनके मतानुसार कर्मका स्वरूप किसी अंशमें उक्त मतोंसे विभिन्न है।

३ जैनदर्शनानुसार कर्मका स्वरूप—जैनदर्शनके अनुसार कर्मके दो प्रकार होते हैं—एक द्रव्यकर्म और दूसरा भावकर्म। यद्यपि अन्य दर्शनोंमें भी इस प्रकारका विभाग पाया जाता है और भावकर्मकी तुलना अन्यदर्शनोंके संस्कारके साथ तथा द्रव्यकर्मकी तुलना योगदर्शनकी वृत्ति और न्यायदर्शनकी प्रवृत्तिके साथकी जा सकती है। तथापि जैनदर्शनके कर्म और अन्यदर्शनोंके कर्ममें बहुत अन्तर है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीवको क्रियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ उसी तरह घुल मिल जाता है, जैसे दूधमें पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है क्योंकि जीवके कर्म अर्थात् क्रियाकी वजहसे आकृष्ट होकर वह जीवसे बंध जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेषसे आविष्ट जीवकी प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते हैं, और उस कर्मके क्षणिक होनेपर भी तज्जन्य संस्कारको स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शनका मन्तव्य है कि रागद्वेषसे आविष्ट जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ एक प्रकारका द्रव्य आत्मामें आता है, जो उसके रागद्वेषरूप परिणामोंका निमित्त पाकर आत्मासे बंध जाता है। कालान्तरमें यही द्रव्य आत्माको

---

१ '**क्रिया नाम आत्मना प्राप्यत्वात् कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।' प्रवचनसार, अमृत० टी०, गा० २५, पृ० १६५।**

शुभ या अशुभ फल देता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैनदर्शन छ द्रव्य मानता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अपने चारों ओर जो कुछ हम चर्मचक्षुओंसे देखते हैं सब पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य २३ तरहकी वर्गणाओंमें विभक्त है। उन वर्गणाओंमेंसे एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसारमें व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही जीवोंके कर्मोका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—

"परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥९५॥" प्रवचनसार

अर्थात्—जब राग-द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादिरूपसे उसमें प्रवेश करता है।

इस प्रकार जैनसिद्धान्तके अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक। ऐसी दशामें उन दोनोंका बन्ध ही सम्भव नहीं है। क्योंकि मूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध तो हो सकता है, किन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी आशङ्का की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

---

१ "उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे॥ ८२॥ पञ्चास्ति०

अर्थात् इन्द्रियसे हम जो कुछ भोगते हैं वह सब तथा इन्द्रियाँ, शरीर, मन, द्रव्यकर्म और भी जो कुछ मूर्त पदार्थ हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिये।

२ इन वर्गणाओंका स्वरूप जाननेके लिये इसी पञ्चमकर्मग्रन्थकी गा० ७५-७६की टीका देखनी चाहिये।

अन्य दर्शनोंकी तरह जैनदर्शन भी जीव और कर्मके सम्बन्धके प्रवाह को अनादि मानता है। किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था, बादको उसके साथ कर्मोंका बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है। क्योंकि इस मान्यता में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। **पञ्चास्तिकायमें** जीव और कर्मके इस अनादि सम्बन्धको जीवपुद्‌लकर्मचक्रके नामसे अभिहित करते हुए लिखा है—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी॥ १२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥ १२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥१३०॥"

अर्थ—जो जीव संसारमें स्थित है अर्थात् जन्म और मरणके चक्रमें पड़ा हुआ है उसके राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर होता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करता है। विषयोंके ज्ञानसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके भावोंसे कर्म और कर्मसे भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि अनन्त है और भव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोंसे बँधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मोंसे बँधा है, तब उसके जो नये कर्म बँधते हैं, वे कर्म जीवमें स्थित मूर्तिक कर्मोंके साथ ही बँधते हैं; क्योंकि मूर्तिकका मूर्तिकके साथ संयोग होता है और मूर्तिकका मूर्तिकके साथ बन्ध होता है। अतः आत्मा-में स्थित पुरातन कर्मोंके साथ ही नये कर्म बन्धको प्राप्त होते रहते हैं। इस

प्रकार परम्परासे कथञ्चित् मूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक कर्मद्रव्यका सम्बन्ध जानना चाहिये।

सारांश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तज्जन्य संस्कारको कर्म कहते हैं, किन्तु जैनदर्शन जीवसे सम्बद्ध मूर्तिकद्रव्य और उसके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेषरूप भावोंको कर्म कहता है।

४ कर्मोंका कर्ता भोक्ता कौन—सांख्यके सिवाय प्रायः सभी वैदिकदर्शन किसी न किसी रूपसे आत्माको ही कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता कहते हैं। किन्तु सांख्य भोक्ता तो पुरुषको ही मानता है, किन्तु कर्ता प्रधानको कहता है। जैनदर्शनमें वस्तुका निरूपण दो दृष्टियोंसे किया जाता है, एक दृष्टि निश्चयनय कही जाती है और दूसरी व्यवहारनय।

जो परनिमित्तके विना वस्तुके असली स्वरूपका कथन करता है, उसे निश्चयनय कहते हैं और परनिमित्तकी अपेक्षासे जो वस्तुका कथन करता है उसे व्यवहारनय कहते हैं। जैनधर्ममें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका विचार भी इन्हीं दोनों नयोंसे किया गया है।

हम पहले बतला आये हैं कि जैनधर्ममें कर्म केवल जीवके द्वारा किये गये अच्छे बुरे कर्मोंका नाम नहीं है, किन्तु जीवके कामोंके निमित्तसे जो पुद्गलपरमाणु आकृष्ट होकर उस जीवसे बन्धको प्राप्त हो जाते हैं, वे पुद्गल-परमाणु कर्म कहे जाते हैं। तथा उन पुद्गलपरमाणुओंके फलोन्मुख होनेपर उनके निमित्तसे जीवमें जो काम-क्रोधादिक भाव होते हैं, वे भी कर्म कहे जाते हैं। पहले प्रकारके कर्मोंको द्रव्यकर्म और दूसरे प्रकारके कर्मोंको भावकर्म कहते हैं। जीवके साथ इनका अनादि सम्बन्ध है। इन कर्मोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्वके बारेमें जब हम निश्चयदृष्टिसे विचार करते हैं तो जीव न तो द्रव्यकर्मोंका कर्ता ही प्रमाणित होता है और न उनके फलका भोक्ता ही प्रमाणित होता है, क्योंकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं, पुद्गलद्रव्यके विकार हैं, अतः पर हैं। उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है? चेतनका

कर्म चैतन्यरूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतनरूप। यदि चेतनका कर्म भी अचेतनरूप होने लगे तो चेतन और अचेतनका भेद नष्ट होकर महान् संकर दोष उपस्थित होगा। अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्ता है, परभावका कर्ता नहीं है। या जैसे जल स्वभावतः शीतल होता है, किन्तु अग्निका सम्बन्ध होनेसे उष्ण हो जाता है। यहाँपर इस उष्णताका कर्ता जलको नहीं कहा जा सकता। उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जलमें अग्निके सम्बन्धसे आगई है, अतः आगन्तुक है, अग्निका सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर जो पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणत होते हैं, उनका कर्ता स्वयं पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता, जीव तो अपने भावोंका कर्ता है। जैसे सांख्यके मतमें पुरुषके संयोगसे प्रकृतिका कर्तृत्वगुण व्यक्त हो जाता है और वह सृष्टिप्रक्रियाको उत्पन्न करना शुरू कर देती है, तथापि पुरुष अकर्ता ही कहा जाता है, उसीतरह जीवके रागद्वेषादिक अशुद्ध भावोंका सहारा पाकर पुद्गलद्रव्य उसकी ओर स्वतः आकृष्ट होता है। उसमें जीवका कर्तृत्व ही क्या है? जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारसे कार्यवश जा रहा हो, और कोई सुन्दरी उसपर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुषका क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है। इसीतरह—

> **"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।**
> **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोऽवि परिणमदि ॥ ८६ ॥**
> **ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।**
> **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥ ८७ ॥**
> **एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएणभावेण।**
> **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥"**

समयप्राभृत

'जीव तो अपने रागद्वेषादिरूप भावोंको करता है, किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गलद्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादिरूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिककर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं, तथापि न तो जीव पुद्गलकर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गलकर्म जीवके गुणोंका कर्ता है। किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत समस्त भावों का कर्ता नहीं है।'

सांख्यके दृष्टान्तसे सम्भवतः पाठकोंको यह भ्रम हो सकता है कि जैन-धर्म भी सांख्यकी तरह जीवको सर्वथा अकर्ता और प्रकृतिकी तरह पुद्गलको ही कर्ता मानता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। सांख्यका पुरुष तो सर्वथा अकर्ता है, किन्तु जैनोंका आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, वह अपनी आत्मा के स्वाभाविकभाव ज्ञान, दर्शन, सुख वगैरह और वैभाविकभाव राग, द्वेष, काम मोहादिकका कर्ता है, किन्तु उनके निमित्तसे जो पुद्गलोंमें कर्मरूप परिणमन होता है, उसका वह कर्ता नहीं है। सारांश यह है कि वास्तवमें उपादान कारणको ही किसी वस्तुका कर्ता कहा जा सकता है, निमित्त कारण-में जो कर्ताका व्यवहार किया जाता है वह व्यावहारिक=लौकिक है, वास्त-विक नहीं है। वास्तविक कर्ता तो वही है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। इस दृष्टिसे घटका कर्ता मृत्तिका ही है, न कि कुम्भकार। कुम्भकारको जो लोकमें घटका कर्ता कहा जाता है, उसमें केवल इतना ही तात्पर्य है कि घटपर्यायमें निमित्त कुम्भकार है। वास्तवमें तो घट मृत्तिकाका ही एक भाव है, अतः उसका कर्ता भी वही है।

जो बात कर्तृत्वके बारेमें कही गई है, वही बात भोक्तृत्वके बारेमें भी जाननी चाहिये। जो जिसका कर्ता ही नहीं वह उसका भोक्ता कैसे हो

सकता है। अतः आत्मा जब पुद्‌गलकर्मोंका कर्ता ही नहीं, तो उनका भोक्ता भी नहीं हो सकता। वह अपने जिन राग-द्वेषरूप भावोंका कर्ता है, संसार दशामें उन्हींका भोक्ता है। जैसे व्यवहारमें कुम्भकारको घटका भोक्ता कहते हैं, क्योंकि घटको बेंचकर वह जो कुछ कमाता है, उससे अपने शरीर और कुटुम्बका भरण-पोषण करता है। किन्तु वास्तवमें तो कुम्भकार अपने भावों का ही भोक्ता है। उसीतरह आत्मा भी व्यवहारसे स्वकृतकर्मोंके फलस्वरूप मिलनेवाले सुख-दुःखादिका भोक्ता कहा जाता है, वास्तवमें तो वह अपने चैतन्यभावोंका ही भोक्ता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्वके बारेमें दृष्टि-भेदसे जैनधर्मकी द्विविध व्यवस्था है।

५ कर्म अपना फल कैसे देते हैं—ईश्वरको जगतका नियन्ता माननेवाले वैदिक[1] दर्शन जीवको कर्मकरनेमें स्वतंत्र किन्तु उसका फल भोगनेमें परतंत्र मानते है। जैसाकि **महाभारतमें** लिखा है—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

अर्थात्—यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःखका स्वामी नहीं है। ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरकमें जाता है।

भगवद्‌गीतामें भी लिखा है—

'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥' ७-२२॥

'मैं जिसका निश्चय करदेता हूँ वही इच्छित फल मनुष्यको मिलता है।'

इस प्रकार कर्मोंका फल ईश्वराधीन होनेपर भी फलका निर्णय प्राणियों के अच्छे बुरे कर्मके अनुरूप ही किया जाता है। जैसा कि **भगवद्‌गीतामें** लिखा है—

"नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।" ५-१५।

---

१ ब्र० सू० ३-२-३८।

अर्थात्—परमेश्वर न तो किसीके पापको लेता है और न पुण्यको, अर्थात् प्राणिमात्रको अपने कर्मानुसार सुख दुःख भोगने पड़ते हैं।

इस प्रकार जो सारी सृष्टिका संचालक परमेश्वरको मानते हैं, उनके मतसे कर्मफलका देनेवाला परमेश्वरसे भिन्न कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है ? किन्तु जैन दर्शन ईश्वरको सृष्टिका नियन्ता नहीं मानता अतः कर्म-फल देनेमें भी उसका हाथ होही कैसे सकता है ? ऐसी दशामें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि तब कर्मफल कौन देता है ? अचेतन कर्मोंमें स्वयं तो यह शक्ति हो नहीं सकती, कि वे अपना अच्छा या बुरा फल स्वयं दे सकें। उसके लिये तो कोई बुद्धिमान चेतन ही होना चाहिये।

जैन दर्शन कहता है कि कर्म अपना फल स्वयं देते हैं, उसके लिये किसी अन्य न्यायाधीशकी आवश्यकता नहीं है। जैसे, शराब नशा करती है और दूध पुष्टई करता है। जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है उसके शरीरमें पुष्टता आती है। शराब या दूध पीनेके बाद यह आवश्यकता नहीं होती, कि उसका फल देनेके लिये कोई दूसरा नियामक शक्तिमान हो। उसीतरह जीवके प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्दके साथ जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेषका निमित्त पाकर उससे बँध जाते हैं, उन कर्मपरमाणुओंमें भी शराब और दूधकी तरह अच्छाई या बुराई करनेकी शक्ति रहती है, जो चैतन्यके सम्बन्धसे व्यक्त होकर उसपर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभावसे मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीवके भाव अच्छे होते है तो बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तरमें उससे अच्छा ही फल मिलता है। तथा यदि बुरे भाव होते है तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तरमें उसका फल भी बुरा ही मिलता है। मानसिक भावोंका अचेतन वस्तुके ऊपर कैसे प्रभाव पड़ता है

और उस प्रभावकी वजहसे उस अचेतनका परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है, इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये हमें डाक्टरों और वैद्योंके भोजन सम्बन्धी नियमोंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वैद्यकशास्त्रके अनुसार भोजन करते समय मनमें किसी तरहका क्षोभ नहीं होना चाहिये भोजन करनेसे आधा घंटा पहलेसे लेकर भोजन करनेके आधा घंटा बाद तक मनमें कोई अशान्ति कारक विचार न आना चाहिये। ऐसी दशामें जो भोजन किया जाता है उसका परिपाक अच्छा होता है और वह विकार-कारक नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत यदि काम क्रोधादि भावोंकी दशामें भोजन किया जाये तो उसका परिपाक ठीक नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि कर्ताके भावोंका असर अचेतन पर पड़ता है और उसीके अनुसार उसका विपाक होता है। अतः जीवको कर्म करनेमें स्वतंत्र और फल भोगनेमें परतंत्र माननेकी आवश्यकता नहीं है।

यदि ईश्वरको फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका घात करता है वहाँ घातकको दोषका भागी नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वालेको मृत्युका दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषोंके द्वारा अपराधियोंको दण्ड दिलाता है वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते, क्योंकि वे राजाज्ञाका पालन करते हैं। उसी तरह किसीका घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगताता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मोंकी यही सजा नियतकी होगी, तभी तो उसका बध किया गया। यदि कहा जाये कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है अतः घातकका कार्य ईश्वरप्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतंत्र इच्छाका परिणाम है। तो कहना होगा कि संसार दशामें कोई भी प्राणी वस्तुतः स्वतंत्र नहीं है, सभी अपने अपने कर्मोंसे बंधे हुए हैं। जैसा कि महाभारतमें भी लिखा है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**' अर्थात् प्राणी कर्मसे बंधता है। और कर्मकी परम्परा अनादि है ऐसी परिस्थितिमें

'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' अर्थात् 'कर्मके अनुसार प्राणीकी बुद्धि होती है' न्यायके अनुसार किसी भी कामको करने या न करनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। शायद कहा जाये कि ऐसी दशामें तो कोई भी व्यक्ति मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा, क्योंकि जीव कर्मसे बंधा है और कर्मके अनुसार जीवकी बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको सन्मार्गकी ओर ले जाती है और बुरे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको कुमार्गकी ओर ले जाती है। सन्मार्गपर चलनेसे मुक्तिलाभ और कुमार्गपर चलनेसे बन्धलाभ होता है। अतः बुद्धिके कर्मानुसारिणी होनेसे मुक्तिलाभमें कोई बाधा नहीं आती। अस्तु,

जब उक्त प्रकारसे कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र नहीं हैं तो घातकका घातनरूप कर्म उसकी किसी दुर्बुद्धिका ही परिणाम होना चाहिये। और बुद्धिकी दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत् कर्मका फल होना चाहिये। किन्तु जब हम कर्मका फल ईश्वराधीन मानते हैं तो उसका उत्पादक ईश्वरको ही कहा जायेगा। यदि हम ईश्वरको फलदाता न मानकर जीवके कर्मोंमें ही स्वतः फलदानकी शक्ति मान लें, जैसाकि हम पहले बतला आये हैं तो उक्त समस्याएं आसानीसे हल हो जाती हैं क्योंकि मनुष्यके बुरे कर्म उसकी बुद्धिपर इस प्रकारके संस्कार डाल देते हैं जिससे वह क्रोधमें आकर हत्या तक कर बैठता है। किन्तु जब हम ईश्वरको फलदाता मानते हैं तो हमारी विचारशक्ति कहती है कि किसी विचारशील फलदाताको किसो व्यक्तिके खोटे कर्मका फल ऐसा देना चाहिये जो उसकी सजाके रूपमें हो, न कि दूसरोंको उसके द्वारा सजा दिलवानेके रूपमें हो। उक्त घटनामें ईश्वर घातकसे दूसरेका घात कराता है, क्योंकि उसे उसके जरिये दूसरेको सजा दिलवानी है। किन्तु घातकको जिस दुर्बुद्धिके कारण वह परका घात करता है उस

बुद्धिको दुष्ट करनेवाले कर्मोका क्या फल मिला ? इस फलके द्वारा तो दूसरेको सजा भोगनी पड़ी । अतः ईश्वरको कर्मफलदाता माननेमें इसी तरह अन्य भी कई एक अनुपपत्तियाँ खड़ी होती हैं। जिनमेंसे एक इस प्रकार है—किसी कर्मका फल हमें तुरन्त मिल जाता है, किसीका कुछ माह बाद मिलता है, किसीका कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसीका जन्मान्तरमें मिलता है। इसका क्या कारण है? कर्मफलके उपभोगमें यह समयकी विषमता क्यों देखी जाती है? ईश्वरेच्छाके सिवाय इसका कोई सन्तोषकारक समाधान ईश्वरवादियोंकी ओरसे नहीं मिलता। किन्तु कर्ममें ही फलदानकी शक्ति माननेवाला कर्मवादी जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नोंका बुद्धिगम्य उत्तर देता है जैसाकि हम आगे बतलायेंगे। अतः ईश्वरको फलदाता मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

६ **कर्मके भेद**-कर्मके भेद शास्त्रकारोंने दो दृष्टियोंसे किये हैं—एक विपाककी दृष्टिसे और दूसरे विपाककालकी दृष्टिसे। कर्मका फल किस किस रूप होता है और कब होता है प्रायः इन्हीं दोनों बातोंको लेकर भेद किये गये हैं। कर्मके भेदोंका साधारणतया उल्लेख तो प्रायः सभी दर्शनकारोंने किया है किन्तु जैनेतर दर्शनोंमेंसे योगदर्शन और बौद्ध-दर्शनमें ही कर्माशय और उसके विपाकका कुछ विस्तृत वर्णन मिलता है और विपाक तथा विपाककालकी दृष्टिसे कुछ भेद भी गिनाये हैं। परन्तु जैनदर्शनमें उसके भेद-प्रभेदों और विविध दशाओंका बहुत ही विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग वर्णन पाया जाता है। तथा, जैनदर्शनमें कर्मोंके भेद तो विपाककी दृष्टिसे ही गिनाये हैं किन्तु विपाकके होने, न होने, अमुक समयमें होने वगैरहकी दृष्टिसे जो भेद हो सकते हैं उन्हें कर्मोंकी विविध दशाके नामसे चित्रित किया है। अर्थात् कर्मके अमुक अमुक भेद हैं और उनकी अमुक अमुक अवस्थाएँ होती हैं। अन्य दर्शनोंमें इस तरहका श्रेणिविभाग नहीं पाया जाता, जैसा कि नीचेके वर्णनसे स्पष्ट है।

कर्मके दो भेद तो सभी जानते और मानते हैं—एक अच्छा कर्म और दूसरा बुरा कर्म। इन्हें ही विभिन्न शास्त्रकारोंने शुभ अशुभ, पुण्य पाप, कुशल अकुशल, शुक्ल कृष्ण आदि नामोंसे कहा है। इसके सिवाय भी विभिन्न दर्शनकारोंने विभिन्न दृष्टियोंसे कर्मके विभिन्न भेद किये हैं। गीतामें[1] सात्विक, राजस और तामस भेद पाये जाते हैं। जो उक्त भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। साधारणतया फलदानकी दृष्टिसे कर्मके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं, किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्ममें किया गया हो या पूर्व जन्ममें, वह सब संचित कहा जाता है। इसी संचितका दूसरा नाम अदृष्ट और मीमांसकोंकी परिभाषामें अपूर्व भी है। इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिए वह दृश्य रहती है। उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती, किन्तु उसके सूक्ष्म अत एव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं। उन सब संचित कर्मोंको एक दम भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामोंमेंसे कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकारके फल देने वाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई संचित कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रद भी होते हैं। इस लिये इन दोनों कर्मोंको एकदम भोगना असम्भव है। अत एव संचितमें से जितने कर्मोंके फलोंको भोगना पहले शुरू होता है उतने ही को प्रारब्ध कहते हैं। लोकमान्य तिलकने अपने **गीता[2] रहस्यमें** क्रियमाण भेद को ठीक नहीं माना है। वे लिखते हैं— **"क्रियमाण......का अर्थ है–जो कर्म अभी हो रहा है अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है। परन्तु वर्तमान समयमें हम जो कुछ करते हैं यह प्रारब्ध कर्म का ही परिणाम है। अत**

---

१ अध्याय १८। २ पृ० २७२।

एव क्रियमाण को कर्म का तीसरा भेद माननेके लिये हमे कोई कारण नहीं देख पड़ता।"

वेदान्त सूत्र में (४–१–१५) कर्मके प्रारब्ध कार्य और अनारब्धकार्य ये दो भेद किये हैं। तिलकजी इन्हें ही उचित समझते हैं।

योगदर्शन में कर्माशयके दो भेद किये हैं एक दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्ट जन्मवेदनीय। जिस जन्ममें कर्म का संचय किया गया है उसी जन्ममें यदि वह फल देता है तो उसे दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं, और यदि दूसरे जन्ममें फल देता है तो उसे अदृष्ट जन्मवेदनीय कहते हैं। दोनोंमेंसे प्रत्येकके दो भेद और भी हैं—एक नियतविपाक और दूसरा अनियत विपाक। बौद्ध[2] दर्शनमें कर्मके भेद कई प्रकारसे गिनाये हैं। यथा—सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय और न दुःख सुखवेदनीय, तथा कुशल, अकुशल और अव्याकृत। दोनों का आशय एक ही है–जो सुख का अनुभव करावे, जो दुःख का अनुभव करावे और जो न दुःख का और न सुख का अनुभव करावे। प्रथम तीन भेदोंके भी दो भेद हैं—एक नियत और दूसरा अनियत। नियतके तीन भेद हैं–दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय और अपरपर्याय वेदनीय। अनियतके दो भेद हैं–विपाककाल अनियत और अनियत विपाक। दृष्ट धर्मवेदनीयके दो भेद हैं—सहसावेदनीय और असहसावेदनीय। शेष भेदोंके भी चार भेद हैं–विपाककालनियत विपाकानियत, विपाकनियत विपाककाल अनियत, नियतविपाक नियतवेदनीय और अनियतविपाक अनियतवेदनीय।

हम पहले बतला आये हैं कि जैन दर्शनमें कर्मसे आशय जीवकी क्रियाके साथ जीवकी ओर आकृष्ट होने वाले कर्मपरमाणुओंसे है। वे कर्मपरमाणु जीवकी प्रत्येक क्रियाके समय जिसे जैनदर्शनमें योगके नामसे कहा जाता है, आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्माके राग, द्वेष,

---

१, २–१२। २ अभिधर्म० (कर्मनिर्देश)

मोह आदि भावों का, जिन्हें जैन दर्शनमें कषाय कहते हैं, निमित्त पाकर आत्मासे बंध जाते हैं। इस तरह कर्मपरमाणुओं को आत्मा तक लाने का काम योग अर्थात् जीव की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया करती है और उसके साथ बन्ध करानेका काम कषाय अर्थात आत्माके राग-द्वेष रूप भाव करते हैं। सारांश यह है कि आत्मा की योगशक्ति और कषाय, ये दोनों ही बन्धके कारण हैं। यदि आत्मासे कषाय नष्ट हो जाये तो योगके रहने तक कर्म परमाणुओं का आस्रव—आगमन तो अवश्य होगा किन्तु कषायके न होनेके कारण वे वहाँ ठहर नहीं सकेंगे। दृष्टान्तके तौर पर, योग को वायु की, कषायको गोंद की, आत्मा को एक दीवार की और कर्मपरमाणु-को धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवार पर गोंद वगैरह लगी हो तो वायुके साथ उड़ने वाली धूल दीवार पर आकर चिपक जाती है। यदि दीवार साफ चिकनी और सुखी हो तो वायुके साथ उड़कर आनेवाली धूल दीवार पर न चिपक कर तुरन्त झड़ जाती है। यहाँ धूल का कम या अधिक परिमाणमें उड़ना वायुके वेग पर निर्भर करता है। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी खूब उड़ती है और वायु धीमी होती है तो धूल कम उड़ती है। तथा दीवार पर धूल का कम या अधिक दिनों तक चिपके रहना उस पर लगी गोंद आदि गीली वस्तुओं की चिपकाहट की कमो-वेशी पर निर्भर करता है। यदि दीवार पर पानी पड़ा हो तो उस पर लगी हुई धूल जल्दी झड़ जाती है, यदि किसी पेड़ का दूध लगा हो तो कुछ देरमें झड़ती है और यदि कोई गोंद लगी हो तो बहुत दिनोमें झड़ती है। यही बात योग और कषायके बारेमें भी जाननी चाहिये। योग शक्ति जिस दर्जे की होती हैं आकृष्ट होने वाले कर्मपरमाणुओं का परिमाण भी उसीके अनुसार कमती बढ़ती हुआ करता है। यदि योग शक्ति उत्कृष्ट होती है तो कर्मपरमाणु भी अधिक संख्यामें आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। यदि योगशक्ति जघन्य या मध्यम दर्जे की होती है तो कर्मपरमाणु भी कम या

कुछ अधिक परिमाणमें आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। इसी तरह कषाय यदि तीव्र होती है तो कर्मपरमाणु आत्माके साथ अधिक दिनों तक बंधे रहते हैं और फल भी तीव्र देते हैं। तथा यदि कषाय हल्की होती है तो कर्मपरमाणु कम समय तक आत्मासे बंधे रहते हैं और फल भी कम देते हैं। यह एक साधारण नियम है। इसमें कुछ अपवाद भी हैं। अस्तु,

इस प्रकार योग और कषायसे आत्माके साथ कर्मपरमाणुओंका बन्ध होता है। वह बन्ध चार प्रकारका होता है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। स्वभावको प्रकृति कहते हैं। बँधनेवाले कर्म-परमाणुओंकी संख्याको प्रदेश कहते हैं। तथा कालकी मर्यादाको स्थिति और फलदान शक्तिको अनुभाग कहते हैं। आत्माकी ओर आकृष्ट होनेवाले कर्मोंमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्याका हीन वा अधिक होना, ये दो काम योगपर निर्भर हैं। तथा उन्हीं कर्मपरमाणुओंका आत्मा के साथ कम या अधिक कालतक ठहरे रहना और तीव्र या मन्द फल देने की शक्तिका पड़ना, ये दो काम कषाय करती है। इसतरह प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। इन बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेद-नीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण आत्माके ज्ञान-गुणका घातन करता है। इसीकी वजहसे कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेषज्ञानी देखे जाते हैं। दर्शनावरण आत्माके दर्शनगुणको घातता है। आवरण यानी ढाँकनेवाली वस्तु, अर्थात् वह चीज जो ज्ञान या दर्शनको ढँकती है, उन्हें प्रकट नहीं होने देती। वेदनीय, जो सुख या दुःखका वेदन-अनुभवन कराता है। मोहनीय, जा आत्माको मोहित करता है, उसे सच्चे मार्गका भान नहीं होने देता, तथा सच्चे मार्गका भान हो जानेपर भी उसपर चलने नहीं देता। आयु, जो अमुक समयतक जीवको किसी एक शरीरमें रोके रहता है। इसके छिद जानेपर ही जीवकी मृत्यु कही जाती है। नाम, जिसकी वजहसे अच्छे

या बुरे शरीर, अङ्ग-उपाङ्ग वगैरहकी रचना होती है। गोत्र, जिसकी वजहसे जीव ऊँचे कुलका या नीच कुलका कहा जाता है। अन्तराय, जिसकी वजहसे इच्छितवस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न पड़ता है। इन आठ भेदोंमेंसे, जिन्हें आठ कर्म कहते हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म कहे जाते हैं; क्योंकि ये चारों आत्माके गुणोंका घात करते हैं। शेष चार कर्म अघाती कहे जाते हैं, क्योंकि वे आत्माके गुणोंका घात नहीं करते। इन आठ कर्मोंमेंसे भी ज्ञानावरणके पाँच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके तिरानवे, गोत्रके दो और अन्तरायके पाँच भेद[1] हैं। घातीकर्मोंमें भी दो विभाग हैं—देशघाती और सर्वघाती। जो कर्म आत्मगुणके एक देशका घात करता है वह देशघाती है और जो उसका पूरी तरहसे घात करता है, वह सर्वघाती है। चार कर्मोंके ४७ भेदोंमेंसे २६ देशघाती हैं और २१ सर्वघाती हैं। घातिकर्म तो पापकर्म ही कहे जाते हैं, किन्तु अघातिकर्मके भेदोंमेंसे कुछ पुण्यकर्म हैं और कुछ पापकर्म, जो कि अनुवादमें[2] गिनाये है। जैसे, मनुष्यके द्वारा खाया हुआ भोजन पाकस्थलीमें जाकर रस, मज्जा, रुधिर आदि रूप परिणत हो जाता है, उसीतरह आत्माके द्वारा ग्रहण किये गये परमाणु भी ज्ञानावरणादि रूप परिणत हो जाते हैं, और उनका बँटवारा बँधनेवाले सब कर्मोंमें होता जाता है। जीव किस प्रकारके योगके द्वारा कैसे कर्मोंको कब बाँधता है और उनका बंटवारा कैसे होता है,? तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका क्या नियम है, इत्यादि बातें इस **पञ्चम कर्मग्रन्थ**के अन्दर बताई हैं, अतः उनके पिष्टपेषणकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

जैनदर्शनमें वर्णित कर्मके इन भेदोंकी तुलनाके योग्य कोई भेद इतर-

---

१ इन सभी भेदोंका स्वरूप जाननेके लिये इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित **प्रथमकर्मग्रन्थको** देखना चाहिये। २ देखो गाथा १५-१७।

दर्शनोंमें वर्णित पूर्वोक्त भेदोंमें नहीं पाया जाता। योगदर्शनमें कर्मका विपाक तीन रूपसे बतलाया है–जन्मके रूपमें, आयुके रूपमें और योगके रूपमें। किन्तु अमुक कर्माशय आयुके रूपमें अपना फल देता है, अमुक कर्माशय जन्मके रूपमें अपना फल देता है और अमुक कर्माशय भोगके रूपमें अपना फल देता है, यह बात वहाँ नहीं बतलाई है। यदि यह भी वहाँ बतलाया गया होता तो योगदर्शनके आयुविपाकवाले कर्माशयकी जैनदर्शनके आयुकर्मसे और जन्मविपाकवाले कर्माशयकी नामकर्मसे तुलना की जा सकती थी। किन्तु वहाँ तो सभी कर्माशय मिलकर तीन रूप फल देते हैं। जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय होता है वह केवल दो ही रूप फल देता है, जन्मान्तरमें न जानेसे उसका विपाक जन्मरूपसे नहीं होता। हम पहले ही लिख आये हैं कि इस ढंगका श्रेणिविभाग इतर दर्शनोंमें नहीं पाया जाता। इतर दर्शनोंमें वर्णित कर्मके जो भेद पहले गिनाये हैं, जैनदृष्टिसे वे कर्मोंकी विविध दशाएँ हैं, जैसा कि आगेके वर्णनसे स्पष्ट है।

कर्मोंकी विविध दशाएँ—जैन सिद्धान्तमें कर्मोंकी दस मुख्य अवस्थाएँ अथवा कर्मोंमें होनेवाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई हैं, जिन्हें करण कहते हैं। उनके नाम—बन्ध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना हैं। कर्मपरमाणुओंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेको बन्ध कहते हैं। यह सबसे पहली अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था हो ही नहीं सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। अर्थात् जब कर्मपरमाणु आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं तो उनमें आत्माके योग और कषाय रूप भावोंसे चार बातें होती हैं। प्रथम तुरन्त ही उनमें ज्ञानादिकको घातने वगैरहका स्वभाव पड़ जाता है, दूसरे उनकी स्थिति भी बँध जाती है कि ये अमुक समयतक आत्माके साथ बंधे रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मन्द फल

---

१ "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २-१३ ॥" योगद०

देनेकी शक्ति पड़ जाती है। चौथे वे नियत परिमाणमें आत्मासे सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसा कि पहले स्पष्टरूपसे बतलाया है। दूसरी अवस्था या क्रिया उद्वर्तना है। स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उद्वर्तना कहते हैं। तीसरी अवस्था अपवर्तना उससे ठीक उल्टी है। अर्थात् स्थिति और अनुभाग का घटना अपवर्तना कहा जाता है। बन्धके बाद ये दोनों क्रियाएं होती हैं। किसी अशुभ कर्मका बन्ध करनेके बाद यदि जीव अच्छे काम करता है तो उसके पहले बाँधे हुए बुरे कर्मकी स्थिति और फलदानशक्ति घट सकती है। जैसे, राजा श्रेणिकने मुनिके गलेमें मरा हुआ साँप डाला तो उस समय इस बुरे कामके निमित्तसे उसने सातवें नरककी आयुका बन्ध किया था। किंतु बादको जब उसे अपने उक्त कामपर पश्चात्ताप हुआ और उसने भगवान महावीरके समवशरणमें क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त किया तो शुभ परिणामोंके प्रभावसे उसकी बाँधी हुई आयु घटकर पहले नरककी ही रह गई थी। यह सब अपवर्तनाकरणका ही कार्य है। इसीतरह अशुभकर्मकी जघन्य स्थिति बाँधकर यदि कोई और भी बुरे काम करने लगे तथा उसके परिणाम पहलेसे भी अधिक कलुषित हो जायें तो बाँधे हुए कर्मकी स्थिति और फल-दानशक्ति बुरे भावोंका असर पाकर बढ़ सकती है। इस उद्वर्तना और अपवर्तनाके कारण कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देरमें। किसीका तीव्र फल होता है और किसीका मन्द।

बंधनेके बाद कर्म तुरन्त ही अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है, इसका कारण यह है कि बंधनेके बाद कर्म अस्तित्व रूपमें रहता है। जैसे शराब पीते ही अपना असर नहीं करती किन्तु कुछ देर बाद अपना असर करती है। उसीतरह कर्म भी बंधनेके बाद कुछ समयतक सत्तारूपमें रहता है। इस कालको जैन परिभाषामें अबाधाकाल कहते हैं और यह कर्मकी स्थितिपर निर्भर है। एक कोटी-कोटी सागरकी स्थितिमें एक सौ वर्ष प्रमाण अबाधाकाल होता है। अर्थात् यदि किसी कर्मकी

स्थिति एक कोटी-कोटी सागर बाँधी हो तो वह कर्म सौ वर्षके बाद अपना फल देना प्रारम्भ करता है। और तबतक फल देता रहता है, जबतक उसकी स्थिति पूरी न हो। आयुकर्मकी अबाधाके नियममें कुछ अपवाद हैं, जिनका विवेचन इसी ग्रन्थके अनुवादमें किया है। इसप्रकार बँधनेके बाद कर्मके फल न देकर मौजूद रहने मात्रको सत्ता कहते हैं। और कर्मके फल देनेको उदय कहते हैं। यह उदय दो तरहका होता है—एक फलोदय दूसरा प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय या विपाकोदय कहा जाता है, किन्तु जब कर्म उदयमें आकर भी बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं। फलोदय की उपमा सधवा युवतीसे और प्रदेशोदयकी उपमा विधवा युवतीसे दी जा सकती है।

बौद्ध-दर्शनमें कर्मके भेद बतलाते हुए कुछ ऐसे कर्म बतलाये हैं, जिनका विपाककाल नियत है और कुछ ऐसे कर्म बतलाये हैं, जिनका विपाककाल नियत नहीं है। जैन-दर्शनमें भी नियतकालमें कर्मके फल देने को उदय कहा जाता है और नियतकालसे पहले अर्थात् अनियतकालमें कर्म-के फल देनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे, आमके मौसिममें आम बेंचनेवाले आमोंको जल्दी पकानेके लिए पेड़से तोड़कर भूसे वगैरहमें दबा देते हैं, जिससे वे आम वृक्षकी अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। इसीतरह कर्मका भी कभी कभी नियत समयसे पहले विपाक हो जाता है। यही विपाक उदीरणा कहा जाता है। इस उदीरणाके लिए पहले अपवर्तनाकरणके द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। स्थिति घट जानेपर कर्म नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जब कोई आदमी पूरी आयु भोगे बिना असमयमें ही मर जाता है तो उसकी लोकमें अकालमृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयुकर्मकी उदीरणाका हो जाना ही है। अपवर्तना हुए बिना उदीरणा नहीं हो सकती।

एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको संक्रमणकरण कहते हैं। यह संक्रमण कर्मके मूल भेदोंमें नहीं होता है। अर्थात् पहले गिनाये हुए कर्मोंके आठ भेदोंमेंसे एक कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप नहीं हो सकता और न दर्शनावरण ज्ञानावरणरूप हो सकता है। यही बात अन्य कर्मोंके बारेमें भी जाननी चाहिये। किन्तु एक कर्मके अवान्तर भेदोंमेंसे एक भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे वेदनीयकर्मके दो भेद—सातवेदनीय और असातवेदनीयका परस्परमें संक्रमण हो सकता है। सातवेदनीय असातवेदनीयरूप हो सकता है और असातवेदनीय सातवेदनीय हो सकता है। यद्यपि संक्रमण सजातीय प्रकृतियोंमें ही होता है, किन्तु आयुकर्म इसका अपवाद है। चार आयुकर्मोंमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता। नरककी आयु बाँध लेनेपर जीव को नरकमें ही जाना होता है, वह किसी अन्य गतिमें नहीं जा सकता।

कर्म को उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना, इन चारों ही क्रियाओंके अयोग्य कर देने को उपशमन अवस्था कहते हैं। कर्म को उद्वर्तन और अपवर्तनके सिवाय शेष करणोंके अयोग्य करदेने को निधत्ति कहते है और समस्त करणोंके अयोग्य कर देने को निकाचना कहते हैं।[1]

इतर दर्शनोंमेंसे केवल **योगदर्शन** (व्यास भाष्य) में ही हमें कर्मों की कुछ अवस्थाओं का वर्णन मिला है। भाष्यकारने[2] अदृष्ट जन्म-

---

१ दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार इन तीनों करणोंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

"उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं।
उवसंतं च णिधत्ति णिकाचिदं होदि जं कम्मं ॥४४०॥" कर्मकाण्ड

अर्थात् कर्मका उदयमें आनेके अयोग्य होना उपशम है। उसमें संक्रमण और उदयका न हो सकना निधत्ति है। और उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण और उदय, चारों का ही न हो सकना निकाचित है।

२ "यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः-कृत-

वेदनीय अनियतविपाक कर्म की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—१ किये हुए कर्मका बिना विपाक हुए ही नष्ट हो जाना, २ प्रधान कर्ममें आवापगमन ३ और नियत विपाक वाले प्रधान कर्मके द्वारा अभिभूत होकर बहुत काल तक बने रहना। साधारण तौरसे इनमेंसे दूसरी अवस्थाको सङ्क्रमणकरण और तीसरीको निधत्ति वगैरह कहा जा सकता है। **योगदर्शनमें** ही कर्माशयके मूल कारण क्लेशों को भी चार अवस्थाएं बतलाई हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। जैन सिद्धान्तके अनुसार ये क्लेश भावकर्मसे पृथक् वस्तु नहीं हैं अतः ये चारो अवस्थाएँ भी प्रकारान्तरसे कर्म की ही अवस्थाएँ समझनी चाहिये[1]। जिनमेंसे कर्मका बंध होनेके बाद जब तक उसका उदय नहीं होता तब तक की अवस्था को प्रसुप्त कहा जा सकता है। कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम उसकी तनुत्व अवस्था है। अपनी किसी विरोधी प्रकृतिके उदय वगैरहके कारण किसी कर्म प्रकृतिके उदयका रुकजाना विच्छिन्न अवस्था है। उदय उदार अवस्था है। कर्ममें होने वाली ये दस अवस्थाएँ मुख्य हैं। इनमेंसे बन्ध, उदय और सत्ताके ध्रुव अध्रुव और सान्तर निरन्तर वगैरह भेदकी अपेक्षासे अन्य भेद भी होते हैं जो इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वर्णित हैं।

कर्म की इन विविध दशाओंके सिवाय जैनदर्शनमें कर्मका स्वामी, कर्मकी स्थिति, कब कौन प्रकृति बंधती है, किसका उदय होता है, किसकी सत्ता रहती है, किसका क्षय होता है? आदि कर्मविषयक चर्चाके प्रत्येक आवश्यक अङ्गका वर्णन किया है। अन्य दर्शनोंमें यह कोई स्वतंत्र विषय नहीं समझा गया और इस लिये उसकी चर्चाके लिये स्वतंत्र ग्रन्थनिर्माण

स्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य चिरमवस्थानम्।" पृ० १७१।

१ "अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।" २, ४।

की ओर किसीका ध्यान नहीं गया। किन्तु जैनदर्शनमें इसका प्रमुख स्थान होनेके कारण कर्मविषयक साहित्य अपना स्वतंत्र स्थान रखता है और उसका जैन साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

२ कर्मविषयक साहित्य

भगवान महावीरके दिव्य उपदेशके संग्रहके रूपमें गणधरदेवके द्वारा जो द्वादशांग साहित्य संग्रहीत हुआ था, उसमें एक उप विभाग **कर्मप्रवाद** नामसे था। उसमें जैसा कि उसके नामसे ही प्रकट होता है, कर्मविषयक वर्णन था। इसके सिवाय द्वितीय पूर्वके एक विभाग का नाम **कर्मप्राभृत** था और पञ्चम पूर्वके एक विभागका नाम **कषायप्राभृत** था। उनमें भी कर्मविषयक वर्णन था। किन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायमें आज वह साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके आधार पर जो कर्मविषयक साहित्य रचा गया है, वह आज भी उपलब्ध है और प्रकाशमें आ चुका है। दोनों ही सम्प्रदायोंके उस विपुल साहित्यको देख-कर सहजमें ही इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि कर्मवादका जैनदर्शनमें क्या स्थान है और कर्मविषयक साहित्य उसकी कितनी विपुल सम्पत्ति है।[1]

१ जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका स्थान—इससे पाठक जैनसाहित्य-में कर्मसाहित्यके स्थानकी महत्ताका अनुमान सरलतासे कर सकते हैं। यदि जैन साहित्यसे कर्मविषयक साहित्यको पृथक् कर दिया जाये तो उसकी बिपुलताको तो गहरी क्षति पहुंचेगी ही, साथ ही साथ उसका महत्त्व भी हीन हुए बिना न रहेगा। दूसरे शब्दोंमें जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका वही स्थान है जो संस्कृत साहित्यमें व्याकरणका है। जैसे व्याकरण और

---

१ इसी मण्डलसे प्रकाशित प्रथम कर्मग्रन्थके परिशिष्टमें दोनों सम्प्रदायोंके कर्मविषयक साहित्यकी तालिका दी गई है।

उसका साहित्य संस्कृतसाहित्यको अनुप्राणित करता है उसी तरह कर्मसाहित्य जैन साहित्यको अनुप्राणित करता है। जैन सिद्धान्तकी चर्चाओंका वह स्रोत है। अनेक प्रश्नोंका समाधान उसीके बलाबलपर निर्भर है। कर्मसाहित्यका ज्ञाता हुए बिना कोई जैन सिद्धान्तका मर्मज्ञ नहीं हो सकता, उसकी अनेक गुत्थियोंको सरलतासे नहीं सुलझा सकता।

२ **कर्मसाहित्यका उत्कर्षकाल**—उसके इस महत्त्वके ही कारण मध्ययुगके आचार्योंका ध्यान उस ओर विशेष आकर्षित हुआ था। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ४ थी ५ वीं शताब्दीके लगभग **कर्मप्रकृति** और **पञ्चसंग्रह** वगैरहकी रचना हुई। बादको उन्हींके ऊपर अनेक टीकाएं वगैरह लिखी गईं और उनके आधार पर **कर्मग्रन्थों** का निर्माण हुआ। बादका साहित्य १० वीं शताब्दीके बाद रचा गया है। दिगम्बर सम्प्रदायमें पहली शताब्दीके लगभग **षट्खंडागम** तथा **कषायप्राभृत** शास्त्रकी रचना हुई। उनपर अनेक आचार्योंने टीकाएं बनाईं। उपलब्ध **धवला, जयधवला** और **महाधवला** नामकी टीकाएं आठवीं नवीं शताब्दीमें लिखी गईं और उनके बाद दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीमें उनके आधारपर **गोमट्टसारकी** रचना हुई। इसतरह कर्मविषयक साहित्य विक्रमकी दसवीं शताब्दीके बाद खूब समृद्ध हुआ।

३ **कार्मिक और सैद्धान्तिक**—कर्मविषयक साहित्यका अभ्युदय यद्यपि दसवीं शताब्दीके बादमें हुआ, किन्तु कार्मिकोंका-कर्मशास्त्रके अभ्यासियोंका स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थान जैन वाङ्मयमें पहलेसे ही था। यह बात कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंके पारस्परिक मतभेदोंसे प्रकाशमें आती है। जैन सिद्धांतकी अनेक बातोंके सम्बन्धमें कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंमें मतभेद है जो कि टिप्पणमें दिये गये कुछ मतभेदोंसे स्पष्ट है। यह मतभेद श्वेतांबर साहित्यमें ही पाया जाता है, दिगम्बर साहित्यसे इस बातका पता नहीं चलता कि वहाँ सैद्धान्तिकों से कार्मिकोंकी कोई स्वतंत्र सत्ता थी और उनमें जैनसिद्धान्तको

बातोंके बारेमें मतभेद था। हां, कार्मिकोंमें ही कर्मशास्त्र की किन्ही मान्यताओंके बारेमें मतभेद होने का उल्लेख **गोमट्टसार कर्मकाण्डमें** कई स्थलों पर किया गया है। इस तरह का मतभेद श्वेताम्बर कार्मिकोंमें भी पाया जाता है। उदाहरणके लिये—कर्मप्रकृतिकार और पञ्चसंग्रहकारका कई बातोंमें मतभेद है, जो इस अनुवादमें यथास्थान बतलाया गया है। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र और उसके पाठकोंका जैनवाङ्मयमें प्रारम्भसे ही विशिष्ट स्थान रहा है और बहुत सी बातोंके बारेमें वे अपना स्वतंत्र और विशिष्ट स्थान रखते थे। आज भी श्वेताम्बर सम्प्रदायमें **कर्मप्रकृति और पञ्चसंग्रहके** पठन पाठनकी तथा दिगम्बर सम्प्रदायमें **गोमट्टसारके** पठन पाठनकी बड़ी महत्ता है।

४ इस महत्ताका कारण—जहाँतक हमने सोचा है इस महत्ताका पहला कारण तो यह है कि कर्मवाद जैन सिद्धान्तका एक प्रमुख अंग है और अध्यात्मवादके साथ, जो कि जैनसिद्धान्तका खास लक्ष्य है, उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरा कारण यह है कि उसके चिन्तन और मननको विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान बतलाया है। ध्यानके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और प्रारम्भिक दशामें मनको एकाग्र करना बड़ा दुष्कर कार्य है। किन्तु कर्मशास्त्रके गहन बनमें घुसनेके बाद चित्तवृत्ति स्वयं एकाग्र हो जाती है। प्रारम्भमें तो बड़ा बीहड़सा मालूम होता है, किन्तु उसका अभ्यास हो जानेके बाद उसके चिन्तनमें रस आने लगता है, और तब अध्येता उसके गोरखधन्धेमें तन्मय होकर अध्येतासे ध्याता बन जाता है। इन दोनों कारणोंसे ही कर्मविषयक साहित्यके पठन-पाठनको खूब महत्त्व तथा प्रोत्साहन मिला प्रतीत होता है।

५ प्रोत्साहनका एक अन्य कारण—कर्मशास्त्रोंके पठन-पाठनको प्रोत्साहन मिलनेका एक अन्य कारण भी है और वह है कर्मग्रन्थोंकी रचनाका हो जाना। कर्मग्रन्थोंके आधारभूत **कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह** वगैरह ग्रन्थ

बड़े विशाल और गहन हैं। उनमें साधारण बुद्धिका प्रथम तो प्रवेश ही कठिन है, प्रवेश हो जानेपर भी उसमेंसे कुछ मतलबकी बात निकाल लेना और भी कठिन है। अतः यदि प्रत्येक विषयको लेकर जुदे जुदे कर्मग्रन्थों की रचना न की जाती तो कर्मविषयक साहित्यके पठन पाठनको प्रोत्साहन नहीं मिलता। श्वेताम्बरसाहित्यमें ६ कर्मग्रन्थ प्राचीन हैं। उनमें यद्यपि कर्मसाहित्यके एक एक विषय की चर्चा है, तथापि न तो वे एक आचार्यके बनाये हुए हैं और न एक समयमें ही उनकी रचना हुई है। उनके निर्माता भी भिन्न भिन्न हैं और उनका रचनाकाल भी भिन्न है। उनके साथ लगे प्राचीन विशेषणसे यह भी स्पष्ट है कि वे पुराने हैं किन्तु पुराने होनेपर भी पुरानोंके साथमें प्राचीन विशेषण लगानेकी पद्धति नहीं देखी जाती। अतः यह प्राचीन विशेषण केवल उनका पुरानापन बतलानेके लिये ही नहीं लगाया गया, किन्तु बादके बने नवीन कर्म ग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व बतलानेके लिये लगाया गया है। आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिने उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थोंका अनुसरण करते हुए पाँच कर्मग्रन्थ बनाये थे। कर्मग्रन्थ एक तो परिमाणमें प्राचीन कर्मग्रन्थोंसे छोटे थे दूसरे उनका कोई विषय इनमें छूटने नहीं पाया, तीसरे इनमें अन्य अनेक नये विषयोंका भी संग्रह किया गया। सारांश यह है कि प्राचीन कर्मग्रन्थोंके संकलनमें जो त्रुटियाँ रह गई थीं उन्हें देवेन्द्रसूरिने पूरी कर दिया। भला भिन्न भिन्न आचार्योंकी रचनाओंमें वह क्रमबद्धता और एक दृष्टि कैसे रह सकती है जो एक ही आचार्यकी सङ्कलित की गई रचनाओंमे पाई जा सकती है। फलतः जनताने उन्हें खूब अपनाया और मुनि श्री चतुर विजयजीके शब्दोंमें[1] **"थोड़ा एक गण्या गांठ्या विद्वानों सिवाय भाग्ये ज कोई जाणतुं हशे-आचार्य श्री देवेन्द्र सूरिना कर्मग्रन्थों सिवाय बीजा प्राचीन कर्मग्रन्थों पण छे जेने आधारे आचार्य देवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे।"**

---

१ 'सटीकाः चत्वारः कर्मग्रन्थाः' की प्रस्तावना में।

अर्थात् थोड़ा एक विद्वानोंके सिवाय भाग्यसे ही कोई जानता होगा कि देवेन्द्रसूरिके कर्मग्रन्थोंके सिवाय कोई प्राचीन कर्मग्रन्थ भी हैं, जिनके आधारपर आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी रचनाकी है। जैसे दिगम्बर साहित्यमें **गोम्मटसारकी** सङ्कलनाके बाद लोग **धवला, जयधवला** सरीखे महान् सिद्धान्तग्रन्थोंको भी भूल गये, उसी तरह इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचनाके बाद लोग प्राचीन कर्मग्रन्थोंको भूलसे गये। इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचनाके बाद श्री जयतिलकसूरिने संस्कृत कर्मग्रन्थोंकी रचना की। किन्तु फिर भी उनकी प्रतिष्ठा और ग्राह्यताको कोई क्षति नहीं पहुँची। उत्तरकालमें श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इन नवीन **कर्मग्रन्थोंके** कारण और दिगम्बर सम्प्रदायमें **गोम्मटसारके** कारण कर्मविषयक साहित्यके पठनपाठनको खूब प्रोत्साहन मिला। इस तरह जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका स्थान क्रमशः उन्नत होता गया और नवीन नवीन रचनाओंने उसके प्रचारमें बड़ी सहायता की।

३ नवीन कर्मग्रन्थ

प्रस्तुत **पञ्चम कर्मग्रन्थ** देवेन्द्रसूरिरचित उक्त नवीन कर्मग्रन्थोंमेंसे पाँचवा कर्मग्रन्थ है। इससे पूर्वके चार कर्मग्रन्थ इसी मण्डलसे पहले प्रकाशित हो चुके हैं। यद्यपि उन कर्मग्रन्थोंके बारेमें उनकी प्रस्तावनाओंमें बहुत कुछ लिखा गया है, तथापि बहुत सी बातोंमें परस्परमें सम्बद्ध होनेके कारण उनपर सामूहिक रूपसे विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना प्रस्तुत **पञ्चम कर्मग्रन्थकी** परिस्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती।

१ नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम—प्रथम कर्मग्रन्थका नाम **कर्मविपाक** है। ग्रन्थके आदिमें[1], अन्तमें[2] और उसकी स्वोपज्ञटीकामें[3] ग्रन्थकारने उसे

---

१ 'कम्मविवागं समासओ वुच्छं'। **२ 'इह कम्मविवागोऽयं'।**
३ 'टीका कर्मविपाकस्य'।

इसी नामसे कहा है। दूसरे कर्मग्रन्थका नाम **कर्मस्तव** है। यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आया किन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीकाके आदिमें[१] तथा प्रशस्तिमें[२] ग्रन्थकारने उसे इसी नामसे अभिहित किया है। तीसरे कर्मग्रन्थका नाम **बन्धस्वामित्व** है। इस पर स्वोपज्ञ टीका नहीं है किन्तु अन्य आचार्यकी 'अवचूरि' है। *ग्रन्थकी प्रथम तथा अन्तिम गाथामें 'बन्धसामित्त'* पद आता है। सम्भवतः इसीसे अवचूरिकारने[३] इसे **बन्धस्वामित्व** नाम दिया है। अतः यह नाम भी ग्रन्थकारका दिया हुआ ही समझना चाहिये। चौथे कर्मग्रन्थका नाम **षडशीतिक** है। यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आता, किन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीकाके आदि[४] तथा अन्तमें[५] और प्रशस्तिमें[६] उसका यही नाम दिया है। पञ्चम कर्मग्रन्थका नाम **शतक** है। ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें[७] यह नाम आता है। अतः पाँचों नवीन कर्मग्रन्थोंके जो नाम प्रचलित हैं वे स्वयं ग्रन्थकारके दिये हुए हैं इसमें किसी प्रकारके सन्देहके लिये स्थान नहीं है। उनमें प्रथम तीन नाम तो ग्रन्थमें वर्णित विषयके आधारपर रखे गये हैं, क्योंकि प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मप्रकृतियोंके विपाकका वर्णन है, दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका स्तवन—वर्णन किया गया है, और तीसरेमें गति आदि मार्गणाओंमें कर्मबन्धके स्वामित्वका विचार किया गया है। तथा अन्तके दो नाम ग्रन्थके परिमाणके आधारपर रखे गये हैं, क्योंकि चौथे कर्मग्रन्थमें ८६ गाथाएँ हैं अतः उसका नाम **षडशीतिक** है और पञ्चम कर्मग्रन्थमें १०० गाथाएँ हैं अतः उसका नाम **शतक** है।

२ ये नाम पूर्वजोंके ऋणी हैं—पहले बतलाया गया है कि नवीन

---

१ **'कर्मस्तवस्य विवृतिम्'।** २ **'कर्मस्तवस्य टीकेयम्'।**

३ **'बन्धस्वामित्वस्य व्याख्येयं'।** ४ **'श्री षडशीतिकशास्त्रं'।**

५ **'षडशीतिकशास्त्रं समर्थयन्नाह'।** ६ **'षडशीतिकटीकेयम्'।**

७ **'देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं'।**

कर्मग्रन्थोंकी रचना प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर हुई है अतः उनके नामोंका भी अपने पूर्वजोंका ऋणी होना स्वाभाविक है। किन्तु जहाँतक हमें मालूम हो सका है उन कर्मग्रन्थोंमें उनका नाम नहीं दिया हुआ है। अतः यह विचार करनेको आवश्यकता है कि ये नामकरण संस्कार स्वयं ग्रन्थकारके दिमागकी उपज है या उन्होंने उसमें भी अपने पूर्ववर्तियोंका अनुसरण किया है?

देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञटीकामें[1] प्राचीन कर्मग्रन्थोंका **बृहत्कर्मविपाक, बृहत्कर्मस्तवसूत्र** और **शतक**के नामसे उल्लेख किया है। तथा तीसरे कर्मग्रन्थ की अवचूरिमें[2] **बृहद्बन्धस्वामित्व** और प्राचीन **षडशीतिक**का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरिसे पहले प्राचीन कर्मग्रन्थ उक्त नामोंसे प्रसिद्ध थे तथा उनकी टीकाओंमें उनका यही नाम मौजूद था। इसीसे देवेन्द्रसूरिने भ्रमनिवारणके लिये उनके नामोंके साथ 'बृहत्' विशेषण लगाकर अपने ग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व तथा प्राचीनता सिद्ध की है। उक्त बातकी पुष्टिमें एक और भी उपपत्ति है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कर्मग्रन्थका नाम **कर्मविपाक** वगैरह रखकर भी देवेन्द्र सूरिने प्राचीन कर्मग्रन्थों की अपेक्षासे उनमें गाथाओंका प्रमाण बहुत कम रखा है। मुनिवर चतुरविजयजीके लेखानुसार[3] प्रथम तीन प्राचीन कर्म ग्रन्थोंमें गाथाओंकी संख्या क्रमशः १६८,५७ और ५४ है जब कि प्रथम तीन नवीन कर्मग्रन्थोंकी गाथाओंकी संख्या क्रमशः ६०, ३४ और २४ है। किन्तु प्राचीन चौथे और पाँचवे कर्मग्रन्थमें क्रमशः ८६ और १०२ गाथाएँ है, तथा नवीनमें भी क्रमशः ८६ और १०० गाथाएँ हैं। इससे

---

१ 'उक्तं च बृहत्कर्मविपाके' पृ० २६। 'यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवसूत्रे' पृ० ९२। 'यदुक्तं श्री शिवशर्मसूरिपादैः शतके' पृ० ७९। सटी० च० कर्म०।

२ 'उक्तं तद् बृहद्बन्धस्वामित्वानुसारेण।' 'षडशीतिके तु तस्य'। पृ० १११ सटी० च० कर्म०। ३ देखो, सटी० च० कर्म० की प्रस्तावना।

स्पष्ट है कि प्रथम तीन ग्रन्थोंके नाम गाथासंख्याके आधार पर न होनेके कारण उनका नाम पूर्ववत् रखकर गाथासंख्यामें कमी करदी, क्योंकि गाथासंख्या कम करदेने पर भी उनके नामपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। किन्तु चतुर्थ और पंचमका नाम गाथासंख्याके आधारपर था। अतः यदि उनकी गाथासंख्यामें कमी की जाती तो उसका नामपर असर पड़ता और उस अवस्थामें पुराने नाम **षडशीतिक** और **शतक**[1] में परिवर्तन करना पड़ता, जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं था। अतः उन्होंने उनकी गाथासंख्यामें कोई फेर बदल नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही रखे गये हैं।

३ कर्मग्रन्थों का पौर्वापर्य—कर्मग्रन्थोंके असली नामके बारेमें निर्णय हो जाने पर भी उनके 'पहला' 'दूसरा' आदि नामोंके बारेमें यह शङ्का बनी ही रहती है कि **कर्मविपाक** पहला है, इत्यादि क्रम भी प्राचीन ही है या बादमें उसकी कल्पना की गई है? अतः उसका समाधान होना भी आवश्यक है।

प्राचीनकर्मग्रन्थोंके बारेमें तो यह कहा ही नहीं जा सकता कि उनके कर्ताओंने स्वयं उन्हें प्रथम द्वितीय आदि की उपाधि दी थी; क्योंकि वे एक कर्ता की रचनाएँ नहीं हैं, भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न आचार्योंने उन्हें बनाया है। तथा **विपाक** पहले बना, **कर्मस्तव** उसके बाद बना, **बन्ध-**

---

१ प्राचीन शतक की गाथा सख्यामें मतभेद मालूम होता है। **सटी० च० कर्म०** की प्रस्तावना में (पृ० १४) मुनि श्री चतुरविजयजी ने इसकी गाथा संख्या १०२ बतलाई है। उसीके परिशिष्ट नं० ६ में जो कि **प्रथम कर्मग्रन्थसे** दिया गया है, उसकी गा० सं० १११ लिखी है। **शतक** की टीका में आचार्य मलधारी हेमचन्द्रने **'गाथाशतपरिमाणनिष्पन्नं यथार्थनामकं शतकाख्यम्'** आदि लिखकर उसकी गाथाओं का परिमाण सौ ही बतलाया है।

स्वामित्व उसके भी बाद बना, ऐसा भी कोई क्रम अभी तक निर्णीत नहीं होसका है। मुनिवर चतुर विजयजीका मत है–'**आरीते एकंदर जोतां विक्रमना त्रीजा के चौथा सैकाथी लई विक्रमनी बारमी सदी सुधीमां थयेल जुदा जुदा आचार्यों द्वारा आकर्मग्रन्थोनी रचना उत्क्रम थी ज करायेल होई**।' हमें भी ऐसा ही जंचता है। अत: कर्मग्रन्थोंका पौर्वापर्य प्राचीन तो प्रतीत नहीं होता।

नव्यकर्मग्रन्थ एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं अत: देखना चाहिये कि वे उक्त विषय पर कहाँ तक प्रकाश डालते हैं? इसके लिये उनके रचनाक्रम पर ध्यान देना आवश्यक है। जहाँ तक मूलग्रन्थकी गाथाओं-के अवलोकनसे पता लगाया जा सका है वहाँ तक हमारे देखनेमें केवल एक स्थल ही ऐसा मिला है जिसमें उसके पूर्ववर्ती कर्मग्रन्थके पढ़नेकी सलाह उसका नाम लेकर दी गई है। तीसरे कर्मग्रन्थकी अन्तिम गाथामें लिखा है कि[1] '**कर्मस्तव**को सुनकरके इसे जानना चाहिये।' **कर्मस्तव** द्वितीय कर्मग्रन्थ का नाम है अत: तीसरेसे पहले दूसरे कर्मग्रन्थके पढ़ने की सम्मति ग्रन्थकार देते हैं। इससे **कर्मस्तव** और **बन्धस्वामित्वका** पौर्वापर्य तो स्पष्ट हो जाता है। शेषके लिये हमें उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंका आश्रय लेना होगा।

पहले **कर्मविपाक**को देखिये। इसकी टीकामें ग्रन्थकारने अपने किसी भी कर्मग्रन्थका उल्लेख नहीं किया है। तथा इसकी पहली ही गाथाके उत्तरार्द्ध-में 'कर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति दी गई है, जो उन्होंने अन्यत्र नहीं दी, तथा द्वितीय कर्मग्रन्थ की टीकामें[2] **स्वोपज्ञ कर्मविपाक** और[3] **स्वोपज्ञ कर्मविपाक-टीका** का उल्लेख किया है। और चतुर्थ[4] कर्मग्रन्थकी टीकामें **स्वोपज्ञ-कर्मविपाक टीका** का तथा पञ्चम[5] कर्मग्रन्थकी टीकामें **कर्मविपाक** का उल्लेख है। अत: स्पष्ट है कि **कर्मविपाक** पहला कर्मग्रन्थ है और अन्य

---

१ '**नेयं कम्मत्थयं सोउं**'। २ पृ० ६७। ३ पृ० ७९।
४ पृ० १६४। ५ पृ० ८५।

कर्मग्रन्थोंसे पहले उसकी रचना हुई है। इस तरह प्रथम द्वितीय और तृतीय का पौर्वापर्य तो ठीक बैठ जाता है। केवल चतुर्थ और पञ्चमकी बात शेष रह जाती है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थकी पहली ही गाथाकी टीकामें **स्वोपज्ञ कर्मस्तव** की टीकामें गुणस्थानोंका सविस्तर वर्णन करनेका उल्लेख किया है। उधर **कर्मस्तव** की दूसरी गाथाकी टीकामें **स्वोपज्ञशतक[1] टीका** तथा **स्वोपज्ञ-षडशीतिक[2] टीका**का उल्लेख किया है और लिखा है कि उपशम श्रेणिका विस्तृत स्वरूप **स्वोपज्ञशतकटीकामें** दिया है, समुद्घातका विस्तृत स्वरूप **स्वोपज्ञषडशीतिक टीकामें** दिया है। **शतककर्मग्रन्थके** अन्तमें उपशमश्रेणि तथा क्षपक श्रेणिका वर्णन आता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि **शतक** की टीका पहले बनाई गई है। अन्यथा **कर्मस्तव**की दूसरी ही गाथाकी टीकामें उसके अन्तमें वर्णित श्रेणियोंके स्वरूपका उल्लेख न होता। किन्तु **शतक[3]** की २६ वीं गाथाकी उत्थानिकामें लिखा है कि 'गुणस्थानोंकी अपेक्षासे प्रकृतिबन्धके स्वामित्वका विचार **लघुकर्मस्तव**-की टीकामें किया है और मार्गणाओं की अपेक्षासे स्वोपज्ञ **बन्धस्वामित्व**-की टीकामें किया है, अत: यहाँ नहीं किया।' इस उल्लेखसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि **लघुकर्मस्तवके** नामसे ग्रन्थकारने अपने ही कर्मग्रन्थका उल्लेख किया है.किन्तु यदि ऐसा होता तो **कर्मस्तव**की टीकाके प्रारम्भमें ही **शतक टीका** के अन्तमें वर्णित विषयका उल्लेख न पाया जाता। अत: मालूम होता है कि यह **लघुकर्मस्तवग्रन्थ** कोई दूसरा[4] है,और **स्वोपज्ञकर्मस्तव** की टीकासे पहले ग्रन्थकारने **शतक टीका**का निर्माण कर लिया था। अब रह जाता है **षडशीतिक**। उसकी रचना तो **शतक**से पहले ही हुई जान पड़ती है, क्योंकि **शतक[5]**की टीकामें ग्रन्थकारने **षडशीतिक शास्त्र**का उल्लेख किया

१, पृ० ७३-७४। २, पृ० ७६। ३, पृ० ३६।
४ इस सम्बन्धमें अभी हम निःसंशय नहीं हैं। ले०। ५ पृ० १२१।

है, जब कि **षडशीतिक**की टीकामें **शतक**का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु **कर्मस्तव**[1] की टीकामें **षडशीतिक टीकाका** और **षडशीतिक टीकाके**[2] प्रारम्भमें ही **स्वोपज्ञकर्मस्तव टीका**का उल्लेख होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों टीकाएँ साथ साथ बनाई गई हैं। इस चर्चासे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाँचो मूल कर्मग्रन्थ उसी क्रमसे बनाये गये हैं, जिस क्रमसे वे प्रथम, द्वितीय वगैरह कहे जाते हैं। किन्तु स्वयं ग्रन्थ-कारने उन्हें कहीं प्रथम, द्वितीय आदि कहा हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है, उनके विषयक्रमको देख कर ही उन्हें प्रथम द्वितीय आदि नाम दे दिये गये हैं, क्योंकि कर्मसाहित्यमें वर्णनका प्रायः यही क्रम पाया जाता है और वह है भी क्रमबद्ध ही।

४ कर्मग्रन्थोंका विषय–जैसा कि प्रारम्भमें ही बतलाया है और नामसे भी स्पष्ट है, सामान्यरूपसे कर्मग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय जैन-सिद्धांतका प्रधान अङ्गभूत कर्मसिद्धान्त ही है। विशेषरूपसे–प्रथम कर्मग्रन्थमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके भेद-प्रभेदोंके नाम तथा उनके फलका वर्णन है। दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंका स्वरूप समझाकर उनमें प्रकृतियोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका विचार किया है। अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक अमुक गुणस्थानमें अमुक अमुक प्रकृतियोंका बन्ध, अमुक अमुक प्रकृतियोंका उदय, अमुक अमुक प्रकृतियोंकी उदीरणा और अमुक अमुक प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तीसरे कर्मग्रन्थमें मार्गणाओंके आश्रयसे कर्मप्रकृतियोंके बन्धके स्वामियोंको बतलाया है। अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक मार्गणावाला जीव किन किन प्रकृतियोंका बन्ध करता है? चौथे कर्मग्रन्थमें जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव और संख्या ये पाँच विभाग करके उनका विस्तारसे वर्णन किया है। जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों

१, पृ० ७६। २, पृ० ११२।

की चर्चा की है। मार्गणास्थानमें जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व, इन छः विषयोंकी चर्चा की है। और गुणस्थानमें जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन नौ विषयोंका वर्णन किया है। भावमें औपशमिकादि भावोंका और संख्यामें संख्यात असंख्यात और अनन्तके भेदोंका स्वरूप बतलाया है।

पञ्चमकर्मग्रन्थमें, प्रथमकर्मग्रन्थमें वर्णित प्रकृतियोंमेंसे कौन कौन प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्व-देश-घाती, अघाती, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना हैं, यह बतलाया है। उसके बाद उन्हीं प्रकृतियोंमें, कौन कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी हैं, यह बतलाया है। उसके बाद कर्मप्रकृतियोंके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार प्रकारके बन्धोंका स्वरूप बतलाया है। प्रकृतिबन्धको बतलाते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्धोंको गिनाया है। स्थितिबन्धको बतलाते हुए मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवोंके उसका प्रमाण निकालनेकी रीति और उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंका वर्णन किया है। तीसरे अनुभागबन्धको बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र या मन्द रस पड़नेके कारण शुभाशुभ रसका विशेष स्वरूप, उत्कृष्ट तथा जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी वगैरहका वर्णन किया है। चौथे प्रदेशबन्धका वर्णन करते हुए वर्गणाओंका स्वरूप उनकी अवगाहना, बद्धकर्मदलिकोंका मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियोंमें बँटवारा, कर्मके क्षपणमें कारण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणीरचनाका स्वरूप, गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसङ्गवश पल्योपम, सागरोपम और पुद्गलपरावर्तके भेदोंका स्वरूप, उत्कृष्ट तथा जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामी, योगस्थान वगैरहका अल्पबहुत्व,

और प्रसंगवश लोक वगैरहका स्वरूप बतलाया है। तथा अन्तमें उपशम-श्रेणि और क्षपकश्रेणिका सुन्दर कथन किया है।

५ कर्मग्रन्थोंका आधार—पहले बतला आये हैं कि इन नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही रखे गये हैं। तथा उनके आधारपर ही इनकी रचना हुई है। जिन्होंने दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन किया है, उनका भी ऐसा ही कहना[1] है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि स्वयं ग्रन्थकार इस सम्बन्धमें क्या कहते हैं? पहले, दूसरे तथा तीसरे कर्म-ग्रन्थके आदि या अन्तमें इस सम्बन्धमें कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया। चतुर्थ कर्मग्रन्थकी टीकाके अन्तमें लिखा है कि **पञ्चसंग्रह** आदि शास्त्रोंसे इस **षडशीतिकशास्त्रको** रचा है। तथा पञ्चमकर्मग्रन्थकी टीकाके प्रारम्भमें **प्राचीनशतकके** प्रणेता श्रीशिवशर्मसूरिका स्मरण किया है और अन्तमें लिखा है कि **कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह, बृहत्शतक** आदि शास्त्रोंके आधारपर इस **शतकशास्त्रको** रचा है। इससे स्पष्ट है कि इन कर्मग्रन्थोंका आधार प्रचीनकर्मग्रन्थ तो हैं ही, किन्तु **कर्मप्रकृति** और **पञ्चसंग्रह**से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। जिस **शतकका** यह अनुवाद है, उसकी रचनाका आधार तो मुख्यतया **कर्मप्रकृति** और **पञ्चसंग्रह** ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसकी टीकामें १९ जगह **कर्म-प्रकृति**का, चार जगह **कर्मप्रकृति**की चूर्णिका, तीन जगह **कर्मप्रकृति**की टीकाका, आठ जगह **पञ्चसंग्रह**का तथा दो-तोन जगह **पञ्चसंग्रहटीका**का उल्लेख मिलता है। इतना अधिक उल्लेख किसी दूसरे ग्रन्थका देखनेमें नहीं आया। तथा हमने अपने अनुवादके नीचे टिप्पणीमें तुलनाके लिये कहीं-कहीं जो गाथाएं उद्धृत की हैं, उनसे भी यही बात प्रकट होती है। **शतककी** अनेक गाथाओंपर **पञ्चसंग्रहकी** स्पष्ट छाप है, कहीं-कहीं तो थोड़ासा ही परिवर्तन पाया जाता है। **शतककी** ३९ वीं गाथाका व्याख्यान

---

१ प्रयत्न करनेपर भी हमें प्राचीन कर्मग्रन्थ उपलब्ध न हो सके। ले०।

ग्रन्थकारने पहले **पञ्चसंग्रहके** अभिप्रायके अनुसार किया है, पश्चात् **कर्मप्रकृतिके** अभिप्रायके अनुसार किया है। **कर्मप्रकृति** और **पञ्च-संग्रह**में कुछ बातोंको लेकर मतभेद है। कर्मप्रकृतिकारका मत प्राचीन प्रतीत होता है, फिर भी कहीं-कहीं कर्मग्रन्थकारका झुकाव **पञ्चसंग्रहके** मतकी ओर विशेष जान पड़ता है। यद्यपि उन्होंने दोनोंके मतोंको समान भावसे अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है, और **कर्मप्रकृति**को स्थान-स्थानपर प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है, तथापि **पञ्चसंग्रहके** मतको उद्धृत करते हुए कही-कही उसे अग्रस्थान देनेसे वे चूके नहीं हैं। कहना न होगा कि विशेषसे इन्हीं दोनों ग्रन्थोंके आधारपर उन्होंने **शतक** का निर्माण किया है।

४ नवीन कर्मग्रन्थोंके रचयिता

१ कर्मग्रन्थोंके रचयिता—इन कर्मग्रन्थोंके रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्रसूरि हैं। उन्होंने अपने प्रत्येक कर्मग्रन्थकी अन्तिम गाथामें अपना नाम दिया है, और उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। जिससे पता चलता है कि उनके गुरुका नाम श्रीजगच्चन्द्रसूरि था और वे चान्द्रकुलमें हुए थे। तथा विबुधवर श्रीधर्मकीर्ति और श्रीविद्यानन्दसूरिने उनके कर्मग्रन्थोंकी टीकाओंका संशोधन किया था।

२ उनकी रचना शैली—ग्रन्थकार श्रीदेवेन्द्रसूरिकी रचनाशैली प्रसन्न है। वे संक्षेपमें कितना अधिक कह जाते हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनके रचे हुए कर्मग्रन्थ हैं। **शतककी** सौ गाथाओंमें उन्होंने कर्मशास्त्रका पर्याप्त विषय भर दिया है। किन्तु यदि हमारे सामने उनके मूल कर्मग्रन्थ ही होते और स्वोपज्ञ टीकाएँ न होतीं तो उनकी शैलीको हम ठीक ठीक समझ भी सकते या नहीं, यह कहना कठिन है। उनकी शैलीका स्पष्ट दर्शन तो उनकी संस्कृतटीकाओंमें होता है। उनकी बहती हुई वाग्धारामें डुबकी लगानेसे कर्मसिद्धान्तरूपी गहन वनमें विचरण करते करते प्राप्त हुई थकान तो दूर

हो ही जाती है साथ ही साथ उसका अवगाहन करते हुए पाठकको अध्ययनकी जो प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, उससे उसके मनमें नव-जीवनका सञ्चार हुए बिना नहीं रहता। वे प्रत्येक विषयका अच्छा स्पष्टी-करण करते हैं और लिखनेसे पहले तत्सम्बन्धी उपलब्ध साहित्यको पढ़ डालते हैं। तथा उनके सम्बन्धमें जो मतान्तर होते हैं, उन्हें भी अवश्य स्थान देते हैं। वे किसी विषयके सम्बन्धमें अपने पाठकको अन्ध-कारमें रखना नहीं चाहते, प्रत्युत अपनी अध्ययनशीलताके बलपर उसे अधिकसे अधिक ज्ञानार्जनका अवसर देते हैं। उनकी टीकाओंमें आगत कुछ चर्चाएं तो अपने विषयके सुन्दर प्रबन्ध कहे जा सकते हैं।

३ **उनकी अध्ययन शीलता**-ग्रन्थकारने अपनी टीकाओंमें जो अनेक ग्रन्थोंसे प्रमाण उद्धृत किये हैं उससे उनकी अध्ययनशीलताका अनुमान सहजमें ही किया जा सकता है। **शतककी** टीकामें ही ५०के लगभग ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं,जिनमें **आवश्यक,नन्द्यध्ययन,कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह, विशेषणवती** वगैरहके नाम उल्लेखनीय हैं। तथा अनेक ग्रन्थकारोंके नाम भी दिये हैं, जिनमें जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण, गन्धहस्ती, शिवशर्मसूरि, तथा हेमचन्द्रसूरिका नाम उल्लेखनीय है। बाकीके कर्म-ग्रन्थोंकी टीकाओंमें भी लगभग इतने ही ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं, तथा अनेक ग्रन्थकारोंके नाम दिये हैं, जिनमें उक्त नामोंके सिवाय हरिभद्रसूरि, शीलाङ्क और मलयगिरि वगैरहके नाम भी हैं। इस प्रकारके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरि बड़े अध्ययनशील थे और श्वेताम्बर आगम साहित्य तथा कर्मविषयक साहित्यका उन्हें बड़ा अच्छा अनुगम था। प्रथम[1] तथा चतुर्थ[2] कर्मग्रन्थकी टीकामें एक स्थानपर प्रज्ञाकर गुप्तका भी एक श्लोक उद्धृत किया है। यह प्रज्ञाकर गुप्त प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक ही प्रतीत होता है। इस उल्लेखसे अनुमान होता है कि उन्हें दर्शनान्तरका

१ पृ० ४५। २ पृ० १५४।

भी अभ्यास था।

४ ग्रन्थकारका समय-ग्रन्थकारने अपनी टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। उसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि लिखा है। **गुर्वावलीमें** इन जगच्चन्द्रसूरिके बारेमें लिखा है कि वि०सं०१२८५में इन्होंने उग्रतप धारण किया था, इससे उनकी ख्याति 'तपा' के नामसे हो गई, और इनका बृद्धगच्छ तपागच्छके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसके ये आद्य पुरुष कहलाये। दैलवाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निर्माता श्री वस्तुपाल तेजपाल इनका बहुत आदर करते थे। **गुर्वावलीमें** लिखा है कि तपा-गच्छकी स्थापनाके बाद श्रीजगच्चन्द्रसूरिने अपने शिष्य श्री देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्रसूरिको सूरिपद समर्पित किया था। तथा श्री देवेन्द्रसूरिने उज्जैनी नगरीके वासी सेठ जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको, जब उसके विवाह संस्कारकी तैयारी हो रही थी, उस समय प्रतिबोध कर वि० सं० १३०२ में दीक्षा दी थी। बादको वि० सं० १३२३में गुजरातके प्रल्हादनपुर नामके नगरमें उसे सूरिपद दिया था। यही वीरधवल श्री विद्यानन्दसूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने अपने गुरु श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थों-की टीकाका संशोधन किया, जिसका उल्लेख प्रशस्तिमें स्वयं श्रीदेवेन्द्रसूरि ने किया है। **गुर्वावलीमें** यह भी लिखा है कि वि०सं० १३२७ में उनका स्वर्गवास हुआ। इन उल्लेखोंके आधारपर उनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध ज्ञात होता है।

अब देखना चाहिये कि **गुर्वावलीमें** प्रतिपादित उक्त समयपर उनके ग्रन्थोंमें पाये जाने वाले उद्धरण वगैरह कहाँ तक प्रकाश डालते हैं। हम पहले लिख आये हैं कि श्री देवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाओंमें अनेक ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं तथा, अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।

---

१ **"तदादिबाणद्विपभानुवर्षे श्रीविक्रमात् प्राप तदीयगच्छः।**
बृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमानः॥९५॥"

उन उल्लेखोंमेंसे अनेक प्राचीनतर उल्लेखोंको छोड़कर यहाँ हम केवल दो ही उल्लेखोंको लेंगे। श्रीदेवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाओंमें अनेक[1] जगह श्री हेमचन्द्रसूरि और उनके **प्राकृत व्याकरण**का स्पष्ट उल्लेख[2] किया है। **प्रभावक चरित**के अनुसार आचार्य हेमचन्द्रकी जन्मतिथि वि०सं०११४५ की कार्तिकी पूर्णिमा थी और उनका अवसान वि०सं० १२२९ में हुआ था। अतः उनका उल्लेख करनेवाले श्री देवेन्द्रसूरि विक्रमकी बारहवीं शताब्दीके मध्यकालसे पहले तो किसी भी तरह नहीं हो सकते। तथा उन्होंने प्रसिद्ध टीकाकार श्री मलयगिरिका[3] भी उल्लेख किया है। यह मलयगिरि आचार्य श्रीहेमचन्द्राचार्यके सहपाठी माने जाते हैं। इन्होंने **सप्ततिका** नामक छठे कर्मग्रन्थकी टीकामें[4] **सिद्धहेमव्याकरणसे उद्धरण** दिया है। तथा अपनी **आवश्यकवृत्तिमें 'तथा चाहुः स्तुतिषु गुरवः'** करके आचार्य हेमचन्द्रकृत **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका**का ३०वां श्लोक उद्धृत किया है। इसप्रकार आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले मलयगिरिका उल्लेख श्री देवेन्द्रसूरिने किया है। इतना ही नहीं, किन्तु अपनी टीकाओंमें कहीं कहीं उन्होंने मलयगिरिका शब्दशः अनुसरण किया है। उदाहरणके लिये ऊपर मलयगिरिकी जिस **सप्ततिका**की टीकाका उल्लेखकर आये हैं, उसमें मलयगिरिने[5] विशेषार्थी को **कर्मप्रकृति टीका** को देखने का अनुरोध जिन शब्दोंमें किया है उन्हीं शब्दोंमें श्रीदेवेन्द्रसूरि भी अपनी टीकामें

---

१ प्रथ०कर्म०टी० पृ० ४६,५८ तथा पञ्च०कर्म०टी०पृ० ९ और १८

२ 'यदाहुः श्री हेमचन्द्रसूरिपादाः स्वप्राकृतलक्षणे।'

३ 'यदाहुःसप्ततिकाटीकायां...श्रीमलयगिरिपादाः।' द्वि.कर्म.टी.पृ.८१।

४ पृ० १३९।

५ मलयगिरि लिखते हैं—'इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या।' पृ० २५२। पञ्च० कर्म० टी०, पृ० १२९ में भी यही शब्द हैं।

कर्मप्रकृति टीका को देखने का अनुरोध करते हैं। इससे स्पष्ट है कि श्री देवेन्द्रसूरि न केवल आचार्य हेमचन्द्रके पश्चात् हुए हैं, बल्कि 'गुरव:' जैसे सम्मानसूचक पदसे आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले आचार्य मलयगिरिसे भी बादमें हुए हैं। आचार्य मलयगिरिको आचार्य हेमचन्द्रका लघु समाकालीन माना जाता है। अत: यदि हेमचन्द्राचार्य वि० सं० १२२९ तक रहे हैं तो मलयगिरिका समय वि० सं० १२५० तक माना जा सकता है। इसी समयके लगभगमें श्री देवेन्द्रसूरिका जन्म माननेसे वि० सं० की तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध उनका समय निश्चित होता है जो कि गुर्वावलीके भी अनुकूल है।

कार्तिकी पूर्णिमा
वीरनिर्वाणाब्द
२४६८

कैलाशचन्द्र शास्त्री
स्याद्वादविद्यालय काशी

हिन्दी व्याख्या सहित

पञ्चम कर्मग्रन्थका विषयानुक्रम

हिन्दी व्याख्यासहित

शतक-नामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ

देविंदसूरिलिहियं
सयगमिणं आयसरणट्ठा

* श्रीवीतरागाय नमः *

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित शतकनामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ

प्रथम ही ग्रन्थकार इष्टदेवको नमस्कार करके ग्रन्थमें वर्णित विषयका निर्देश करते हैं—

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छं बंधविह सामी य॥ १ ॥

अर्थ—जिन भगवानको नमस्कार करके, ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, घातिनी, अघातिनी, पुण्य, पाप, परावर्तमाना, अपरावर्तमाना, क्षेत्रविपाका, जीवविपाका, भव-विपाका और पुद्गलविपाका प्रकृतियोंका, तथा बन्धके भेद, उनके स्वामी और उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणीका कथन करूंगा ।

भावार्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने मङ्गलके साथ ही साथ उन विषयोंका भी निर्देश कर दिया है, जिनका निरूपण इस कर्मग्रन्थमें किया गया है । कर्मके भेद-प्रभेदोंको प्रकृति भी कहते हैं, और उनकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं । उनमेंसे सोलह अवस्थाओंका वर्णन इस कर्मग्रन्थमें किया है । तथा, बन्धके भेद—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्धका वर्णन भी किया है । और कौन जीव किस प्रकृति, स्थिति, अनुभाग वा प्रदेशबन्धका-स्वामी है, यह भी बतलाया है । इस प्रकार

चौबीस विषयोंका तो गाथामें नाम निर्देश किया है, और 'च' शब्दसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी संगृहीत की गई हैं। अर्थात् उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीका वर्णन भी इस ग्रन्थमें किया है। इसप्रकार इस गाथाके द्वारा २६ विषयोंका वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है—ध्रुवबन्धी आदि १२, विपाक ४, बन्ध ४, उसके स्वामी ४ और 'च' शब्दसे दोनों श्रेणियाँ।

सरलताके लिये गाथामें निर्दिष्ट कुछ विषयोंकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। अतः उनकी परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—

ध्रुवबन्धिनी[1] प्रकृति–अपने कारणके होनेपर, जिस कर्मप्रकृतिका बन्ध अवश्य होता है, उसे ध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेद पर्यन्त हरेक जीवके प्रत्येक समय बंधती है।

अध्रुवबन्धिनी प्रकृति–बन्धके कारणोंके होते हुए भी, जो प्रकृति बंधती भी है और नहीं भी बंधती, उसे अध्रुवबन्धिनी कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेदपर्यन्त बंधती भी है और नहीं भी बंधती।

ध्रुवोदया[2] प्रकृति–अपने उदयकालके अन्त तक जिस प्रकृतिका उदय बराबर रुके बिना होता रहता है, उसे ध्रुवोदया कहते हैं।

अध्रुवोदया प्रकृति–अपने उदयकालके अन्ततक जिस प्रकृतिका उदय बराबर नहीं रहता, कभी उदय होता है और कभी नहीं होता, उसे अध्रुवोदया कहते हैं।

ध्रुवसत्ताका प्रकृति–सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होनेसे पहले, अर्थात् मिथ्यात्वदशामें सभी संसारी जीवोंके जो प्रकृति सर्वदा वर्तमान रहती है, उसे ध्रुवसत्ताका कहते हैं। और—

---

१ "नियहेउसंभवेवि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधाओ ॥१५३॥" पञ्चसं०।

२ "अव्वोच्छिन्नो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ ॥१५५॥" पञ्चसं०।

अध्रुवसत्ताका प्रकृति-मिथ्यात्वदशामें जिस प्रकृति की सत्ताका नियम नहीं होता, उसे अध्रुवसत्ताका कहते हैं।

घातिनी प्रकृति-जो कर्मप्रकृति आत्माके ज्ञानादिकगुणोंका घात करती है, उसे घातिनी कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है एक सर्वघातिनी और दूसरी देशघातिनी।

अघातिनी प्रकृति-जो प्रकृति आत्मिक गुणोंका घात नहीं करती, उसे अघातिनी कहते हैं।

पुण्य प्रकृति-जिसका फल शुभ होता है।

पाप प्रकृति-जिसका फल अशुभ होता है।

परावर्तमाना-किसी दूसरी प्रकृतिके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर जिस प्रकृतिका बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे परावर्तमाना कहते हैं।

अपरावर्तमाना-किसी दूसरी प्रकृतिके बन्ध, उदय अथवा दोनों को रोके बिना जिस प्रकृतिका बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे अपरावर्तमाना कहते हैं।

क्षेत्रविपाका-नया शरीर धारण करनेके लिये जब जीव गमन करता है, उस समय ही अर्थात् विग्रहगतिमें जो कर्मप्रकृति उदयमें आती है, उसे क्षेत्रविपाका कहते हैं।

जीवविपाका-जो प्रकृति जीवमें ही अपना फल देती है, उसे जीवविपाका कहते हैं।

भवविपाका-जो प्रकृति नर-नारकादि भवमें ही फल देती है, अर्थात् जिसके फलसे जीव संसारमें रुकता है उसे भवविपाका कहते हैं।

पुद्गलविपाका-जो प्रकृति शरीररूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं

---

१ "विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंती अपरियत्ता ॥१६१॥" पञ्चसं०।

में अपना फल देती है, उसे पुद्गलविपाका कहते हैं।

इसप्रकार इस ग्रन्थमें वर्णित विभिन्न प्रकृतियोंकी परिभाषाएँ जाननी चाहियें।

१. ध्रुवबन्धिद्वार

क्रमानुसार प्रथम द्वारमें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

वन्नचउ-तेय-कम्मा गुरुलहु-निमिणो-वघाय-भय-कुच्छा।
मिच्छ-कसाया-वरणा विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

अर्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और पाँच अन्तराय ये सैतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया

---

१ पञ्चसङ्ग्रहकी निम्न गाथामें भी कर्मग्रन्थसे मिलता जुलता निर्देश है—

"धुवबन्धि-धुवोदय-सव्वघाइ-परियत्तमाण-असुभाओ।
पंच य सप्पडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा ॥ १३२ ॥"

इसमें धुवबन्धी, ध्रुवोदय, सर्वघाती, परावर्तमान और अशुभ तथा इनके प्रतिपक्षी अध्रुवबन्धी, अध्रुवोदय, देशघाती, अपरावर्तमान और शुभ द्वारोंका तथा चार प्रकारकी विपाका प्रकृतियोंका उल्लेख किया है।

गोमट्टसार कर्मकाण्डमें ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना प्रकृतियोंको छोड़कर शेष प्रकृतियोंका यथास्थान निर्देश किया है।

२ पञ्चसङ्ग्रह में ध्रुवबन्धिप्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—

"नाणंतरायदंसण, धुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा।
अगुरुलघुनिमिणतेयं उवघायं वण्णचउकम्मं ॥ १३३ ॥"

है। अपने अपने सामान्य कारणोंके होनेपर भी जिन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध अवश्य होता है, उन्हें ध्रुवबन्धिनी कहते हैं। मूल कर्म आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। बन्ध-दशामें इनकी उत्तरप्रकृतियाँ क्रमशः ५+९+२+२६+४+६७+२+५+१२० होती हैं। उनमेंसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्मकी ये नौ प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी हैं, क्योंकि चारों ही गतियोंके जीवोंके तैजस और कार्मण शरीर अवश्य होते हैं। तथा, औदारिक और वैक्रिय शरीरमेंसे किसी एकका बन्ध अवश्य होनेके कारण वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अवश्य बंधते हैं। तथा शरीरका बन्ध होनेपर निर्माण, उपघात और अगुरुलघुका बन्ध अवश्य होता है। इसलिये नामकर्म की ये नौ प्रकृतियाँ अपने कारणोंके होनेपर अवश्य बंधती हैं। अतः ध्रुवबन्धिनी कहलाती हैं।

भयमोहनीय और जुगुप्सामोहनीयके बन्धकी विरोधिनी कोई प्रकृति नहीं है, इसलिये ये दोनों कर्मप्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं। मिथ्यात्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीयके उदयमें अवश्य बंधती है, अतः यह भी ध्रुवबन्धिनी है। तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका उदय रहते हुए अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध अवश्य होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयरूप अपने कारणके होते हुए अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका बन्ध अवश्य होता है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयरूप अपने कारणके होते हुए प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका बन्ध अवश्य होता है। इसी तरह संज्वलन कषायके उदयरूप अपने कारणके होते हुए संज्वलन कषाय क्रोध, मान, माया, लोभका बन्ध अवश्य होता है। अतः ये सोलह कषाय भी ध्रुवबन्धी हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उन्नीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

तथा, ज्ञानावरण कर्मकी पाँच, दर्शनावरण कर्मकी नौ और अन्तराय

कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ अपने अपने बन्धविच्छेद होनेके स्थान तक अवश्य बंधती हैं, तथा इनकी विरोधिनी कोई अन्य प्रकृति भी नहीं है ; अतः ये सब ध्रुवबन्धिनी[1] कहलाती हैं ।

इस प्रकार ये सैतालीस कर्मप्रकृतियाँ अपने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणोंके होनेपर सभी जीवोंके अवश्य बंधती हैं, इसलिये ये ध्रुवबन्धिनी[2] हैं । इनमें ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी उन्नीस, नामकर्मकी नौ और अन्तरायकी पाँच, इस प्रकार पाँच कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ सम्मिलित हैं ।

२. अध्रुवबन्धिद्वार

द्वितीय द्वारका प्रारम्भ करते हुए अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

तणु-वंगा-गिइ-संघयण-जाइ-गइ-खगइ-पुव्वि-जिणु-सासं ।
उज्जोया-यव-परघा-तसवीसा गोय वयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुग-वेय-आउ तेवुत्तरी अधुवबन्धा ।

अर्थ—शरीर तीन—औदारिक, वैक्रिय और आहारक, उपाङ्ग तीन—औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग और आहारक अङ्गोपाङ्ग, संस्थान छह—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक, संहनन छह—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका

---

१ **गोमट्टसार कर्मकाण्ड में इन प्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—**

"घातितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचउ ।
सत्तेतालधुवाणं ... ... ॥ १२४ ॥"

२ यशोविजयजीने अपनी टीकामें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया है । देखो-**कर्मप्रकृति, बन्धनकरण पृष्ठ ९ ।**

और सेवार्त, जाति पाँच—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, गति चार—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक, विहायोगति दो—प्रशस्त और अप्रशस्त, आनुपूर्वी चार—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी, तीर्थकर, उछ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावर दशक, गोत्र दो—उच्च और नीच, वेदनीय दो—सातवेदनीय और असातवेदनीय, हास्य आदि दो युगल अर्थात् हास्य, रति और शोक, अरति, वेद तीन—स्त्री, पुरुष और नपुंसक, आयु चार—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु और नरकायु, ये तिहत्तर प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं ।

भावार्थ—इस डेढ़ गाथामें ग्रन्थकारने अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको बतलाया है। बन्धके सामान्य कारणोंके रहनेपर भी इनका बन्ध नियमित रूपसे नहीं होता, अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी बन्ध नहीं होता; इसलिये इन्हें अध्रुवबन्धिनी कहते हैं । कारणोंके रहनेपर भी इनमेंसे कुछ प्रकृतियोंका बन्ध तो इसलिये नहीं होता कि उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ उनका स्थान ले लेती हैं, और कुछ प्रकृतियां स्वभावसे ही कभी बंधती है और कभी नहीं बंधती ।

इसका खुलासा निम्नप्रकार है—शरीरनामकर्मके पाँच भेदोंमेंसे तैजस और कार्मणको तो ध्रुवबन्धी बतला आये हैं । शेष तीन शरीर और उनके तीन अङ्गोपाङ्गोंमेंसे एक समयमें एक जीवके एक शरीर और एक अङ्गोपाङ्गका ही बन्ध होता है; अतः परस्परमें विरोधी होनेके कारण ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं । छह संस्थानोंमेंसे भी एक समयमें एक ही संस्थानका बन्ध होता है; अतः वे भी अध्रुवबन्धी हैं । मनुष्य और तिर्यञ्चके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर ही छह संहननोंमेंसे एक समयमें एकका बंध होता है और देव तथा नारकके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर एक भी संहनन नही बंधता; अतः संहनन भी अध्रुवबन्धी हैं। तथा, पाँच जातियों-

मेंसे एक समयमें एकही जातिका बन्ध होता है; अतः जातियाँ भी अध्रुव-बन्धिनी हैं। तथा, चार गतियोंमेंसे एक समयमें एकही गतिका बन्ध होता है; अतः गतियाँ भी अध्रुवबन्धिनी हैं। तथा, शुभ और अशुभ विहायोगतिमेंसे एक समयमें एकका ही बन्ध होता है; अतः वे भी अध्रुवबन्धिनी हैं। तथा, चार आनुपूर्वियोंमेंसे एक समयमें एकका ही बन्ध होता है; अतः वे भी अध्रुवबन्धिनी हैं। इस प्रकार ये तेतीस प्रकृतियाँ अपनी अपनी प्रतिपक्षिणी-विरोधिनी प्रकृति के कारण अध्रुवबन्धिनी हैं।

शेषमेंसे, तीर्थंकरनामकर्म सम्यक्त्वके होनेपर भी किसीके बंधता है और किसीके नहीं बंधता; अतः अध्रुवबन्धी है। तथा, उच्छ्वास नामकर्म पर्याप्तके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर बंधता है; और अपर्याप्तके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर नहीं बंधता; अतः अध्रुवबन्धी है। तथा, उद्योत नामकर्म तिर्यञ्चके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होते रहते, किसीके बंधता है और किसीके नहीं बंधता; अतः अध्रुवबन्धी है। तथा, आतपनामकर्म पृथ्वीकायिकके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होते हुए भी किसीके बंधता है और किसीके नहीं बंधता; अतः अध्रुवबन्धी है। तथा, पराघातनामकर्म पर्याप्तके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर किसी किसीके बंधता है और अपर्याप्तके प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर किसीके भी नहीं बंधता, अतः वह अध्रुवबन्धी है। तथा, त्रसादि दस और स्थावरादि दस प्रकृतियाँ भी अपने अपने प्रायोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर ही बंधती हैं; अतः अध्रुव-बन्धिनी हैं। इस प्रकार नामकर्मकी अट्ठावन प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं।

तथा, उच्च गोत्रका बन्ध होते हुए नीच गोत्रका बन्ध नहीं होता, और नीच गोत्रका बन्ध होते हुए उच्च गोत्रका बन्ध नहीं होता; अतः ये दोनों प्रकृतियाँ विरोधिनी होनेके कारण अध्रुवबन्धिनी हैं। तथा, सातवेदनीय और असातवेदनीय भी परस्परमें एक दूसरेके बन्धके विरोधी होनेके कारण अध्रुवबन्धी हैं।

हास्य और रतिके युगलका बन्ध होते हुए शोक और अरतिके युगलका बन्ध नहीं होता, तथा शोक और अरतिके युगलका बन्ध होते हुए हास्य और रतिके युगलका बन्ध नहीं होता; अतः इन चार प्रकृतियोंका सान्तर बन्ध होता है। इसलिये छठे गुणस्थानतक ये अध्रुवबन्धिनी रहती हैं। छठे गुणस्थानमें शोक और अरतिके बन्धका निरोध होजानेके कारण आगे हास्य और रतिका निरन्तर बन्ध होता है अतः वे ध्रुवबन्धिनी हो जाती हैं। इसी प्रकार वेदनीय और गोत्रकर्ममें भी समझना चाहिये। अर्थात् छठे गुणस्थानतक सातवेदनीय और असातवेदनीय अध्रुवबन्धी हैं। किन्तु छठे गुणस्थानमें असातवेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति होजानेपर आगे सातवेदनीय ध्रुवबन्धी होजाता है। तथा, दूसरे गुणस्थानतक उच्चगोत्र और नीचगोत्र अध्रुवबन्धी हैं। किन्तु दूसरे गुणस्थानमें नीचगोत्रका बन्धविच्छेद होजानेपर, आगे उच्चगोत्र ध्रुवबन्धी होजाता है। तथा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदमेंसे एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है। किन्तु नपुंसकवेद पहले ही गुणस्थानमें बंधता है और स्त्रीवेद दूसरे गुणस्थानतक बंधता है। उसके आगे निरन्तर पुरुषवेदका बन्ध होता है। तथा, चार आयुओंमेंसे एक भवमें एक ही आयुका बन्ध होता है; अतः ये भी अध्रुवबन्धी हैं। इस प्रकार ७३ प्रकृतियाँ[1] अध्रुवबन्धिनी जाननी चाहिये।

---

१ गोमट्टसार कर्मकाण्ड गा० १२५ में तिहत्तर अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों को गिनाते हुए, तीर्थङ्कर, आहारकद्विक, परघात, आतप, उद्योत, उछ्वास और चार आयु, इन ग्यारह प्रकृतियोंको अप्रतिपक्षा बतलाया है। अर्थात् इन प्रकृतियोंकी कोई विरोधिनी प्रकृति नहीं है, फिर भी यतः इनका बन्ध कुछ विशेष अवस्थाओंमें ही होता है अतः इन्हें अध्रुवबन्धिनी कहा है। तथा, शेष बासठ प्रकृतियोंको सप्रतिपक्षा होनेके कारण अध्रुवबन्धिनी बतलाया है।

कर्मप्रकृतिकी यशोविजयकृत टीकामें पृ० ९ पर अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों को गिनाया है।

मूलकर्मोंमेंसे नामकर्मकी अट्ठावन, गोत्रकी दो, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी सात और आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं।

अब बन्ध और उदयकी अपेक्षासे प्रकृतियोंके भङ्ग बताते हैं—

भंगा अणाइसाई अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

अर्थ—इन कर्मप्रकृतियोंमें अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त, इस प्रकार चार भङ्ग होते हैं।

भावार्थ—क्रमानुसार अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनानेके बाद, ध्रुवोदय प्रकृतियोंको बतलाना चाहिये था। किन्तु कर्मप्रकृतियोंके ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्धकी चर्चासे पाठकोंके हृदयमें यह जाननेकी उत्सुकता होना स्वाभाविक था कि कर्मबन्धकी कितनी दशाएँ होती हैं। उस उत्सुकताका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने बन्धके भङ्गोंका कथन किया है। कर्मप्रकृतियोंके ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी होनेके कारण जैसे बन्धकी दशाएँ बतानेका प्रसङ्ग उपस्थित हुआ, उसी तरह आगे ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंको गिनानेके कारण उदयकी दशाएँ भी बतलाना आवश्यक था। अतः उक्त चारों भङ्गोंको बन्धमें भी लगा लेना चाहिये और उदयमें भी। अर्थात् बन्धमें भी उक्त चारों भङ्ग होते हैं और उदयमें भी। चारों भङ्गोंका लक्षण क्रमशः इस प्रकार है—

अनादि-अनन्त—जिस बन्ध या उदयकी परम्पराका प्रवाह अनादि-

---

१ पञ्चसग्रह में कहा है—

"होइ अणाइ-अणंतो अणाइ-संतो य साइ-संतो य।
बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इह तिविहो ॥ २१६ ॥"

अर्थ—बन्ध तीन प्रकारका होता है—अनादिअनन्त, अनादिसान्त और सादिसान्त। अभव्योंमें अनादिअनन्त बन्ध होता है, भव्योंमें अनादिसान्त बन्ध होता है और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत हुए जीवोंमें सादिसान्त बन्ध होता है।

कालसे बिना किसी रुकावटके चला आता है, मध्यमें न कभी व्युच्छिन्न हुआ और न आगे कभी होगा, उस बन्ध या उदयको अनादि-अनन्त कहते हैं। ऐसा बन्ध या उदय अभव्य जीवके ही होता है।

अनादि-सान्त–जिस बन्ध अथवा उदयकी परम्पराका प्रवाह अनादिकालसे बिना किसी रोकके चला आनेपर भी आगे व्युच्छिन्न हो जायेगा, उसे अनादि-सान्त कहते हैं। यह भव्यके ही होता है।

सादि-अनन्त–यह भङ्ग किसी भी बन्ध या उदय प्रकृतिमें घटित नहीं होता; क्योंकि जो बन्ध अथवा उदय सादि होता है, वह कभी भी अनन्त नहीं हो सकता।

सादि-सान्त–जो बन्ध अथवा उदय बीचमें रुककर पुनः प्रारम्भ होता है और कालान्तरमें पुनः व्युच्छिन्न हो जाता है, उस बन्ध अथवा उदयको सादिसान्त कहते हैं।

अब ध्रुवबन्धिनी और ध्रुवोदया प्रकृतियोंमें उक्त भङ्गोंको घटाते हैं—

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइअवज्जभंगतिगं।
मिच्छंमि तिन्नि भंगा, दुहावि अधुवा तुरिअ भंगा ॥५॥

अर्थ—ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें पहला और दूसरा, अर्थात् अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त भङ्ग होता है। ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीसरे सादि-अनन्त भङ्गको छोड़कर बाकीके तीनों भङ्ग होते हैं। मिथ्यात्वप्रकृतिमें भी अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादिसान्त, ये तीन ही भङ्ग होते हैं। तथा, दोनों ही प्रकारकी अध्रुवप्रकृतियोंमें, अर्थात् अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयामें, केवल चतुर्थभङ्ग सादिसान्त ही होता है।

भावार्थ—चतुर्थ गाथाके उत्तरार्द्धमें अनादि-अनन्त आदि चार भङ्गोंका केवल निर्देश किया था। यहाँ बतलाया गया है कि उन चार भङ्गोंमेंसे किन किन प्रकृतियोंमें कौन कौन भङ्ग होते हैं ? हम पहले लिख

आये हैं कि जैसे प्रकृतियोंके ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्धके कारण बन्धके भङ्ग बतलानेकी आवश्यकता हुई, उसी प्रकार आगे प्रकृतियोंके ध्रुव-उदय और अध्रुव-उदयका निर्देश किया जायेगा, अतः उदयके भी भङ्ग बतलाना आवश्यक हुआ। क्रमके अनुसार तो ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंको गिनानेके बाद ही उदयप्रकृतियोंमें अनादि-अनन्त आदि भङ्ग बतलाने चाहिये थे। किन्तु वैसा करनेसे कुछ पुनरुक्ति हो जानेकी संभावना थी और इसलिये ग्रन्थके विस्तारमें कुछ वृद्धि हो जानेका भय भी था। अतः सरलता और संक्षेपका विचार करके, उदय-प्रकृतियोंकी गणना करनेसे पूर्वही, बन्ध-प्रकृतियोंके साथही साथ उदयप्रकृतियोंमें भी भङ्गोंका निर्देश कर दिया है; जिसका खुलासा इस प्रकार है—

निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण, इन छब्बीस ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें अभव्यजीवोंकी अपेक्षासे अनादि-अनन्त भङ्ग होता है; क्योंकि अभव्यजीवोंके ध्रुवोदयप्रकृतियोंके उदयका न तो आदिही है और न अन्तही होता है। तथा, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन चौदह प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंके अनादिकालसे है। किन्तु बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जब इन प्रकृतियोंके अनादि उदयका विच्छेद होजाता है, तब इनका उदय अनादि सान्त कहा जाता है। इसी प्रकार निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, शेष बची इन बारह ध्रुवोदय प्रकृतियोंका अनादि उदय जब सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें व्युच्छिन्न होजाता है, तब इनका उदय अनादिसान्त कहलाता है। इस प्रकार ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें केवल दो ही भङ्ग घटित होते हैं—एक अनादि-अनन्त, जो अभव्यकी अपेक्षासे होता है, और दूसरा अनादि-सान्त, जो भव्यकी अपेक्षासे होता है। शेष दो भङ्ग—सादि-अनन्त और सादिसान्त घटित नहीं होते हैं; क्योंकि

किसी प्रकृतिके उदयका विच्छेद होकर यदि पुनः उसका उदय होने लगता है तो वह उदय सादि कहा जाता है। किन्तु उक्त ध्रुवोदयप्रकृतियोंके उदयका विच्छेद बारहवें और तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और उन गुणस्थानों में पहुँच जानेके बाद कोई जीव नीचे नहीं आता, सभी मुक्त होजाते हैं; अतः उक्त प्रकृतियोंका सादि उदय नहीं होता, और इसलिये शेष दो भङ्ग भी नहीं होते।

ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीसरे भङ्गके सिवाय शेष तीन भङ्ग ही घटित होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

पहला भङ्ग अभव्यजीवोंकी अपेक्षा से होता है; क्योंकि अभव्यजीव के ध्रुवबन्धिप्रकृतियों का बन्ध अनादि अनन्त होता है। पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियोंके बन्धकी अनादि सन्तान जब दसवें गुणस्थानके अन्तमें व्युच्छिन्न होजाती है, तब दूसरा भङ्ग अनादि-सान्त घटित होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें उक्त चौदह प्रकृतियोंका बन्ध न करके, मरण होजानेके कारण अथवा ग्यारहवें गुणस्थानका समय पूरा होजानेके कारण, कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर, जब पुनः उक्त चौदह प्रकृतियोंका बन्ध करता है और दसवें गुणस्थानमें पहुँच कर पुनः उनकी बन्धव्युच्छित्ति करता है, तब चतुर्थ सादिसान्त भङ्ग घटित होता है।

संज्वलनकषायका अनादिकालसे बन्ध करने वाला कोई जीव नौवें गुणस्थानमें पहुँच कर जब उसके बन्धका निरोध करता है, तब दूसरा भङ्ग अनादिसान्त होता है। वही जीव नौवें गुणस्थानसे च्युत होकर जब पुनः संज्वलन कषायका बन्ध करता है और नौवे गुणस्थानमें पहुँच कर जब पुनः उसके बन्धका निरोध करता है, तब चौथा सादिसान्त भङ्ग होता है। निद्रा, प्रचला, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, भय और जुगुप्सा, इन तेरह प्रकृतियोंका अनादि बन्ध जब आठवें गुणस्थानमें व्युच्छिन्न होता है, तब दूसरा अनादि-सान्त भङ्ग होता है।

और आठवें गुणस्थानसे गिरनेके पश्चात् जब पुनः उक्त प्रकृतियोंका सादिबन्ध होता है और कालान्तरमें आठवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर जब पुनः उनके बन्धका विच्छेद होजाता है, तब चौथा सादि-सान्त भङ्ग होता है। चारों प्रत्याख्यानावरण कषायोंका बन्ध पाचवें गुणस्थानतक अनादि है। छठे आदि गुणस्थानोंमें उनके बन्धका अभाव होजानेके कारण सान्त है। अतः दूसरा भङ्ग होता है। वहांसे गिरकर पुनः उनका बन्ध होने पर, जब पुनः छठे आदि गुण स्थानोंमें उनके बन्धका अभाव होता है, तब चौथा भङ्ग होता है। चौथे गुणस्थानतक अप्रत्याख्यानावरण कषायका अनादि बन्ध करके जब पाँचवें आदि गुणस्थानोंमें उसका अबन्ध करता है, तब दूसरा भङ्ग होता है। वहां से गिरकर पुनः उसका बन्ध करके जब पुनः पाँचवें आदि गुणस्थानोंमें उसका अबन्ध करता है, तब चौथा भङ्ग होता है। मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धि आदि तीन और अनन्तानुबन्धीकषायका अनादिबन्धक मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्वकी प्राप्ति होजानेपर उनका बन्ध नहीं करता, तब दूसरा भङ्ग होता है। पुनः मिथ्यात्वमें गिरकर, उक्त प्रकृतियोंका बन्ध करके जब पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उनका बन्ध नहीं करता तब चौथा भङ्ग होता है। इस प्रकार ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीन भङ्ग होते हैं। तीसरा भङ्ग सादि-अनन्त नहीं होता है।

गाथाके प्रारम्भमें ही ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें दो भङ्ग बतलाये हैं। किन्तु मिथ्यात्व नामक ध्रुवोदयप्रकृतिमें तीन भङ्ग होते हैं। इसी बातको **'मिच्छम्मि तिन्नि भंगा'** से बतलाया है। पहला अनादि अनन्त भङ्ग अभव्योंके होता है, क्योंकि उनके मिथ्यात्वके उदयका अभाव न कभी हुआ और न होगा। दूसरा अनादिसान्त भङ्ग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके होता है, क्योंकि पहले पहल सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उसके मिथ्यात्वके उदयका अभाव होजाता है। किन्तु सम्यक्त्वके छूट जानेके बाद, पुनः मिथ्यात्वका उदय होनेपर, जब पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेके कारण मिथ्यात्वके

उदयका अन्त होता है, तब तीसरा सादिसान्त भङ्ग घटित होता है। इस प्रकार ध्रुवोदया मिथ्यात्वप्रकृतिमें तीन भङ्ग होते हैं, और शेष ध्रुवोदय-प्रकृतियोंमें दो भङ्ग होते हैं[1]।

अध्रुवोदया और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंमें केवल एक सादिसान्त भङ्ग ही होता है, क्योंकि उनका बन्ध और उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नहीं होता। इस प्रकार बन्ध और उदय प्रकृतियोंमें अनादि-अनन्त आदि भङ्गोंका क्रम जानना चाहिये।

---

१ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें प्रकृतिबन्धका निरूपण करते हुए बन्धके चार प्रकार बतलाये हैं—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। तथा उनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"सादी अबंधबंधे सेढिअणारूढगे अणादी हु।
अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो ॥ १२३ ॥"

अर्थात्–"बन्ध न होकर पुनः बन्धके होनेको सादिबन्ध कहते हैं। जिस गुणस्थान तक जिस कर्मका बन्ध होता है, उस गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानको यहाँ श्रेणी कहा है। उस श्रेणिमें जिस जीवने पैर नहीं रखा है, उसके उस प्रकृतिका अनादिबन्ध होता है। अभव्य जीवके ध्रुवबन्ध होता है और भव्यजीवके अध्रुवबन्ध होता है।"

इस परिभाषासे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने ध्रुवसे अनन्तका और अध्रुवसे सान्तका ग्रहण किया है। क्योंकि अभव्यका बन्ध अनन्त और भव्यका बन्ध सान्त होता है। आगे ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंमे इन भङ्गोंको निम्न प्रकार बतलाया है—

"घातितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ।
सत्तेतालधुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा ॥ १२४ ॥"

अर्थात्–"सैतालीस ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें उक्त चारों प्रकारके बन्ध होते हैं और शेष ७३ अध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें दो ही बन्ध–सादि और अध्रुव होते हैं।"

३. ध्रुवोदयद्वार

ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका तथा प्रसङ्गवश उक्त प्रकृतियोंमें तथा ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंमें भङ्गोंका कथन करके अब ध्रुवोदय[1]प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

निमिण थिर-अथिर अगुरुय, सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना।
नाणं-तराय-दंसण-मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

अर्थ—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, चार दर्श-

---

कर्मग्रन्थमें ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमें तीन भङ्ग बतलाये हैं और कर्मकाण्डमें चार, किन्तु दोनोंकी आन्तरिक तुलना करनेपर दोनोंमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता; क्योंकि कर्मग्रन्थमें संयोगी भङ्ग बतलाये गये हैं, जैसे अनादि-अनन्त, और कर्मकाण्डमें प्रत्येक, यथा अनादि और ध्रुव। इसीलिये कर्मग्रन्थमें सादि-अनन्त भङ्ग न बन सकनेके कारण तीन ही भङ्ग बतलाये हैं; क्योंकि प्रकृतियोंमें सब संयोगी भङ्ग नहीं बन सकते, परन्तु सब प्रत्येक भङ्ग बन जाते हैं। अध्रुवप्रकृतियोंमें कर्मग्रन्थमें केवल एक सादिसान्त भङ्ग ही बतलाया है और कर्मकाण्डमें दो–सादि और अध्रुव। किन्तु इसमें भी कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सादि और अध्रुव अर्थात् सान्त को मिलानेसे एक सादिसान्त भङ्ग तैयार होता है और दोनोंको अलग अलग गिननेसे वे दो हो जाते हैं।

इस प्रकार बन्धप्रकृतियोंमें तो कर्मकाण्डमें सादि आदि भङ्ग बतला दिये हैं किन्तु उदयप्रकृतियोंमें उनकी कोई चर्चा नहीं की गई है।

१ पञ्चसंग्रहमें ध्रुवोदयप्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है–

"निम्माणथिराथिरतेयकम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुहं।
नाणंतरायदसगं, दंसणचउ मिच्छ निच्चुदया ॥ १३४ ॥"

नावरण और मिथ्यात्व, ये सत्ताईस प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं। अर्थात् अपने अपने उदयविच्छेदकाल तक इनका उदय बराबर बना रहता है।

भावार्थ–इस गाथामें ध्रुवोदयप्रकृतियोंके[1] नाम बतलाये हैं। कर्मोंकी उदयप्रकृतियाँ १२२ हैं। उनमें २७ प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं। उनमें निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण तथा वर्णादि चार, ये बारह ध्रुवोदयप्रकृतियाँ नामकर्मकी हैं। चारों गतिके जीवोंके इनका उदय सर्वदा रहता है। तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें इनके उदयका अन्त होता है। किन्तु वहां तक सभी जीवोंके इन बारह प्रकृतियोंका उदय रहता है। इसीसे इन्हें ध्रुवोदया कहते हैं। इनमें स्थिर, अस्थिर तथा शुभ और अशुभ ये चार प्रकृतियाँ विरोधिनी कही जाती हैं। किन्तु ये बन्धकी अपेक्षासे विरोधिनी हैं, उदयकी अपेक्षासे विरोधिनी नहीं हैं। स्थिर तथा अस्थिर का उदय एक साथ होता है, क्योंकि शरीरमें स्थिर नामकर्मके उदयसे हाड़ दाँत वगैरह स्थिर होते हैं और अस्थिर नामकर्मके उदयसे रुधिर, मूत्रादिक अस्थिर होते हैं। इसी प्रकार, शुभनाम कर्मके उदयसे मस्तक आदि शुभ अङ्ग होते हैं और अशुभनामकर्मके उदयसे पैर वगैरह अशुभ अङ्ग होते हैं। अतः उदयकी अपेक्षासे ये प्रकृतियाँ अविरोधिनी हैं।

---

१ कर्मकाण्डमें वैसे तो ध्रुवोदयप्रकृतियोंको नहीं गिनाया है, किन्तु नवप्रश्नचूलिका नामक अधिकारमें स्वोदयबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाते समय ध्रुवोदयप्रकृतियोंका निर्देश करना पड़ा है, क्योंकि ध्रुवोदयप्रकृतियाँ ही स्वोदयबन्धिनी हैं। यथा–

"...............मिच्छं सुहमस्य घादीओ ॥ ४०२ ॥
तेजदुगं वण्णचऊ थिरसुहजुगलगुरुणिमिण धुवउदया।"

अर्थात्–मिथ्यात्व, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें व्युच्छिन्न होनेवाली घातिकर्मोंकी १४ प्रकृतियाँ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, स्थिर और शुभका युगल, अगुरुलघु, निर्माण, ये ध्रुवोदयप्रकृतियाँ स्वोदयबन्धिनी हैं। अर्थात् अपने उदयमें ही इनका बन्ध होता है।

पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक बराबर होता है, अतः इन्हें ध्रुवोदया कहा है। मोहनीयकर्मकी एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका विच्छेद मिथ्यात्वगुणस्थानके अन्तमें होता है। अतः पहले गुणस्थानमें रहने वाले जीवके मिथ्यात्वका उदय ध्रुव होता है। इसलिये यह प्रकृति ध्रुवोदया है। इस प्रकार नामकर्मकी १२, ज्ञानावरणकी ५, अन्तरायकी ५, दर्शनावरणकी ४ और मोहनीयकी १, कुल सत्ताईस प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं।
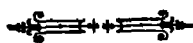
४. अध्रुवोदयद्वार

अब चतुर्थद्वारमें अध्रुवोदयप्रकृतियोंको गिनाते हैं—

थिर-सुभियर विणु अधुवबन्धी मिच्छ विणु मोहधुवबन्धी।
निद्दो-वघाय-मीसं, संमं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७॥

अर्थ—स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभके बिना शेष ६९ अध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, मिथ्यात्वके बिना मोहनीयकर्मकी १८ ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, पाँच निद्रा, उपघात, मिश्र और सम्यक्त्व, ये ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं।

भावार्थ—इससे पूर्वकी गाथामें २७ ध्रुवोदयप्रकृतियोंको गिनाया है। और आठों कर्मोंकी कुल उदयप्रकृतियाँ १२२ हैं। अतः शेष ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं, जो इस गाथामें बतलाई गई हैं। उनमें स्थिर आदि चारके सिवाय शेष ६९ अध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं। उनहत्तर प्रकृतियोंमेंसे तीर्थकर, उछ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, इन पाँच प्रकृतियों का उदय किसी जीवके होता है और किसी जीवके नहीं होता है। तथा शेष ६४ प्रकृतियाँ जैसे बन्धदशामें विरोधिनी हैं वैसेही उदयदशामें भी विरोधिनी हैं, अतः अध्रुवोदया हैं।

तथा, सोलहकषाय, भय और जुगुप्सा, मोहनीयकर्मकी ये अट्ठारह

ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं; क्योंकि इनमें क्रोध आदिके उदयके समय मान आदिका उदय नहीं होता है। अतः ये उदयकी अपेक्षासे तो परस्पर में विरोधिनी हैं, किन्तु बन्धकी अपेक्षासे विरोधिनी नहीं हैं; क्योंकि क्रोधादि चारों कषायोंका बन्ध एक समयमें होता है। इसलिये बन्धकी अपेक्षासे तो ध्रुवबन्धिनी कही गई हैं किन्तु उदयकी अपेक्षासे अध्रुवोदया हैं। तथा, भय और जुगुप्साका उदय किसीके किसी समय होता है और किसीके किसी समय नहीं होता। अतः ये दोनों भी अध्रुवोदया हैं। मोहनीयकी ध्रुवबन्धि-प्रकृतियोंमें केवल एक मिथ्यात्वप्रकृतिको छोड़ दिया गया है, क्योंकि उसका ध्रुव उदय होता है, अतः वह ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें गिनाई गई है।

तथा, दर्शनावरणकर्मकी प्रकृतियोंमेंसे पाँच निद्राओंका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता। तथा, ये पाँच निद्राएँ परस्परमें उदयविरोधिनी भी हैं, अर्थात् एक समयमें एकही निद्राका उदय होता है। अतः ये अध्रुवोदया हैं। उपघातनामका उदय किसी किसी जीवके कभी कभी होता है, अतः वह अध्रुवोदयी है। मिश्रप्रकृतिके उदयकी विरोधिनी अन्यप्रकृतियाँ हैं, क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीयके उदयकालमें उसका उदय नहीं होता है। अतः वह भी अध्रुवोदया है। तथा, सम्यक्त्वमोहनीयका उदय वेदकसम्यग्दृष्टिके ही होता है, और वेदकसम्यक्त्वका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल[1] ६६ सागर अधिक चार पूर्वकोटी है। अतः

---

१ "सम्मतस्स सुयस्स य छावट्ठी सागरोवमाइ ठिई।" आव० नि०। इस पर भाष्यकार लिखते हैं–

"विजयाइसु दोवारे गयस्स तिण्ण च्चुए व छावट्ठी।
नरजम्म पुव्वकोडी पुहुत्तमुक्कोसओ अहियं॥३२९४॥"विशे०भा०।

अर्थ–सम्यक्त्वकी स्थिति छियासठ सागरसे कुछ अधिक है। विजयादिक में दो वार जाने वालेके अथवा अच्युत स्वर्गमें तीनबार जाने वालेके छियासठ सागर होते हैं। और मनुष्यजन्मका पूर्वकोटीपृथक्त्वकाल अधिक होता है।

यह प्रकृति भी अध्रुवोदया है। इस प्रकार ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं। इनके उदयका विच्छेद होने पर भी पुनः उदय होने लगता है।

शङ्का–यदि अध्रुवोदयकी यही परिभाषा है तो मिथ्यात्वको भी अध्रुवोदय कहना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उसके उदयका विच्छेद होजाता है, और सम्यक्त्वके छूट जाने पर पुनः उसका उदय होने लगता है।

उत्तर–उदयके विच्छेदके न होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिके निमित्तसे जिन प्रकृतियोंका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता है, उन्हें अध्रुवोदया कहते हैं। जैसे, बारहवें गुणस्थान तक निद्राका उदय बतलाया है। किन्तु उसका उदय सर्वदा नहीं होता। परन्तु मिथ्यात्व-कर्ममें यह बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका उदय केवल पहलेही गुणस्थानमें बतलाया है और वहाँ उसके उदयका प्रवाह एक क्षणके लिये भी नहीं रुकता, अतः वह ध्रुवोदय ही है[1]।

यहाँ पूर्वकोटीपृथक्त्वसे तीन अथवा चार पूर्वकोटी लेना चाहिये, जैसा कि कोट्याचार्य ने अपनी टीकामें लिखा है–

"तिसृभिश्चतसृभिर्वा पूर्वकोटिभिरधिकानीति शेषः।" पृ० ७८२।

१ कर्मप्रकृतिकी यशोविजयकृत टीकामें ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंको गिनाया है–पृ० १०।

५-६ ध्रुव-अध्रुवसत्ताकद्वार

पञ्चम और षष्ठ द्वारका एक साथ उद्घाटन करते हुए दो गाथाओं-से ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

तस-वन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥ ८ ॥
खगई-तिरिदुग नीयं धुवसंता संम मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणा-ऊ हारसगु-च्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥

अर्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये त्रसादिक बीस प्रकृतियाँ, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, ये वर्णादि बीस प्रकृतियाँ, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, तैजसतैजसबन्धन, तैजसकार्मणबन्धन, कार्मणकार्मणबन्धन, तैजससङ्घातन, कार्मणसङ्घातन, ये तैजसकार्मणसप्तक, वर्णचतुष्क, तैजस और कार्मणके सिवाय शेष इकतालीस ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, तीन वेद, आकृति-त्रिक अर्थात् ६ संस्थान, ६ संहनन और पाँच जाति, वेदनीय, हास्य रति और शोक अरतिके दो युगल, औदारिकशरीर, औदारिकअङ्गोपाङ्ग, औदारिकसङ्घात, औदारिकऔदारिकबन्धन, औदारिकतैजसबन्धन, औदा-रिककार्मणबन्धन, औदारिकतैजसकार्मणबन्धन, ये सात औदारिक प्रकृतियाँ, उच्छ्वास, उद्योग, आतप और पराघात, ये उच्छ्वास आदि चार, दो विहायोगति, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, नीचगोत्र, ये एकसौ तीस प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं— सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके इनकी सत्ता रहती है। तथा, सम्यक्त्व, मिश्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-सङ्घातन, वैक्रियवैक्रियबन्धन, वैक्रियतैजसबन्धन, वैक्रियकार्मणबन्धन, वैक्रि-

यतैजसकार्मणबन्धन, ये वैक्रिय एकादश, जिननाम, चार आयु, आहारकशरीर, आहारकअङ्गोपाङ्ग,[1] आहारकसङ्घातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन, आहारककार्मणबन्धन, आहारकतैजसकार्मणबन्धन, ये आहारकसप्तक, और उच्चगोत्र, ये अठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं।

भावार्थ—इन दो गाथाओंमें ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंकी गणनाकी है। जिसमें १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं और २८ प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं। दोनोंका जोड़ मिलकर १५८ होता है, जो पूर्वोक्त उदयप्रकृतियोंसे ३६ अधिक है। इस आधिक्यका कारण यह है कि बन्ध और उदय प्रकृतियोंमें नामकर्मकी प्रकृतियोंमेंसे कुछ प्रकृतियाँ परस्परमें अन्तर्भूत करली जाती हैं। जैसे, बन्ध और उदयमें वर्णादि चार प्रकृतियोंका ही समावेश किया जाता है और सत्तामें प्रत्येकके भेद लेकर उनकी बीस प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। इस प्रकार सोलह प्रकृतियाँ तो ये बढ़ जाती हैं। तथा, बन्ध और उदयमें बन्धननामकर्म और सङ्घातन नामकर्मकी प्रकृतियों को पृथक्से न गिनकर शरीरनामकर्ममें ही उनका समावेश कर लेते हैं। बन्धन नामकर्मकी १५ प्रकृतियाँ हैं और सङ्घात नामकर्मकी पाँच, इस प्रकार सत्तामें बीस प्रकृतियाँ ये बढ़ जाती हैं। सब मिलकर ३६ प्रकृतियाँ[1] सत्तामें अधिक हो जाती हैं। इन १५८ प्रकृतियोंमेंसे १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि बन्ध और उदयमें ध्रुवबन्धिनी और ध्रुवउदयवाली प्रकृतियोंकी संख्या अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवउदयवाली प्रकृतियोंकी संख्यासे बहुत कम थी। किन्तु सत्तामें उनसे बिलकुल विपरीत दशा है। इसका कारण यह है कि जिस समय किसी प्रकृतिका बन्ध हो रहा है उस समय उस प्रकृतिका उदय भी होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार जिस समय किसी प्रकृतिका उदय

---

१ कर्म प्रकृतियोंके भेदप्रभेदों और उनका स्वरूप जाननेके लिये इसी मण्डलसे प्रकाशित प्रथम कर्मग्रन्थ देखना चाहिये।

हो रहा है, उस समय उसका बन्ध भी होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जो प्रकृति बन्धदशामें है और जिसका उदय हो रहा है, उन दोनोंकी ही सत्ता-का होना आवश्यक है। अतः बन्धदशाकी और उदयदशाकी प्रकृतियाँ सत्तामें रहती ही हैं। तथा, मिथ्यात्वदशामें जिनकी सत्ता नियमसे नहीं होती, ऐसी प्रकृतियाँ भी कम ही हैं। इन कारणोंसे ध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंकी संख्या अधिक है और अध्रुवसत्ताकाकी कम। अस्तु,

त्रसादि बीस, वर्णादि बीस और तैजसकार्मणसप्तककी सत्ता सभी संसारी जीवोंके रहती है, अतः ये ध्रुवसत्ताक हैं। सैतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंमेंसे वर्णचतुष्क और तैजस तथा कार्मणको इसलिये कमकर दिया है कि उन्हें गाथाके प्रारम्भमें ही अलगसे गिना दिया है। वैसे तो जो ध्रुवब-न्धिनी हैं उन्हें ध्रुवसत्ताका होना ही चाहिये; क्योंकि जिनका बन्ध सर्वदा होता है उनकी सत्ता सर्वदा क्यों न रहेगी? तीनों वेदोंका बन्ध और उदय अध्रुव बतलाया था किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है, क्योंकि वेदोंका बन्ध बारी बारी-से होता रहता है। आकृतित्रिक अर्थात् संस्थान संहनन, और जाति भी पूर्ववत् ध्रुवसत्ताक हैं। परस्परमें दलोंकी संक्रान्ति होनेकी अपेक्षासे वेदनीय-द्विक ध्रुवसत्ताक है। हास्य, रति और अरति शोककी सत्ता नौवें गुणस्थान तक सभी जीवोंके होती है। औदारिकसप्तककी सत्ता भी सर्वदा रहती है, क्योंकि मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिमें इनका उदय रहता है और देवगति तथा नरकगतिमें इनका बन्ध होता है। इसी प्रकार उच्छ्वास आदि चार, विहा-योगतिका युगल, तिर्यग्द्विक और नीचगोत्रकी भी सत्ता सर्वदा रहती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके ये प्रकृतियाँ सर्वदा रहती हैं, इसीसे इन्हें ध्रुवसत्तावाली कहा जाता है।

शङ्का–अनन्तानुबन्धीकषायका उद्वलन हो जाता है अतः उसे भी अध्रुवसत्ताक मानना चाहिये।

उत्तर–सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही अनन्तानुबन्धी कषायका उद्वलन होता

है, और अध्रुवसत्ताकताका विचार उन्हीं जीवोंकी अपेक्षासे किया जाता है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणोंको प्राप्त नहीं किया है। अतः अनन्तानुबन्धीको ध्रुवसत्ताक ही मानना चाहिये। यदि उत्तरगुणोंकी प्राप्तिकी अपेक्षासे अध्रुवसत्ताकताको माना जायेगा, तो केवल अनन्तानुबन्धी कषाय ही अध्रुवसत्ताक नहीं ठहरेगी, बल्कि सभी प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका कहलायेंगी, क्योंकि उत्तरगुणोंके होनेपर सभी प्रकृतियाँ अपने अपने योग्यस्थान में सत्तासे विच्छिन्न हो जाती हैं।

शेष अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका[1] हैं; क्योंकि सम्यक्त्व और

---

१ कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीकामें, पृष्ठ १० पर ध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ तो १३० ही बतलाई हैं किन्तु अध्रुवसत्ताका १८ बतलाई हैं। इसका कारण यह है कि उसमें वैक्रिय एकादशके स्थानमें वैक्रियषट्क ही लिया गया है, और आहारक सप्तकके स्थानमें आहारकद्विक लिया है। इस प्रकार वैक्रियसंघातन, वैक्रियवैक्रियबन्धन, वैक्रियतैजसबन्धन, वैक्रियकार्मणबन्धन, वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन, आहारकसंघातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन, आहारककार्मणबन्धन और आहारकतैजसकार्मणबन्धन, इन दस प्रकृतियोंको सत्तामें सम्मिलित नहीं किया है। इसपर **कर्मप्रकृतिमें** एक टिप्पणी है, जिसका आशय है कि **पञ्चसङ्ग्रहके** तृतीयद्वार की ३३ वीं गाथाके चतुर्थपादमें **'अट्ठारस अधुवसत्ताओ'** आया है। उसीके आधारपर उपाध्यायजीने १८ अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ बतलाई हैं। किन्तु मलयगिरिकी वृत्तिमें गर्गर्षिके मतानुसार १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताकाक ही हैं। उसका अनुसरण करके उपाध्यायजीने भी १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका बतलाई हैं।

पञ्चसङ्ग्रह में १८ अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंको इसप्रकार गिनाया है-

"उच्चं तित्थं सम्मं मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि।

मणुदुग आहारदुगं अट्ठारस अधुवसत्ताओ॥ १५१॥"

अर्थात्-उच्चगोत्र, तीर्थङ्कर, सम्यक्त्व, मिश्र, वैक्रियषट्क, चारों आयु,

मिश्रकी सत्ता अभव्योंके तो होती ही नहीं, किन्तु बहुतसे भव्योंके भी नहीं होती है। तथा, तेजकाय और वायुकायके जीव मनुष्यद्विककी उद्वलना कर देते हैं, अत: मनुष्यद्विककी सत्ता उनके नहीं होती है। वैक्रिय आदि ग्यारह प्रकृतियोंकी सत्ता अनादि निगोदिया जीवके नहीं होती, तथा जो जीव उन का बन्ध करके एकेन्द्रिय में जाकर उद्वलन कर देते हैं, उनके भी नहीं होती है। तथा, सम्यक्त्वके होते हुए भी जिननाम किसीके होता है और किसीके नहीं होता है। तथा, स्थावरोंके देवायु और नरकायुका, अहमिन्द्रोंके तिर्यगायुका, तेजकाय, वायुकाय और सप्तमनरकके नारकियोंके मनुष्यायुका, सर्वथा बन्ध न होनेके कारण उनकी सत्ता नहीं है। तथा, संयमके होनेपर भी आहारकसप्तक किसीके होते हैं और किसीके नहीं होते। तथा उच्चगोत्र भी अनादि निगोदिया जीवोंके नहीं होता, उद्वलन हो जानेपर तेजोकाय और वायुकायके भी नहीं होता। अत: ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं।

अब तीन गाथाओंके द्वारा, गुणस्थानों में कुछ प्रकृतियोंकी ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरूपण करते हैं—

पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥

अर्थ—आदिके तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्वमोहनीयकी सत्ता अवश्य होती है। और असंयत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर आठ गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी सत्ता भजनीय है, अर्थात् किसीके होती है और किसीके नहीं होती। सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता नियमसे होती है। किन्तु सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टि आदि दस गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता 'वा' अर्थात् विकल्पसे होती है।

भावार्थ—इस गाथा में मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके

मनुष्यद्विक और आहारकद्विक, ये अठारह अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ हैं।

अस्तित्वका विचार गुणस्थानों में किया है और बतलाया है कि किस गुण-स्थानमें ये नियमसे रहती हैं और किस गुणस्थानमें अनियमसे। इसको स्पष्ट करनेके लिये मोहनीयकर्मकी इन प्रकृतियोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा।

ऊपर बन्ध, उदय और सत्व प्रकृतियोंको बतलाते समय बन्ध-प्रकृतियोंकी संख्या १२०, उदयप्रकृतियोंकी संख्या १२२ और सत्वप्रकृतियोंकी संख्या १५८ बतला आये हैं। उदय और सत्व प्रकृतियोंकी संख्या में अन्तर होनेका कारण तो वहीं बतला दिया है, किन्तु बन्ध और उदय प्रकृतियांकी संख्यामें अन्तर पड़नेका कारण नहीं बतलाया है। उसे यहाँ बतलाते हैं।

कर्म प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्ताके सम्बन्धमें एक सामान्य नियम यह है कि जिन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध होता है, बन्ध होनेके पश्चात् वे ही कर्मप्रकृतियाँ सत्तामें रहती हैं, और उदयकाल आनेपर उनका ही उदय होता है। विचारसे भी यही बात प्रमाणित होती है, क्योंकि जिन कर्मोंको बांधा ही नहीं, उनका अस्तित्व और उदय कैसे हो सकता है? किन्तु इस सामान्य नियमका भी एक अपवाद है। दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन प्रकृतियोंमेंसे केवल एक मिथ्यात्वमोहनीयका ही बन्ध होता है, शेष दो प्रकृतियाँ— सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय बन्धके बिना ही उदयमें आती हैं। इसका कारण निम्न प्रकार है—

जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम वार सम्यक्त्व[1] ग्रहण करनेके

---

१ "**सब्बुवसमणा मोहस्सेव उ तस्सुवसमकियाजोग्गो।**
पञ्चेदिओ उ सन्नी पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो ॥१॥" **कर्मप्रकृति(उपशमना०)**
"**लद्धितिगजुत्तो'त्ति-पंचिंदितो सण्णी पज्जतो एयाहिं लद्धीहिं सहितो, अहवा उवसमलद्धी उवएससवणलद्धी पउग्गलद्धिरिति एयाहिं सहिओ**"। चूर्णि।

अभिमुख होता है, तो तीन लब्धियोंसे युक्त होता हुआ करणलब्धिको करता है। करणका अर्थ परिणाम होता है और लब्धिका अर्थ प्राप्ति या शक्ति होता है। अर्थात् उस समय उस जीवको ऐसे ३ उत्कृष्ट परिणामोंकी प्राप्ति होती है, जो अनादि कालसे पड़ी हुई मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थि अर्थात् गाँठका भेदन

अर्थात्-सर्वोपशमना मोहनीयकर्मकी ही होती है। जो जीव उसका पूरा पूरा उपशमन करनेके योग्य है वह पञ्चेन्द्रिय, सैनी और पर्याप्तक इन तीन लब्धियों से, अथवा उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि और प्रायोग्य-लब्धि अर्थात् तीनकरणोंमें कारणभूत उत्कृष्ट योगलब्धिसे युक्त होता है। अर्थात् पञ्चेन्द्रिय सैनी पर्याप्तक जीवही उपशमना वगैरह लब्धियोंके होनेपर मोहनीयकर्मका सर्वोपशमन करता है।

लब्धिसार में क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करणलब्धि, इस प्रकार पांच लब्धियाँ बतलाई हैं। यथा-

"खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्तचारित्ते ॥ ३ ॥"

इनमेंसे प्रारम्भ की चार लब्धियाँ साधारण हैं-भव्य और अभव्य दोनों के होती हैं। किन्तु करणलब्धि भव्य ही के सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्तिके समय होती है।

आगे गा० ४, ५, ६, वगैरहमें इन लब्धियों का स्वरूप बतलाया है।

१ विशेषावश्यक भाष्यमें इस ग्रन्थिका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है-

"गंठित्ति सुदुब्भेयो कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥ १२०० ॥"

अथात्-कर्मोसे होनेवाले जीवके तीव्र रागद्वेषरूपी परिणामोंको ग्रन्थि कहते हैं। कठोर पची हुई सूखी गाँठकी तरह, इस कर्मग्रन्थिका भी भेदन करना अर्थात् खोलना बड़ा कठिन कार्य है।

करनेमें समर्थ होते हैं। ये परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—यथाप्रवृत्तकरण[1], अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। ये क्रमशः होते हैं और इनमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। जब तक करणलब्धिकी समाप्ति होती है, तब तक जीवके प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं। प्रथम यथाप्रवृत्तकरणमें वर्तमान जीव प्रशस्त प्रकृतियोंका प्रतिसमय अनन्तगुणा अनुभागबन्ध करता हैं और अप्रशस्त प्रकृतियोंका प्रतिसमय अनन्तवें भाग मात्र अनुभागबन्ध करता है। अर्थात् प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध उत्तरोत्तर अधिक अधिक होता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका हीन हीन होता जाता है। इसी प्रकार स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर हीन हीन होता जाता है। दूसरे अपूर्वकरणमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणाम होते हैं। और इस करणके पहले ही समयसे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और स्थितिबन्ध, ये चार नई बातें प्रारम्भ होती हैं। अर्थात् जिन प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बांधी थी, अपवर्तना करणके द्वारा उनकी स्थिति कम करदी जाती है। इसी प्रकार अप्रशस्त प्रकृतियोंका जो अनुभाग बाँधा था उसके अनन्तवें भागको छोड़कर शेष अनन्त वहुभाग रसको अन्तर्मुहूर्तकाल में ही नष्टकर दिया जाता है। इस प्रकार स्थिति और रस, दोनोंका ही प्रतिसमय घात होता रहता है। ऐसा होनेसे, अपूर्वकरणके प्रथम समयमें किसी कर्मकी जितनी स्थिति होती है, उसके अन्तिम समयमें वह स्थिति संख्यातगुणी हीन हो जाती है, और रसकी भी यही दशा होती है। तथा, अपूर्वकरणके प्रारम्भ होते ही स्थितिबन्ध में भी नवीनता आजाती है। अर्थात् अपूर्वकरणसे पहले किसी प्रकृतिका जितना स्थितिबन्ध होता था, अपूर्वकरणके प्रथम समयमें ही उससे पल्यके संख्यातवेंभागहीन स्थितिबन्ध होता है। स्थितिघात और स्थिति-

---

१ इन करणोंका विशेष स्वरूप जानने के लिये देखो-कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहका उपशमनाकरण, तथा लब्धिसार गा० ३४-८९ और जीवकाण्ड गा० ४७-५७।

बन्ध एक साथ ही प्रारम्भ होते हैं और एक साथ ही समाप्त होते हैं। जिन प्रकृतियोंकी स्थितिका घात किया जाता है उनमें से दलिकोंको लेकर उनकी एक श्रेणी अर्थात् पँक्ति बनाई जाती है, जिसमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक पाये जाते हैं। अर्थात् उदयके प्रथम समयमें थोड़े, दूसरे समयमें असंख्यातगुणे, तीसरे समयमें उससे भी असंख्यातगुणे, इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्तमें जितने समय हों, उतने समयोंमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक स्थापित किये जाते हैं। इसे ही गुणश्रेणिरचना कहते है। इस गुणश्रेणीरचनाके कारण प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी निर्जरा होती है।

तीसरे अनिवृत्तिकरणमें भी उक्त चारों बातें होती हैं। इस करणके कालमेंसे जब संख्यात बहुभाग बीत कर एक संख्यातवाँ भाग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्वके नीचेकी अर्थात् उदय समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमें उदय आने योग्य कर्मदलिकोंको छोड़कर बाकी के दलिकोंमें अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है।

आशय यह है कि मिथ्यात्वकी नीचेकी और उपरकी स्थितिके मध्य में से उतने दलिक उठाकर ऊपर और नीचेकी स्थिति में मिला देनेका नाम अन्तर करण है, जितने दलिक एक अन्तर्मुहूर्तकाल में उदयमें आते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वकी नीचेकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिको ज्योंका त्यों छोड़कर ऊपरके उन दलिकोंका, जो आगेके अन्तर्मुहूर्तमें उदय आयेंगे, नीचेके वा ऊपरके दलिकोंमें निक्षेपण कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालको ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय आने योग्य मिथ्यात्वका कोई दलिक शेष नहीं रहता। इस प्रकार मिथ्यात्व की स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। इस अन्तर करणको दूसरे प्रकारसे यों समझना चाहिये ____________|____|____ यह एक लकीर है, इस

लकीरमें नीचेकी ओर दो निशान लगे हैं। यह निशान इस बातको बतलाते हैं कि इस लकीरका दोनों निशानोंके बीचका भाग वहाँसे हटाकर नीचे या ऊपरके भागमें मिला देना चाहिये और इस प्रकार उतने भागको खाली कर देना चाहिये। तब इस लकोरकी दशा इस प्रकार होगी—— ...... ——। इस प्रकार इस लकीरके बीचमें अन्तर पड़ जाता है। यदि हम नीचेकी ओरसे इस लकोरपर अंगुली फेरते हुए ऊपरकी ओर बढ़ें तो हमारी अंगुली कुछ समयतक लकीरपर रहकर फिर बिना लकीरवाले स्थानपर आ जायेगी और क्षणभरमें उस स्थानसे निकलकर पुनः लकीरवाले स्थानपर आ जायेगी। इस प्रकार क्षणभरके लिये हमारी अंगुलीको बिना लकीरके ही चलना होगा। इसी तरह मिथ्यात्वके उदयका जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरणके द्वारा उस प्रवाहका ताँता एक अन्तर्मुहूर्तके लिये तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग कर दिये जाते हैं, नीचेका भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थितिके बीचके उन दलिकोंको, जो अन्तर्मुहूर्तकालमें उदय आनेवाले हैं, अन्तरकरणके द्वारा इधर उधर खपा दिया जाताहै। अर्थात् उन दलिकोंको अपने अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिमें डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थितिमें डाल दिया जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वके दलिकोंसे रहित जो शुद्ध भूमि होती है, उसे अन्तरकरण कहते हैं। इस अन्तरकरणके लिये जो क्रिया की जाती है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिके दलिकोंको उठाकर उनका इधर उधर क्षेपण किया जाता है, तथा उस क्रियामें जो काल लगता है, उपचारसे उन्हें भी अन्तरकरण कह देते हैं।

इस क्रियाके पूर्ण होनेके बाद मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरी होते ही अन्तर्मुहूर्तकालके लिये मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व

के प्रकट होनेसे पहले समयमें अर्थात् मिथ्यात्वकर्मकी प्रथमस्थितिके अन्तिम

---

१ **कर्मप्रकृति** तथा उसकी **चूर्णि और पञ्चसंग्रह**के रचयिताओंका मत है कि उपशमसम्यक्त्वके प्रकट होने से पहले अर्थात् मिथ्यात्वकी प्रथमस्थितिके अन्तिम समयमें द्वितीयस्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता है। [देखो **कर्मप्रकृति** उपशमनाकरण गा० १९ और **पञ्चसंग्रह** उपश० गा० २२] और **लब्धिसार**के कर्ताके मतसे जिस समय सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसी समय तीन पुञ्ज करता है। देखो-**लब्धिसार** गा० ८९।

मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करनेमें सैद्धान्तिकों और कर्मशास्त्रियोंमें बड़ा मौलिक मतभेद है। सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतसे औपशमिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये तीन पुञ्ज करना आवश्यक नहीं है, तीन पुञ्ज किये बिना भी औपशमिकसम्यक्त्व हो सकता है। जैसा कि **विशेषा० भा०** की निम्नगाथा से स्पष्ट है—

"उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं।

जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥५३२॥"

अर्थात्—जो जीव उपशम श्रेणि चढ़ता है, उसके औपशमिक सम्यक्त्व होता है। तथा, जो अनादिमिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं करता और न मिथ्यात्वका क्षपण ही करता है, उसके भी औपशमिकसम्यक्त्व होता है।

विशेषा० भा० की गा० ५३० की टीकामें श्रीहेमचन्द्रसूरिने इस मतभेद का उल्लेख करते हुए लिखा है—**"सैद्धान्तिकानां तावदेतत् मतं यदुत अनादिमिथ्यादृष्टिः कोऽपि तथाविधसामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन पुञ्जत्रयं कृत्वा शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन् औपशमिकं सम्यक्त्वमलब्ध्वैव प्रथमत एव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति। अन्यस्तु यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयक्रमेणान्तरकरणे औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं त्वसौ न करोत्येव।**

समयमें द्वितीय स्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वकर्मके दलिक अनुभागको तर-

---

ततश्च औपशमिकसम्यक्त्वाच्च्युतोऽवश्यं मिथ्यात्वमेव गच्छति।....... कार्मग्रन्थिकास्त्विदमेव मन्यन्ते यदुत सर्वोऽपि मिथ्यादृष्टिः प्रथमसम्यक्त्वलाभकाले यथाप्रवृत्यादिकरणत्रयपूर्वकमन्तरकरणं करोति, तत्र चौपशमिकं सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं चाऽसौ विदधात्येव। अत एव औपशमिकसम्यक्त्वाच्च्युतोऽसौ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः मिश्रः मिथ्यादृष्टिर्वा भवति॥" इसका आशय इस प्रकार है–

"सैद्धान्तिकोंका मत है कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उस प्रकारकी सामग्रीके मिलनेपर, अपूर्वकरणके द्वारा मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता है और शुद्धपुञ्ज अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभव न करता हुआ, औपशमिकसम्यक्त्वको प्राप्त किये बिना ही, सबसे पहले क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको प्राप्त करता है। तथा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको क्रमसे करके अन्तरकरण करनेपर औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, किन्तु वह मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं करता है। इसीसे औपशमिक सम्यक्त्वके छूट जानेपर वह जीव नियमसे मिथ्यात्वमें ही जाता है।.........किन्तु कर्मशास्त्रियोंका मत है कि सभी मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करते हुए अन्तरकरण करते हैं और ऐसा करनेपर उन्हें औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। ये जीव मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज अवश्य करते हैं। इसी लिये उनके मतसे औपशमिक सम्यक्त्वके छूट जानेपर जीव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होता है।"

इन मतोंमेंसे दिगम्बर परम्परामें कर्मशास्त्रियोंका मत ही हमारे देखनेमें आया है। सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतका वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तमताको लिये हुए तीन[1] रूप हो जाते हैं—शुद्ध[2], अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दलिकोंको सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं, अर्धशुद्ध दलिकोंको मिश्र या सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं और अशुद्ध दलिक मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथमोपशमसम्यक्त्वके माहात्म्यसे एक मिथ्यात्व-प्रकृति तीन रूप हो जाती है और ऐसा होनेसे अस्तित्व और उदय में दो प्रकृतियाँ बढ़ जाती हैं। अस्तु,

---

१ कर्मकाण्डमें लिखा है–

"जन्तेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजन्तेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा॥ २६॥"

अर्थात्–'जैसे चाकीमें दलनेसे कोदोंके तुष, चावल और कन, इस तरह तीन रूप हो जाते हैं। वैसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी भावयन्त्रके द्वारा एक मिथ्यात्वप्रकृतिका द्रव्य मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतिरूप हो जाता है। इन तीनोंका द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यात-गुणहीन होता है।'

२ "दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो॥१४॥" प्र० कर्मग्र०।

अर्थात्–'दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं–सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व। ये तीनों क्रमशः शुद्ध, अर्द्धशुद्ध और अशुद्ध होते हैं।' आशय यह है कि जैसे कोदों मद उत्पन्न करते हैं, किन्तु उन्हें पानी से धो डालने पर जो शुद्ध हो जाते हैं, वे मद नहीं करते, जो कम शुद्ध हो पाते हैं वे थोड़ा मद करते हैं, और जो अशुद्ध होते हैं, वे तो पूरे मादक होते ही हैं। उसी तरह मिथ्यात्वका जो द्रव्य भावोंके द्वारा शुद्ध हो जाता है, और सम्यक्त्वका घात करनेमें असमर्थ होता है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। जो आधा शुद्ध होता है और इसलिये सम्यक्त्वको हानि पहुँचाता है, वह मिश्र कहाता है, और जो बिल्कुल अशुद्ध होता है और सम्यक्त्व को घातता है, वह मिथ्यात्व कहाता है।

इस उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवली काल शेष रहने पर कोई कोई जीव सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त करते हैं, उस समय उन जीवोंके मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिकी सत्ता अवश्य रहती है। इसीसे उक्त गाथामें द्वितीयगुणस्थानमें इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता नियमसे बतलाई है। तथा, उपशमसम्यक्त्वके अन्तमें उक्त तीनों पुंजोंमें से यदि मिथ्यात्वका उदय होता है, तो जीव पहले गुणस्थानमें चला जाता है और यदि सम्यक्मिथ्यात्वका उदय होता है तो उसके तीसरा गुणस्थान होजाता है। इस प्रकार पहले और तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी सत्ता अवश्य रहती है जैसा कि गाथाके पूर्वार्द्धमें बतलाया है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय आगेके आठ गुणस्थानों में मिथ्यात्वकी सत्ता होती भी है और नहीं भी होती, क्योंकि यदि उन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वका क्षपण कर दिया जाता है तो उसकी सत्ता नहीं रहती, और यदि मिथ्यात्वका उपशम किया जाता है तो उसकी सत्ता अवश्य रहती है। इसी प्रकार सास्वादनके सिवाय मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता होती भी है, और नहीं भी होती। क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थानमें अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके, जिसने कभी भी मिथ्यात्वके तीन पुंज नहीं किये, तथा जिस सादि मिथ्यादृष्टिने सम्यक्त्व-पुंजकी उद्वलना करदी है, उसके सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शेष

---

१ "उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स।
सासायणसम्मत्तं तयंतरालम्मि छावलियं ॥५३४॥" विशे०भा०।
अर्थात्–'उपशमसम्यक्त्वके कालमें अधिकसे अधिक ६ आवली शेष रह जाने पर, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके कारण उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर जब तक जीव मिथ्यात्वमें नहीं आता, तब तक मध्यमें ६ आवलीके लिये सासादनसम्यग्दृष्टि होजाता है।'

मिथ्यादृष्टिजीवोंके उसकी सत्ता होती है। उसी प्रकार मिथ्यात्वगुणस्थानमें सम्यक्त्वपुंजकी उद्वलना करके मिश्रगुणस्थानमें आनेवाले जीवके सम्यक्त्व-प्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है। चौथे गुण-स्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी क्षायिकसम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वप्रकृति की सत्ता नहीं होती, किन्तु क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टिके उसकी सत्ता अवश्य होती है।

इस प्रकार इस गाथा[1]में मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय-की सत्ताका विचार आदिके ग्यारह गुणस्थानोंमें किया गया है। क्योंकि अन्तके तीन गुणस्थानोंमें तो मोहनीय कर्मकी सत्ता ही नहीं रहती है॥

सासणमीसेसु धुवं मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए।
आइदुगे अण निय[2]मा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

अर्थ—सास्वादन और मिश्रगुणस्थानमें मिश्रप्रकृतिकी सत्ता नि-यमसे रहती है, और शेष मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानोंमें उसकी सत्ता भजनीय है, अर्थात् किसी जीवके होती है और किसी जीवके नहीं होती। इसी प्रकार आदिके दो गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी कषायकी सत्ता नियम से रहती है, और शेष मिश्रगुणस्थानको आदि लेकर नौ गुणस्थानोंमें उसकी सत्ता भजनीय है।

भावार्थ—इस गाथामें मिश्रप्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय-की सत्ताका विचार गुणस्थानोंमें किया है। इसमें बतलाया है कि दूसरे

---

१ कर्मप्रकृतिमें (सत्तास्वामित्व०) भी निम्न गाथाके द्वारा वही बात कही है जो कर्मग्रन्थ की उक्त गाथा में कही है—

"तिसु मिच्छत्तं नियमा अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्वं।
आसाणे सम्मत्तं नियमा सम्मं दससु भज्जं ॥ ४ ॥"

२ नियया ख० पु०।

और तीसरे गुणस्थानमें मिश्रप्रकृति अवश्य पाई जाती है, क्योंकि प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मिथ्यात्वके तीन पुंज हो जाते हैं, और उस सम्यक्त्वके कालमें जब कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक ६ आवली काल शेष रह जाता है, तब जीव सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है। अत: उस समय उस जीवके मिश्रप्रकृतिकी सत्ता अवश्य होती है। तथा, मिश्रप्रकृतिकी सत्ता और उदयके विना तीसरा गुणस्थान ही नहीं हो सकता, अत: तीसरे गुणस्थानमें भी मिश्रप्रकृतिकी ध्रुवसत्ता जाननी चाहिये। शेष पहले, चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में उसकी सत्ता अध्रुव होती है। क्योंकि जिस मिथ्यादृष्टि जीवने मिश्रप्रकृतिकी उद्वलना करदी है, उसके तथा अनादि मिथ्यादृष्टिके मिश्रप्रकृतिकी सत्ता नहीं होती, शेष मिथ्यादृष्टि जीवोंके उसकी सत्ता होती है। इसी प्रकार चतुर्थ आदि आठ गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके मिश्रप्रकृतिकी सत्ता नही होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है। तथा, पहले और दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषायकी सत्ता ध्रुव होती है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध अवश्य होता है और जिसका बन्ध होता है उसकी सत्ता अवश्य होनी ही चाहिये। शेष तीसरे आदि नौ गुणस्थानोंमें उसकी सत्ता अध्रुव होती है। क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन कर दिया है, उसके अनन्तानुबन्धी[1] की सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है॥

---

१ अनन्तानुबन्धीकी सत्ताके बारे में कर्मप्रकृति और कर्मग्रन्थमें थोड़ा अन्तर है। कर्मप्रकृतिमें (सत्ताधि०) लिखा है–

"बिइयतइएसु मिस्सं नियमा ठाणनवगम्मि भयणिज्जं।
संजोयणा उ नियमा दुसु पंचसु होइ भइयव्वं ॥ ५ ॥"

अर्थात्–'मिश्रप्रकृति दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें नियमसे होती है और नौ गुणस्थानोंमें भजनीय है। दो गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी नियमस

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि सभी गुणस्थानोंमें, आहारकशरीर, आहारक-अङ्गोपाङ्ग, आहारकसंघातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन आहारककार्मणबन्धन, और आहारकतैजसकार्मणबन्धन, इन सात प्रकृतियों-

---

होती है, और पांच गुणस्थानोंमें भजनीय है।'

पञ्चसंग्रहमें भी कर्मप्रकृतिके अनुसार सातवें गुणस्थान तक ही अनन्तानुबन्धीका विचार किया है। यथा—

"सासणमीसे मीसं संतं नियमेण नवसु भइयव्वं ।
सासायणंत नियमा पंचसु भज्जा अओ पढमा ॥ ३४२ ॥"

इस प्रकार कर्मप्रकृति और पञ्चसंग्रहमें सातवें गुणस्थान तक ही अनन्तानुबन्धीकी सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि कर्मग्रन्थमें ग्यारहवें गुणस्थान तक उसकी सत्ता मानी गई है। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार आदि उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धीका सत्त्व नहीं मानते, जब कि कर्मग्रन्थ वाले उसका सत्त्व स्वीकार करते हैं। कर्मप्रकृतिकारका मत है कि जो चारित्रमोहनीयके उपशम करनेका प्रयास करता है, वह अवश्य अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करता है।

कर्मशास्त्रियोंके इस मतभेदका उल्लेख कर्मकाण्डमें भी गा. ३९१ के 'णत्थि अणं उवसमगे' पदके द्वारा किया गया है। कर्मकाण्डके रचयिता ने दोनों मतोंको स्थान दिया है।

१ यह गाथा पञ्चसंग्रहकी निम्न गाथाका स्मरण कराती है—

"सव्वाणवि आहारं सासणमीसेयराण पुण तित्थं ।
उभये संति न मिच्छे तित्थगरे अंतरमुहुत्तं ॥ ३४८ ॥"

का, जिन्हें आहारकसप्तक कहते हैं, अस्तित्व विकल्पसे होता है। दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करप्रकृतिका सत्व भी विकल्पसे होता है। तीर्थङ्कर तथा आहारकसप्तकका अस्तित्व जिस जीवके होता है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नहीं आता। तीर्थङ्करप्रकृतिकी सत्तावाला कोई जीव यदि मिथ्यात्वमें आता है तो केवल अन्तर्मुहूर्तके ही लिये आता है।

भावार्थ—इस गाथामें आहारकप्रकृति और तीर्थङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका विचार गुणस्थानोंमें करते हुए बतलाया है कि ऐसा एक भी गुणस्थान नहीं है जिसमें आहारकनामकर्मकी सत्ता नियमसे होती हो। अर्थात् सभी गुणस्थानोंमें इसकी सत्ता अध्रुव होती है। इसका कारण यह है कि यह एक प्रशस्त प्रकृति है और इसका[1] बन्ध कोई कोई विशुद्ध चरित्रके धारक अप्रमत्तसंयमी ही करते हैं। जब कोई उत्कृष्टतपस्वी आहारकसप्तकका बन्ध करके विशुद्ध परिणामोंके कारण ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है, अथवा अविशुद्ध परिणामोंके कारण ऊपरके गुणस्थानोंसे नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, तब उसके सभी गुणस्थानोंमें आहारकसप्तककी सत्ता रहती है। किन्तु जो मुनि आहारकसप्तकका बन्ध किये बिना ही ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है, अथवा ऊपरसे नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, उसके उन गुणस्थानोंमें आहारकसप्तककी सत्ता नहीं पाई जाती। अतः यह प्रकृति सभी गुणस्थानोंमें विकल्पसे रहती है।

तथा, तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान-

---

१ आहारक और तीर्थकर प्रकृतिके बन्धका कारण बतलाते हुए **पञ्चसंग्रहमें** लिखा है—

"तित्थयराहाराणं बंधे सम्मत्तसंजमा हेऊ ॥ २०४ ॥"

अर्थात्—'तीर्थङ्करके बन्धमें सम्यक्त्व कारण है, और आहारकके बन्धमें संयम कारण है।'

के छठवें भाग तक किसी किसी विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीवके होता है। अतः इन गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करके जब कोई जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है तो उनमें तीर्थङ्करप्रकृति की सत्ता पाई जाती है। तथा यदि वह जीव अविशुद्ध परिणामोंके कारण नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, तो मिथ्यात्वमें ही आता है, क्योंकि तीर्थङ्करकी सत्तावाला जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें नहीं आता। इस प्रकार दूसरे और तीसरे गुणस्थानको छोड़कर शेष बारह गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करकी सत्ता रह सकती है। किन्तु यदि कोई जीव विशुद्ध सम्यक्त्वके होनेपर भी तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध नहीं करता, तो उसके सभी गुणस्थानोंमें उस प्रकृतिकी सत्ता नहीं पाई जाती। अतः यह प्रकृति दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें तो पाई ही नहीं जाती, और शेष गुणस्थानोंमें भी किसीके होती है और किसीके नहीं होती। इसलिये इसकी सत्ता अध्रुव जाननी चाहिये।

इस प्रकार इस गाथाके पूर्वार्द्धसे इस बातका तो निश्चय हो जाता है कि केवल आहारकसप्तककी अथवा केवल तीर्थङ्करकी सत्ताके रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि हो सकता है। किन्तु यह शङ्का बनी ही रहती है कि दोनोंके अस्तित्वमें भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है या नहीं? उत्तरार्धमें इसका समाधान करनेके लिये लिखा है कि आहारकसप्तक और तीर्थङ्करनामकी सत्ता के रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता। अर्थात् जिस जीवके इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होती है, उसका पतन नहीं होता, और इसी लिये वह मिथ्यात्वगुणस्थानमें नहीं आता।

तथा, तीर्थङ्करकी सत्तावाला यदि मिथ्यात्वगुणस्थानमें आता है तो वहाँ वह अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहरता, क्योंकि उसे एक विशेष कारण से मिथ्यात्वमें आना पड़ता है, वह विशेष कारण यह है कि जो जीव पहले नरकायुका बन्ध करके, पीछे वेदकसम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करता है, वह मरणकाल आने पर सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्या-

दृष्टि हो जाता है, क्योंकि कर्मशास्त्रियोंके मतसे वेदकसम्यग्दृष्टि जीव नरक में जन्म नहीं लेता। इस प्रकार मिथ्यात्वदशामें नरकमें जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः सम्यग्दृष्टि हो जाता है। क्योंकि निकाचित तीर्थङ्कर नामकी सत्तावाला जीव अन्तर्मुहूर्तसे ज्यादा मिथ्यात्वमें नहीं रहता है। अतः तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव मिथ्यात्वगुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तके लिये ठहरता[2] है।

---

१ आवश्यकचूर्णिकी टीकामें लिखा है–"सम्यग्दृष्टेरधः सप्तमनरकगमनं प्रतिषिद्धं, षष्ठीमपि पृथिवीं यावत् सैद्धान्तिकमतेन विराधितसम्यक्त्वो गृहीतेनापि क्षायोपशमिकेन सम्यक्त्वेन कश्चिदुत्पद्यते।.........कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ् मनुष्यो वा वान्तेनैव क्षायोपशमिकेनोत्पद्यते, न गृहीतेन।" पृ० ४३।

अर्थात्–'सम्यग्दृष्टिके सातवें नरकमें जानेका प्रतिषेध है। सैद्धान्तिकोंके मतसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेवाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करके छठे नरकतक उत्पन्न हो सकता है। किन्तु कर्मशास्त्रियोंके अभिप्रायसे तिर्यञ्च अथवा मनुष्य वैमानिक देवोंके सिवा अन्यत्र तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब उन्होने क्षयोपशमिकसम्यक्त्वको छोड़ दिया हो, सम्यक्त्वको ग्रहण करके वे वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकते।'

दिगम्बर शास्त्रोंके अनुसार नरकमें सम्यक्दृष्टिका उत्पाद केवल पहले ही नरकतक हो सकता है।

२ कर्मप्रकृतिमें (सत्वाधि०) भी लिखा है—

"आहारगतित्थयरा भज्जा दुसु नत्थि तित्थयरं ॥ ९ ॥"

अर्थात्–'आहारक और तीर्थङ्कर की सत्ता भजनीय है, किन्तु दो गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करकी सत्ता नहीं होती।'

किन्तु कर्मकाण्डमें कुछ, अन्तर है। गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंका सत्त्व

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रकृतिद्वारका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने प्रसङ्गवश मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तीर्थङ्कर और आहारकसप्तककी सत्ताका विचार गुणस्थानोंमें किया है। एक सौ अट्ठावन प्रकृतियोंमें से इन पन्द्रह प्रकृतियोंका ही विशेष विचार क्यों किया गया ? यह प्रश्न बहुतसे पाठकोंके चित्तमें उत्पन्न हो सकता है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा।

आगे कर्मप्रकृतियोंका प्रशस्त और अप्रशस्त रूपसे बँटवारा करेंगे। इन पन्द्रह कर्मप्रकृतियोंमें भी प्रारम्भकी सात प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं और शेष आठ प्रशस्त हैं। अप्रशस्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियाँ प्रधान हैं और उनका जीवनके उत्थान और पतनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि जिसकी प्राप्ति पर जीवनका अन्तिम ध्येय परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति निर्भर है, उस सम्यक्त्वगुणका घात उक्त सातों ही प्रकृतियाँ करती हैं। जबतक उनसे छुटकारा नहीं मिलता, तबतक जीव अपना वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। तथा उन सातोंके चले जानेपर कर्मोंकी सेना एकदम निस्सत्व और जीवनहीन हो

बतलाते हुए उसमें लिखा है-

"तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिये।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥ ३३३ ॥"

अर्थात्-'मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीर्थङ्कर और आहारक एक साथ नहीं रहते। सासादनमें दोनों न एक साथ ही रहते हैं और न पृथक् पृथक् ही। मिश्रमें तीर्थङ्करका सत्व नहीं होता, क्योंकि उन प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवोंके मिथ्यात्व आदि गुणस्थान ही नहीं होते हैं।' यहां सासादनमें आहारकका भी सत्त्व स्वीकार नहीं किया है, जब कि कर्मग्रन्थमें स्वीकार किया है। कर्मकाण्ड गा० ३७३ से यह स्पष्ट है कि सासादनमें आहारककी सत्ताको लेकर कर्मशास्त्रियोंमें मत भेद है। एक पक्ष उसमे आहारककी सत्ता स्वीकार करता है और दूसरा पक्ष उसका सत्त्व स्वीकार नहीं करता है।

जाती है, अतः उक्त सात प्रकृतियाँ सभी प्रकृतियोंकी सिरमौर हैं। जैसे अप्रशस्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियाँ प्रधान हैं, उसी तरह प्रशस्त प्रकृतियोंमें आहारकसप्तक और तीर्थङ्करप्रकृति प्रधान हैं। आहारकसप्तकका बन्ध विरले ही तपस्वियोंके होता है और तीर्थङ्कर प्रकृति तो उससे भी विरल इने गिने नररत्नोंके बँधती है। पूर्वजन्ममें इसका बन्ध करके ही भगवान महावीर सरीखे महापुरुष तीर्थङ्कर होते हैं। अतः ग्रन्थकारने प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियोंकी सिरमौर उक्त पन्द्रह प्रकृतियोंका ही विवेचन किया है। और इस विवेचनके साथ ही साथ पाँचवाँ और छठा द्वार समाप्त होता है।
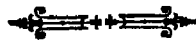
७-८. घाति-अघातिद्वार

अब सप्तम सर्वदेशघातिप्रकृतिद्वार और अष्टम अघातिप्रकृतिद्वारका वर्णन करते हुए घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छं ति सव्वघाई चउणाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४॥

अर्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्रा, आदिकी बारह

१–इओ ख० पु०। २–णुट्ठा–ख० पु०।

३ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि।

४ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, माना, माया, लोभ।

कषाय, और मिथ्यात्व, ये प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। तथा चार[1] ज्ञानावरण तीन[2] दर्शनावरण, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, नव[3] नोकषाय, और पाँच अन्तराय, ये प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ[4], शरीर आदि आठ[5], चार आयु, त्रस आदि बीस, नीच और उच्च गोत्र, सात-वेदनीय और असातवेदनीय, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये प्रकृतियाँ अघातिनी हैं।

भावार्थ—इन गाथाओंमें घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको गिनाया है। आठ कर्मोंमेंसे चार घातिकर्म हैं और चार अघातिकर्म हैं। घातिकर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ घातिनी कहलाती हैं और अघातिकर्मों को अघातिनी। जो प्रकृतियाँ आत्माके गुणोंका घात करती हैं वे घातिनी कहलाती हैं और जो उनका घात करनेमें असमर्थ हैं, वे अघातिनी कहलाती हैं। घातिप्रकृतियोंमें भी दो प्रकार हैं। उनमें कुछ प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं और कुछ देशघातिनी हैं। जो सर्वघातिनी हैं, वे आत्माके गुणोंको पूरी तरहसे घातती हैं, अर्थात् उनका उदय होते हुए कोई आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो सकता। उक्त गाथामें बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी बतलाई हैं, जिनका खुलासा इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्माके केवलज्ञानगुणको पूरी तरह आवृत करता है। किन्तु जिस प्रकार मेघपटलके द्वारा सूर्यके पूरी तरह आच्छादित होनेपर भी उसकी प्रभाका कुछ अंश अनावृत ही रहता है, उसी प्रकार सब जीवोंके केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग अनावृत ही रहता है। क्योंकि यदि

---

१ मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण।

२ चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण।

३ हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा और तीन वेद।

४ पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण और उपघात।

५ पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

केवलज्ञानावरण उस अनन्तवें भागको भी आवृतकर ले तो जीव और अजीव में कोई अन्तर ही न रह सकेगा, जैसे यदि मेघपटल सूर्यकी उस अवशिष्ट प्रभाको भी आच्छादित कर ले, जो दिन और रातमें अन्तर डालती है, तो वर्षाकालमें, दिन और रातमें कोई अन्तर ही न रह सकेगा। फिर भी जैसे मेघपटल सूर्यका सर्वात्मना आवारक कहलाता है, उसी तरह केवलज्ञानावरण केवलज्ञानका सर्वघाती कहा जाता है, क्योंकि उसके सर्वथा हटाये बिना केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

केवलदर्शनावरण केवलदर्शनको पूरी तरह घातता है, किन्तु फिर भी उसका अनन्तवाँ भाग अनावृत ही रहता है। शेष बातें केवलज्ञानावरणकी ही तरह समझलेनी चाहिये। पाँचों निद्राएँ भी वस्तुओंके सामान्य प्रतिभासको नहीं होने देती हैं अतः सर्वघातिनी हैं। सोते समय मनुष्यको जो थोड़ा बहुत ज्ञान रहता है, उसे मेघके दृष्टान्तसे समझलेना चाहिये। बारह कषायोंमें से, अनन्तानुबन्धी[1] कषाय सम्यक्त्वगुणका घात करती है, अप्रत्याख्यानावरण[2] कषाय देशचारित्रका घात करतो है और प्रत्याख्यानावरण[3] कषाय सर्वविरति चारित्रको घातती है। मिथ्यात्व भी सम्यक्त्वगुणका सर्वात्मना घात करता है। अतः ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं।

जो प्रकृति आत्माके गुणको एकदेशसे घातती है वह देशघातिनी कहलाती है। मतिज्ञानावरण आदि चारों ज्ञानावरण केवलज्ञानके उस अनन्तवें भागका एकदेशसे घातन करते हैं, जो केवलज्ञानावरणसे अनावृत रह जाता

१ "पढमिल्लुआण उदए नियमा संजोयणा कसायाणं।
सम्मद्दंसणलंभं भवसिद्धीया वि न लहंति ॥१०८॥" आ० नि०।

२ "बीयकसायाणुदये अप्पच्चक्खाण नामधेज्जाणं।
सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरइं न उ लहंति ॥१०९॥" आ०नि०।

३ "तइयकसायाणुदये पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं।
देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति ॥११०॥" आ० नि०।

है। जब कोई छद्मस्थ जीव मति आदि चार ज्ञानोंके विषयभूत वस्तुको भी जाननेमें अशक्त होता है तो इसे उस मतिज्ञानावरण आदि चार आवरणोंके उदयका ही फल समझना चाहिये। किन्तु मति आदि चार ज्ञानोंके अविषयभूत अनन्तगुणोंको जाननेमें जो उसकी असमर्थता है वह केवलज्ञानावरणके उदयका प्रताप समझना चाहिये। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण भी केवलदर्शनावरणसे अनावृत केवलदर्शनके एकदेशको घातते हैं, अत: देशघाती हैं। इनके उदयमें जीव चक्षुदर्शन वगैरहके विषयभूत विषयोंको पूरी तरह नहीं देख सकता। किन्तु उनके अविषयभूत अनन्तगुणोंको केवलदर्शनावरणके उदय होनेके कारण ही देखनेमें असमर्थ होता है। संज्वलन कषाय तथा नवनोकषाय चारित्रके एक देशको ही घातती हैं, अत: देशघाती हैं। क्योंकि इनके[1] उदयसे व्रती पुरुषोंके मूलगुण और उत्तरगुणोंमें अतीचार लगते हैं, जब कि अन्य कषायोंका उदय अनाचारका जनक है। अन्तरायकर्मकी पाँचों प्रकृतियाँ भी देशघातिनी ही हैं, क्योंकि दान, लाभ, भोग और उपभोगके योग्य जो पुद्गल हैं, वे समस्त पुद्गलद्रव्यके अनन्तवें भाग हैं। अर्थात् सभी पुद्गल द्रव्य इस योग्य नहीं हैं कि उनका देनलेन वगैरह किया जा सके, देने लेने और भोगनेमें आने योग्य पुद्गल बहुत ही थोड़े हैं। उन भोगने योग्य पुद्गलोंमें से भी एक जीव सभी पुद्गलोंका दान, लाभ, भोग या उपभोग नहीं कर सकता, क्योंकि उन पुद्गलोंका थोड़ा थोड़ा भाग सभी जीवोंके उपयोगमें सर्वदा आता रहता है। अत: दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उप-

---

१ "सव्वेवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥८४४॥" पञ्चाशक।

अर्थ–'संज्वलन कषायके उदयसे समस्त अतीचार होते हैं। किन्तु शेष बारह कषायके उदयसे व्रतके मूलका ही छेदन हो जाता है, अर्थात् व्रत जड़ से ही नष्ट हो जाता है।'

भोगान्तराय देशघाती हैं। तथा, वीर्यान्तराय भी देशघाती है, क्योंकि वीर्यान्तरायका उदय होते हुए भी सूक्ष्मनिगोदिया जीवके इतना क्षयोपशम अवश्य रहता है, जिससे वह कर्म और नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण वगैरह करता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी तरतमताके कारण ही सूक्ष्म निगोदियासे लेकर बारहवें गुणस्थानतकके जीवोंके वीर्यकी हीनाधिकता पाई जाती है। यदि वीर्यान्तराय सर्वघाती होता तो जीवके समस्त वीर्यको आवृत करके उसे जड़की तरह निश्चेष्ट कर देता। अतः वह भी देशघाती ही है। इस प्रकार पच्चीस प्रकृतियाँ देशघातिनी जाननी चाहिये[1]।

डेढ़ गाथाके द्वारा सर्वदेशघातिद्वारका निरूपण करके अर्धगाथाके द्वारा उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारका कथन करते हुए अघातिप्रकृतियोंको गिनाया

---

१ कर्मकाण्ड गा० ३९–४० में सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियों को गिनाया है। कर्मग्रन्थ और कर्मकाण्डकी गणनामें केवल एक एक प्रकृतिका अन्तर है। कर्मकाण्डमें सर्वघातिप्रकृतियां २१ और देशघातिप्रकृतियां २६ बतलाई है। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें बन्धप्रकृतियोंकी संख्याको लेकर सर्वघाती और देशघातीका विभाग किया है और कर्मकाण्डमें उदयप्रकृतियोंकी संख्याको लेकर उक्तविभाग किया है। यह हम बतला आये है कि बन्ध और उदयमें दो प्रकृतियोंका अन्तर है। बन्धप्रकृतियां १२० है और उदयप्रकृतियां १२२। क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्ध नहीं होता, किन्तु उदय होता है, और घातित्व तथा अघातित्वका सम्बन्ध उदयके ही साथ है। अतः कर्मकाण्डमें सर्वघातिप्रकृतियोंमें एक सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति और देशघातिप्रकृतियोंमें एक सम्यक्त्वप्रकृति बढ़गई है।

पञ्चसंग्रह गा० १३५ में सर्वघाती तथा गा० १३७ में देशघातीप्रकृतियों को गिनाया है, जिनकी संख्या क्रमशः २१ और २५ है, जैसा कि कर्मग्रन्थ में बतलाया है।

है। अघातिप्रकृतियोंकी संख्या ७५ है। ये प्रकृतियाँ जीवके ज्ञानादिकगुणों-का घात नहीं करतीं, अतः अघातिनी कहलाती हैं।

९-१०. पुण्य-पापद्वार

सर्वदेशघातिद्वार और उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारको बन्द करके अब पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

सुर-नर-तिगु-च्च-सायं तसदस तणु-वंग-वइर-चउरंसं।
परघासग तिरिआउं वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥१५॥
बायालपुन्नपगई, अपढमसंठाण-खगइ-संघयणा।
तिरियदुग असाय नीउ-वघाय इगविगल निरयतिगं॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

अर्थ—सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), नरत्रिक (नरगति, नरानुपूर्वी, नरायु), उच्चगोत्र, सातवेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, पराघातसप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण, तिर्यगायु), वर्ण-चतुष्क, पंचेन्द्रियजाति, प्रशस्त विहायोगति, ये बयालीस पुण्यप्रकृतियाँ हैं।

तथा, पहलेको छोड़कर शेष पाँच संस्थान और पाँच संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, असातवेदनीय, नीच-गोत्र, उपघात, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय, नरकत्रिक (नरकगति, नर-

१–रिदु–ख० पु०। २ नीयोव–ख० पु०।

कानुपूर्वी, नरकायु) स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), वर्णचतुष्क और पैंतालीस घातिप्रकृतियाँ, ये बयासी पापप्रकृतियाँ हैं। वर्णचतुष्क शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं। इसलिये उन्हें पुण्यप्रकृतियोंमें भी गिना जाता है और पापप्रकृतियोंमें भी गिना जाता है।

भावार्थ—इससे पहले सप्तम और अष्टम द्वारमें बन्धप्रकृतियोंकी घातिनी और अघातिनीके भेदसे परिगणना की थी। यहाँ नवम और दशम द्वारमें उनका पुण्य और पापमें विभाजन किया गया है। जिस प्रकृतिका रस आनन्ददायक होता है, वह पुण्यप्रकृति कहलाती है। और जिस प्रकृतिका रस दुःखदायक होता है, वह पापप्रकृति कही जाती है। पुण्यप्रकृतिको शुभ प्रकृति अथवा प्रशस्त प्रकृति भी कहते हैं और पाप प्रकृतिको अशुभ प्रकृति अथवा अप्रशस्तप्रकृति भी कहते हैं। घातिनी और अघातिनीप्रकृतियोंमेंसे घातिनी प्रकृतियाँ तो पापप्रकृतियाँ हैं ही, क्योंकि वे खास आत्माके ही गुणोंको क्षति पहुँचाती हैं। किन्तु अघातिप्रकृतियोंमेंसे भी तेंतीस प्रकृतियाँ तो पाप-प्रकृतियाँ ही हैं, और चार प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो पापप्रकृतियोंमें भी सम्मिलित हैं और पुण्यप्रकृतियोंमें भी सम्मिलित हैं। क्योंकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। इसलिये इन्हें दोनोंमें गिना जाता है। शेष अड़तीस प्रकृतियाँ केवल पुण्यप्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार बयालिस पुण्यप्रकृतियाँ और बयासी पापप्रकृतियाँ मिलकर एक सौ चौबीस होती हैं, जब कि बन्धप्रकृतियाँ केवल एकसौ बीस ही बतलाई हैं। इन चार प्रकृतियों की वृद्धिका कारण बतलानेके ही लिये ग्रन्थकारने लिखा है कि वर्णादिका ग्रहण दोनोंमें किया है, क्योंकि वे शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं।

---

१ पञ्चसंग्रह (गा० १३९-१४०) में अप्रशस्त और प्रशस्तप्रकृतियोंको गिनाया है। कर्मप्रकृतिकी उ० यशोविजयजीकृत टीका (बन्धन० पृ० १२ पू०) में भी इन प्रकृतियोंको गिनाया है।

इसप्रकार पुण्य-पापद्वारका वर्णन समाप्त होता है।

१२. अपरावर्तमानद्वार

पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारको बन्द करके अब ग्यारहवें परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्‌घाटन क्रमप्राप्त था किन्तु अपरावर्तमानप्रकृतियोंकी

---

१ कर्मकाण्डकी गाथा ४१-४२ में पुण्यप्रकृतियाँ और ४३-४४ में पापप्रकृतियाँ गिनाई हैं। दोनों ग्रन्थोंकी गणनाओंमें कोई अन्तर नहीं है। कर्मकाण्डमें केवल इतनी विशेषता है कि उसमें भेदविवक्षामें ६८ और अभेदविवक्षामें ४२ पुण्यप्रकृतियाँ बतलाई हैं। तथा, पापप्रकृतियाँ बन्धदशामें भेदविवक्षासे ९८ और अभेदविवक्षासे ८२ बतलाई हैं और उदयदशामें सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वको मिलाकर, भेदविवक्षासे १०० और अभेदविवक्षासे ८४ बतलाई हैं। पांच बन्धन, पांच संघात और वर्ण आदि बीसमें से १६, इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पुण्यप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है और वर्ण आदि बीसमें से १६ प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पापप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है। बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्मके ये दो भेद किये हैं-कुशल अथवा पुण्यकर्म और अकुशल अथवा अपुण्यकर्म। जिसका विपाक इष्ट होता है, उसे कुशलकर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनिष्ट होता है, उसे अकुशलकर्म कहते हैं। इसी तरह जो सुखका वेदन कराता है वह पुण्यकर्म है और जो दुःखका वेदन कराता है वह अपुण्यकर्म है। यथा-"कुशलं कर्म क्षेमम्, इष्टविपाकत्वात्, अकुशलं कर्म अक्षेमम्, अनिष्टविपाकत्वात्।" ...."पुण्यं कर्म सुखवेदनीयम्, अपुण्यं कर्म दुःखवेदनीयम्।"

(अभिधर्म० व्या० पृ० १०१)

योगदर्शनमें भी पुण्य और पाप भेद किया है। यथा-'कर्माशयः पुण्यापुण्यरूपः।' (पृ० १६२)

संख्या अल्प होनेके कारण पहले अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

नामधुवबंधिनवगं दंसण-पणनाण-विग्घ-परघायं ।
भय-कुच्छ-मिच्छ-सासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

अर्थ—नामकर्मकी नौ[1] ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, पराघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थङ्कर, ये उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियाँ[2] हैं ।

भावार्थ—इस द्वारमें उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं । अर्थात् ये उनतीस प्रकृतियाँ किसी दूसरी प्रकृतिके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों नहीं करती हैं । जैसे मिथ्यात्वका बन्ध और उदय किसी अन्य प्रकृतिके बन्ध अथवा उदयको रोककर नहीं होता । अतः यह अपरावर्तमानप्रकृति है । शायद कोई कहे कि मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके उदयमें मिथ्यात्वका उदय नहीं होता, अतः ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वके उदयकी विरोधिनी हैं । ऐसी दशामें उसे अपरावर्तमान क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वका बन्ध और उदय पहले गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहाँ मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय नहीं है । यदि ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमें रहकर मिथ्यात्वके उदयको रोकतीं और स्वयं उदयमें आतीं तो ये विरोधिनी कही जा सकती थीं । किन्तु इनका उदयस्थान भिन्न भिन्न है, एक ही गुणस्थानमें रहकर ये एक दूसरेके बन्ध अथवा उदयका विरोध नहीं करतीं । अतः इन्हें अपरावर्तमान ही जानना चाहिये । इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझना चाहिये ।

---

१ वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात ।

२ पञ्चसंग्रहमें (गाथा १३८) अपरावर्तमान प्रकृतियोंको गिनाया है ।

११. परावर्तमानद्वार

अब परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्‌घाटन करते हैं–

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसा-उ परित्ता,

अर्थ–तनु अष्टक अर्थात् शरीर आदि[1] आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

भावार्थ–इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है। ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इनमेंसे सोलह कषाय और पाँच निद्रा ध्रुवबन्धिनी होनेके कारण बन्धदशामें तो दूसरी प्रकृतिका उपरोध नहीं करती हैं। तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिके उदयको रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कषायका उदय होता है। इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नहीं होता। तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नहीं हैं, क्योंकि एक जीवके एक समय में चारोंका उदय हो सकता है। किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता। अतः ये चारों परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों

---

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कार्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिना आये हैं), तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

दशाओंमें परस्परमें विरोधिनी हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इसप्रकार ग्यारहवें-द्वारका वर्णन जानना चाहिये। बारहवें अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका वर्णन पहले ही कर चुके हैं। अतः ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट बारहद्वारोंका[1] वर्णन यहाँ समाप्त होता है।
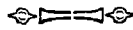
१३. क्षेत्रविपाकिद्वार

विशिष्ट अथवा विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिको विपाक कहते हैं। विपाकसे आशय रसोदयका है। अर्थात् फल देनेके अभिमुख होनेको विपाक कहते हैं। जैसे आम्र आदि फल जब पककर तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है, उसीतरह कर्मप्रकृतियाँ भी जब अपना फल देनेके अभिमुख होती हैं, तब उनका विपाककाल समझना चाहिये। इस विपाक[2] अर्थात्

---

१ ध्रुवबन्धिद्वार, अध्रुवबन्धिद्वार, ध्रुवोदयद्वार, अध्रुवोदयद्वार, ध्रुवसत्ताकद्वार, अध्रुवसत्ताकद्वार, सर्वदेशघातिद्वार, अघातिद्वार, पुण्यप्रकृतिद्वार, पापप्रकृतिद्वार, परावर्तमानद्वार, अपरावर्तमानद्वार। **कर्मप्रकृति** (बन्धनकरण, गा० १) की यशोविजयकृत टीकामें इन बारहों ही द्वारोंका कथन है।

२ **पञ्चसंग्रहमें** विपाकके दो भेद किये हैं—एक हेतुविपाक और दूसरा रसविपाक।

यथा—'दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ ।
एक्केक्कावि य चउहा जओ चसद्दो विगप्पेणं ॥ १६२ ॥'

अर्थात्—विपाककी अपेक्षासे प्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—हेतुविपाका **और** रसविपाका। तथा प्रत्येकके चार चार भेद होते हैं—हेतुविपाकाके पुद्गलविपाका, क्षेत्रविपाका, भवविपाका और जीवविपाका, तथा रसविपाकाके चतुःस्थानकरसा, त्रिस्थानकरसा, द्विस्थानकरसा और एकस्थानकरसा।

रसोदयके चार प्रमुख स्थान हैं—एक क्षेत्र, दूसरा जीव, तीसरा भव और चौथा पुद्गल। तेरहवें द्वारमें इनमेंसे पहले क्षेत्रविपाकाप्रकृतियोंको कहते हैं—

……………खित्तविवागाऽणुपूव्वीऊ॥ १९॥

अर्थ—नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी, ये चार प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकिनी हैं।

भावार्थ—आकाशको क्षेत्र कहते हैं। जिन प्रकृतियोंका उदय क्षेत्रमें ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती हैं। चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी हैं, क्योंकि उन चारोंका उदय विग्रहगतिमें ही होता है। सारांश यह है कि यों तो सभी प्रकृतियोंका उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षाको लेकर होता है। किन्तु यहाँ क्षेत्रकी मुख्यता है, क्योंकि जब जीव परभवके लिये गमन करता है, तो आनुपूर्वीका उदय उसे उसीतरह उत्पत्तिस्थानके अभिमुख

---

१ 'जा जं समेच्च हेउं विवाग उदयं उवेंति पगईओ।

ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइं सुगमाइं ॥१६३॥' पञ्चसंग्रह।

अर्थात्—जो प्रकृति जिस हेतुको निमित लेकर उदयमें आती है, उसका नाम उसी विपाकसे कहा जाता है।

२-व्वीओ ख० पु०।

३ आनुपूर्वीके स्वरूपको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मौलिक मतभेद है, यद्यपि दोनोंही उसे क्षेत्रविपाकी मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब जीव जाता है, तो आनुपूर्वीनामकर्म श्रेणिके अनुसार गमन करते हुए उस जीवको उसके विश्रेणिमें स्थित उत्पत्तिस्थानतक ले जाता है, इसीसे आनुपूर्वीका उदय केवल वक्रगतिमें ही माना गया है। यथा "पुव्वी उदओ वक्के"। प्र० कर्मग्र०, गा० ४२।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें आनुपूर्वी नामकर्म पहला शरीर छोड़नेके

रखता है, जैसे नाथ बैलको उसके गन्तव्यस्थानके अभिमुख रखती है। अतः आंनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी है।

१४-१५ जीव और भवविपाकिद्वार

अब क्रमशः जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को कहते हैं—

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

अर्थ—घातिकर्मोंकी प्रकृतियां सैंतालीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थङ्कर, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त) और इनसे इतरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभगचतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), दुर्भगचतुष्क (दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), उछ्वास और जातित्रिक (पांच जाति, चार गति, दो विहायोगति), ये अठत्तर प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी हैं। चारों आयु भवविपाकिनो हैं।

बाद और नया शरीर धारण करनेसे पहले, अर्थात् विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्वशरीरके सामान बनाये रखता है। और उसका उदय ऋजु और वक्र दोनों गतियोंमें होता है। आनुपूर्वीके भवविपाकी होनेमें एक शङ्का और उसका समाधान निम्न प्रकार है—

"अणुपुव्वीणं उदओ किं संकमणेण नत्थि संतेवि ।
जह खेत्तहेउओ ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥१६६॥" पञ्चसं०।

शङ्का—विग्रहगतिके विना भी संक्रमणके द्वारा आनुपूर्वीका उदय होता है, अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गतिकी तरह जीवविपाकी क्यों नहीं माना जाता? **उत्तर**—संक्रमणके द्वारा विग्रहगतिके विना भी, आनुपूर्वीका उदय होता है, किन्तु जैसे उसका क्षेत्रकी प्रधानतासे विपाक होता है, वैसा अन्य किसी भी प्रकृतिका नहीं होता।

भावार्थ—इस गाथामें जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को बतलाया है। जो प्रकृतियाँ जीवमें ही अपना फल देती हैं, अर्थात् जीवके ज्ञानादिस्वरूपका घात वगैरह करती हैं, वे जीवविपाकिनी कहलाती हैं। यद्यपि सभी प्रकृतियाँ किसी न किसी रूपसे जीवमें ही अपना फल देती हैं, जैसे, आयुका भवधारणरूप विपाक जीवमें ही होता है, क्योंकि आयुकर्मका उदय होनेपर जीवको ही भवधारण करना पड़ता है। तथा, क्षेत्रविपाकिनी आनुपूर्वी भी श्रेणिके अनुसार गमनकरने रूप जीवके स्वभावको स्थिर रखती है। तथा, पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ भी जीवमें ऐसी शक्ति पैदा करती हैं, जिससे वह जीव अमुकप्रकारके ही पुद्गलोंको ग्रहण करता है। तथापि, क्षेत्रविपाकिनी, भवविपाकिनी और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ क्षेत्र वगैरहकी मुख्यतासे अपना फल देती हैं, जब कि जीवविपाकिप्रकृतियाँ क्षेत्र आदिकी अपेक्षाके बिना ही जीवमें ही अपना साक्षात् फल देती हैं। जैसे, ज्ञानावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीव ही अज्ञानी होता है, शरीर वगैरहमें उनका कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी तरह दर्शनावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही दर्शनगुणका घात होता है, सातवेदनीय और असातवेदनीयके उदयसे जीव ही सुखी और दुःखी होता है, मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे जीव के ही सम्यक्त्व और चारित्रगुणका घात होता है, पाँच अन्तरायोंके उदयसे जीव ही दान वगैरह नहीं दे या ले सकता। अतः उक्त गाथामें गिनाई गई ७८ प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी कही जाती हैं।

चारों आयु भवविपाकिनी हैं, क्योंकि परभवकी आयुका बन्ध होजाने पर भी, जबतक जीव वर्तमान भवको त्यागकर अपने योग्य भव प्राप्त नहीं करता तबतक आयुकर्मका उदय नहीं होता, अतः आयुकर्म भवविपाकी है।[1]

शङ्का—आयुकर्मकी तरह गतिनामकर्म भी अपने योग्य भवके प्राप्त होनेपर

---

१ "आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभवे जम्हा।
नो सव्वहावि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि ॥१६५॥" पञ्चसं०।

ही उदयमें आता है, अतः उसे भवविपाकी क्यों नहीं कहा ? **उत्तर**—आयुकर्म और गतिकर्मके विपाकमें बहुत अन्तर है। आयुकर्म तो जिस भवके योग्य बांधा जाता है नियमसे उसी भवमें अपना फल देता है। जैसे, मनुष्यायुका उदय मनुष्यभवमें ही हो सकता है, इतरभवमें नहीं हो सकता। अतः किसी भी भवके योग्य आयुकर्मका बन्ध होजानेके पश्चात् जीवको उस भवमें अवश्य जन्मलेना पड़ता है। किन्तु गतिकर्ममें यह बात नहीं है, विभिन्न परभवोंके योग्य बंधी हुई गतियोंका उस ही भवमें संक्रमण वगैरहके द्वारा उदय हो सकता है। जैसे, मोक्षगामी चरमशरीरी जीवके परभवके योग्य बँधी हुई गतियाँ उसी भवमें क्षय होजाती हैं। अतः गतिनामकर्म भवका नियामक नहीं है, इसलिये वह भवविपाकी नहीं है। इस प्रकार चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ द्वार समाप्त होता है।
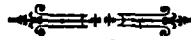
१६. पुद्गलविपाकिद्वार

अब सोलहवें द्वारमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियोंको गिनाते हैं—

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं।
पुग्गलविवागि ....

अर्थ—नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियाँ बारह[1], तनुचतुष्क (तीन शरीर[2], तीन उपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत आदि तीन, अर्थात् उद्योत, आतप और पराघात, ये छत्तीस प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियोंको गिनाया है।

---

१ निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण और वर्णचतुष्क।

२ तैजस और कार्मण शरीर नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें आजाते हैं।

शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें ही ये प्रकृतियाँ अपना फल देती हैं, अतः पुद्गलविपाकिनी हैं। जैसे, निर्माण नामकर्मके उदयसे शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें अङ्ग और उपाङ्गका नियमन होता है। स्थिर नामकर्मके उदयसे दांत आदि स्थिर, और अस्थिर नामकर्मके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर होते हैं। शुभ नामकर्मके उदयसे सिर आदि शुभ, और अशुभनामकर्मके उदयसे पैर आदि अशुभ अवयव बनते हैं। शरीरनाम-कर्मके उदयसे ग्रहीत पुद्गल शरीररूप परिणत होते हैं। अङ्गोपाङ्गके उदयसे शरीरमें अङ्ग और उपाङ्गका विभाग होता है। संस्थानकर्मके उदयसे शरीरका आकार विशेष बनता है। संहननकर्मके उदयसे अस्थियोंका बन्धनविशेष होता है। उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत, आतप वगैरह प्रकृतियाँ भी शरीररूप परिणत हुए पुद्गलोंमें ही अपना फल देती हैं। अतः ये सब पुद्गलविपाकिनी हैं।

शङ्का[1]—रति और अरतिकर्म भी पुद्गलोंकी अपेक्षासे ही अपना फल देते हैं, क्योंकि कांटा वगैरहके लगजानेपर अरतिका उदय होता है, और फूलमाला, चन्दन वगैरहका स्पर्श होनेपर रतिका उदय होता है। अतः इन्हें पुद्गलविपाकी क्यों नहीं बतलाया?

उत्तर—कांटे वगैरहके न लगनेपर भी, प्रिय और अप्रिय वस्तुके दर्शन, स्मरण वगैरहसे ही रति और अरति कर्मका विपाकोदय देखा जाता है। यतः वे दोनों पुद्गलके विना भी उदय में आजाते हैं, अतः पुद्गलविपाकी नहीं हैं। इस प्रकार पुद्गलविपाकि[2]प्रकृतिद्वारका निरूपण जानना चाहिये।

---

१ "अरइरईणं उदओ किन्न भवे पोग्गलाणि संपप्प।
अप्पुट्ठेहिवि किन्नो एवं कोहाइयाणंपि ॥ १६४ ॥" पञ्चसं०।

२ गो० कर्मकाण्डमें (गा०४७-४९) भी विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है। दोनों ग्रन्थोंमें केवल इतनाही अन्तर है कि कर्मकाण्डमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियां ६२ बतलाई है, जब कि कर्मग्रन्थमें उनकी संख्या ३६ है। इस अन्तरका

१७. प्रकृतिबन्धद्वार

विभिन्न प्रकृतिद्वारों का वर्णन समाप्त करके, अब बन्धद्वारों का वर्णन करते हुए सबसे पहले बन्धके भेद बतलाते हैं—

.... बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥ २१ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध।

भावार्थ—आत्मा और कर्मपरमाणुओंके सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं। उसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, और प्रदेशबन्ध। रसबन्धका दूसरा नाम अनुभागबन्ध और अनुभवबन्ध भी है। दिगम्बर साहित्यमें दूसरा नाम अनुभागबन्ध ही विशेषतया प्रचलित है। स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्धके समुदायको प्रकृतिबन्ध[1] कहते हैं। अर्थात् इस परिभाषाके अनुसार प्रकृतिबन्ध कोई स्वतंत्र बन्ध नहीं है, किन्तु शेष तीन बन्धोंके समुदायका ही नाम है। दूसरी परिभाषाके अनुसार प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है, और उसके अनुसार जुदे जुदे कर्मोंमें ज्ञानादिको घातने का जो स्वभाव उत्पन्न होता है, वह प्रकृतिबन्ध कहलाता है। दिगम्बर-साहित्यमें प्रकृतिबन्धकी यह दूसरी परिभाषा ही पाई जाती है।

कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें बन्धन और संघात प्रकृतियोंको छोड़ दिया है, और वर्णचतुष्कमें वर्ण आदिके भेद नहीं गिने हैं, जो बीस होते हैं। इस प्रकार १०+१६=२६ प्रकृतियोंको कम करनेसे ६२+२६=३६ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। कर्मप्रकृति (बन्धनकरण, पृ० १२) की उपाध्याय यशोविजयजीकृत टीकामें भी विपाकिप्रकृतियोंका वर्णन किया है। पञ्चसंग्रह, गा० १४१-१४२ में विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है।

१ "ठिईबंधो दलस्स ठिई पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबंधो ॥४३२॥" पञ्चसं०।

जीवके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में, अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ रहनेके कालकी मर्यादाके होनेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मपुद्गलों में फलदेनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको रसबन्ध कहते हैं। और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होतीं हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फलदेनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिणाममें उनका जीवके साथ सम्बन्ध होना। इन चार बातोंको ही चारबन्ध कहते हैं। इनमेंसे[1] स्वभाव अर्थात् प्रकृतिबन्ध और कर्मपरमाणुओंका अमुक संख्यामें जीवकेसाथ सम्बद्ध होना अर्थात् प्रदेशबन्ध तो जीवकी योगशक्तिपर निर्भर हैं। तथा स्थिति और फलदेनेकी शक्ति जीवके कषायभावोंपर निर्भर है। योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी बन्धको प्राप्त कर्मपुद्गलोंका स्वभाव और परिमाण भी वैसाही तीव्र या मन्द होगा। इसी तरह जीवकी कषाय जैसी तीव्र या मन्द होगी, बन्धको प्राप्त परमाणुओं की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मन्द होगी। जीवकी योगशक्तिको हवा, कषायको चिपकनेवाली गोंद और कर्मपरमाणुओंको रजकण की उपमा दी जाती है। जैसे हवाके चलते ही धूलिके कण उड़ उड़कर उन स्थानोंपर जमजाते हैं जहाँ कोई चिपकानेवाली वस्तु गोंद वगैरह लगी होती है। उसी तरह जीवकी प्रत्येक शारीरिक, वाचनिक और मानसिकक्रियाके साथ कर्म पुद्गलोंका आत्मामें आश्रव होता है। जीवके संक्लेशपरिणामोंको सहायता पाकर वे जीवके साथ बंध जाते हैं। वायु तीव्र या मन्द जैसी होती है धूलि भी उसी परिमाणमें उड़ती है, तथा गोंद वगैरह जितनी चिपकाहटवाली होती है धूलि भी उतनी ही स्थिरताके साथ वहां ठहर जाती है। इसीतरह योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्मपरमाणुओंकी संख्या भी उतनी

---

१ "पयडिपएसबंधा जोगेहिं कसायओ इयरे" ॥२०४॥ पञ्च०सं।

ही अधिक होती है। तथा कषाय जितनी तीव्र होती है, कर्मपरमाणुओंमें उतनी ही अधिक स्थिति और उतना ही अधिक अनुभागबन्ध होता है। इन बन्धोंका स्वरूप समझनेके लिये मोदकका[१] दृष्टान्त भी दिया जाता है। जैसे वायुनाशक वस्तुओंसे बना मोदक वायुको शान्त करता है, पित्तनाशकवस्तु-ओंसे बना मोदक पित्तको शान्त करता है और कफनाशकवस्तुओंसे बना मोदक कफका नाश करता है। तथा कोई मोदक दो दिनतक खराब नहीं होता, कोई मोदक एक सप्ताहतक खराब नहीं होता। किसीमें अधिक मीठा होता है, किसीमें कम मीठा होता है। कोई तोलाभर कनकका होता है, कोई छटाँकभरका होता है इत्यादि। इसीतरह कर्मोंमें भी किसीका स्वभाव ज्ञानको आच्छादन करना है, किसीका स्वभाव दर्शनको आच्छादन करना है। किसीकी तीस कोटीकोटी सागरकी स्थिति है, किसीकी सत्तर कोटीकोटी सागरकी स्थिति है। किसीमें कम रस है किसीमें अधिक। किसीमें कम कर्मपरमाणु हैं, किसीमें अधिक कर्मपरमाणु हैं। इसप्रकार बन्धोंका स्वरूप समझना चाहिये।

उक्त चार बन्धोंमेंसे पहले प्रकृतिबन्धका वर्णन करते हुए, मूलप्रकृति-बन्धके स्थान और उनमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य ब-न्धोंको बतलाते हैं—

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगबंधेसु[२] तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण[३] हु अवत्तव्वो ॥२२॥

अर्थ—मूल प्रकृतियोंके आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छप्रकृतिक और एकप्रकृतिक, इस प्रकार चार बन्धस्थान होते हैं। तथा उन बन्धस्थानोंमें तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बन्ध होते हैं। किन्तु

---

१ "पयइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ॥२॥" प्र० कर्मग्र०।
२ अड–ख० पु०। ३ न ख० पु०।

अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

भावार्थ—एक जीवके एक समयमें जितने कर्मोंका बन्ध होता है, उनके समूहको एक बन्धस्थान कहते हैं। इस बन्धस्थानका विचार दो प्रकारसे किया जाता है—एक मूल प्रकृतियों में और दूसरे उन मूलप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियोंमें। पहले बतला आये हैं कि मूलकर्म आठ हैं और उनकी बन्धप्रकृतियाँ एकसौ बीस हैं। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंके ही बन्धस्थान बतलाये हैं।

साधारणतया प्रत्येक जीवके आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्म प्रतिसमय बंधते हैं। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध प्रतिसमय न होकर नियत समयमें ही होता है। जब कोई जीव आयुकर्मका भी बन्ध करता है, तब उसके आठ कर्मोंका बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह ही कर्मोंका बन्ध होता है, क्योंकि आयुकर्म सातवें गुणस्थानतक ही बंधता है और मोहनीयकर्म नवे गुणस्थानतक ही बंधता है, आगे नहीं बंधता। दसवें गुणस्थानसे आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल एक सातवेदनीयकर्मका ही बन्ध होता है, शेष कर्मोंके बन्धका निरोध दसवें गुणस्थानमें ही होजाता है। इस प्रकार मूलप्रकृतियोंके चार ही बन्धस्थान होते हैं—आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और एकप्रकृतिक। अर्थात् कोई जीव एक समयमें आठकर्मोंका

---

१ "जा अपमत्तो सत्तट्ठबंधगा सुहुम छण्हमेगस्स।
उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्टी-मीस-अनियट्टी ॥२०९॥" पञ्चसं०

अर्थात्—'अप्रमत्त गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मोंका बन्ध होता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्ध होता है, और उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। निवृत्तिकरण, मिश्र और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आयुके बिना सात ही कर्मोंका बन्ध होता है।'

बन्ध करता है, कोई एक समयमें सातकर्मोंका बन्ध करता है, कोई एक समयमें छह कर्मोंका बन्ध करता है और कोई एक समयमें केवल एक हो कर्मका बन्ध करता है। इसके सिवाय कोई भो दशा ऐसी नहीं है, जहां एक साथ दो, या तीन, या चार, अथवा पाँच कर्मोंका बन्ध हो सकता हो।

इन चार बन्ध स्थानोंमें तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बन्ध होते हैं। जब कोई जीव पहले समयमें कम कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करके दूसरे समयमें उससे अधिक कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करता है, तो उस बन्धको भूयस्कार बन्ध कहते हैं। मूलप्रकृतियोंमें इस प्रकारके बन्ध तीनही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें एक सातवेदनीय कर्मका बन्ध करके, वहांसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें आता है, और वहाँ छह कर्मोंका बन्ध करता है। यह पहला भूयस्कार बन्ध है। वही जीव दसवें गुणस्थानसे भी च्युत होकर जब नोचेके गुणस्थानोंमें आता है और वहाँ सातकर्मोंका बन्ध करता है, तब दूसरा भूयस्कार बन्ध होता है। वही जीव आयुकर्मका बन्धकाल आनेपर जब आठकर्मोंका बन्ध करता है, तब तीसरा भूयस्कारबन्ध होता है। इस प्रकार एकसे छह, छहसे सात और सातसे आठका बन्ध होनेके कारण भूयस्कारबन्ध तीनही होते हैं। उक्त चार बन्धस्थानोंमें इन तीन भूयस्कार बन्धोंके सिवाय तीन अन्य भूयस्कार बन्ध हो सकनेकी संभावना की जा सकती है—एक, एकको बाँधकर सातकर्मोंका बन्ध करना, दूसरा एकको बांध कर आठकर्मोंका बन्ध करना और तीसरा, छहको बाँधकर आठकर्मोंका बन्ध करना। इन तीन भूयस्कारबन्धोंमेंसे आदिके दो भूयस्कारबन्ध दो तरहसे हो सकते है—एक गिरनेकी अपेक्षासे, दूसरे मरनेकी अपेक्षासे। किन्तु गिरनेकी अपेक्षासे आदिके दो भूयस्कारबन्ध इसलिये नहीं हो सकते कि ग्यारहवें गुणस्थानसे जीवका पतन क्रमशः होता है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर जीव दसवें गुणस्थानमें आता है और दसवें गुणस्थानसे

नवें गुणस्थानमें आता है। यदि जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर नवमें गुणस्थानमें या सातवें गुणस्थानमें आसकता तो एकको बाँधकर सातकर्मोंका अथवा आठकर्मोंका बन्ध करसकता था और इस प्रकार ये दो भूयस्कारबन्ध बन सकते थे। किन्तु यतः पतन क्रमशः होता है अतः ये दो भूयस्कारबन्ध पतनकी अपेक्षासे तो नहीं बन सकते। इसीप्रकार छहको बाँधकर आठकर्मों-का बन्धरूप तीसरा भूयस्कार भी नहीं बन सकता, क्योंकि छहकर्मोंका बन्ध दसवें गुणस्थानमें होता है और आठकर्मोंका बन्ध सातवें और उससे नीचे के गुणस्थानोंमें होता है। यदि जीव दसवें गुणस्थानसे गिरकर एकदम सातवें गुणस्थानमें आ सकता तो वह छहको बाँधकर आठका बन्ध कर सकता था, किन्तु पतन क्रमशः ही होता है। अर्थात् दसवें गुणस्थानसे गिरकर जीव नवमे गुणस्थानमें ही आता है। अतः तीसरा भूयस्कारबन्ध भी नहीं बन सकता। अब शेष रह जाता है आदिके दो भूयस्कारबन्धोंका मरणकी अपेक्षासे हो सकना। ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके जीव देवगतिमें ही जन्म लेता है, ऐसा नियम[1] है। वहाँ वह सात ही कर्मोंका बन्ध करता है, क्योंकि देवगति में छह मासकी आयु शेष रहनेपर ही आयुका बन्ध होता है। अतः मरणकी अपेक्षासे एकका बन्ध करके आठका बन्ध कर सकना सम्भव नहीं है। इसलिये यह भूयस्कार नहीं हो सकता। किन्तु एकको बाँधकर सातका बन्धरूप भूय-स्कार सम्भव है। किन्तु उसके बारेमें **पञ्चमकर्मग्रन्थके टबेमें** इसप्रकार लिखा है—**"अहीआं कोइ पूछे जे उपशमश्रेणीयें अगीआरमें गुण-ठाणे आयुक्षयें मरण पामीने अनुत्तरविमानें देवता पणे उपजे, ते**

---

१ **"बद्धाऊ पडिवन्नो सेढिगओ वा पसंतमोहो वा।**
जइ कुणइ कोइ कालं वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसु॥१३११॥" विशे० भा०।
अर्थात्—'यदि बद्धायु जीव उपशमश्रेणि चढ़ता है, और वह श्रेणिके मध्यके किसी गुणस्थानमें अथवा ग्यारहवें गुणस्थानमें यदि मरण करता है, तो नियमसे अनुत्तरवासी देवोंमें उत्पन्न होता है।'

प्रथम समयें गुणठाणें सात कर्म बांधें, तेने प्रथम समय भूयस्कार होय, तो ए चोथो भूस्कार केम न कह्यो ? तेनो उत्तर कहे छे के जो पण एक बन्ध थी सातकर्म बन्ध करे तो पण बन्ध स्थानक सातनुं एकज छे, ते भणी जुदो न लेख्यो, बन्धस्थानकनो भेद होय तो जुदो भूयस्कार लेखवाय।"

अर्थात्—"यहाँ कोई पूछता है कि उपशमश्रेणीके ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुक्षय होनेपर मरण करके कोई जीव अनुत्तर विमानमें देव होता है। वहाँ वह प्रथम समयमें चौथे गुणस्थानमें सात कर्मोंका बन्ध करता है, अतः उसके प्रथम समयमें भूयस्कार होता है, तो यह चौथा भूयस्कार क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर देते हैं कि जो एकको बाँधकर सातकर्मका बन्ध करता है, तो बन्धस्थान सातका ही रहता है, इसलिये इसे जुदा नहीं लिखा है। यदि बन्धस्थानका भेद होता तो जुदा भूयस्कार लिखा जाता।"

इसका आशय यह है कि उक्त तीन भूयस्कारोंमें छहको बाँधकर सात का बन्धरूप एक भूयस्कार बतला आये हैं। एकको बाँधकर सातका बन्धरूप भूयस्कारमें भी सातका ही बन्धस्थान होता है, अतः उसे पृथक् नहीं गिनाया है। इसप्रकार उपशमश्रेणीसे उतरनेपर उक्त तीन ही भूयस्कारबन्ध होते हैं।

भूयस्कारबन्धसे बिलकुल उलटा अल्पतर बन्ध होता है। अर्थात् अधिक कर्मोंका बन्ध करके कम कर्मोंके बन्ध करनेको अल्पतर बन्ध कहते हैं। भूयस्कारकी तरह अल्पतर बन्ध भी तीन ही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

आयुकर्मके बन्धकालमें आठकर्मोंका बन्धकरके जब जीव सातकर्मोंका बन्ध करता है तो पहला अल्पतर बन्ध होता है। नवमें गुणस्थानमें सात कर्मोंका बन्धकरके दसवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जब जीव मोहनीयके बिना शेष छह कर्मोंका बन्ध करता है, तब दूसरा अल्पतर बन्ध होता है। तथा, दसवें गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्धकरके ग्यारहवें अथवा बारहवें गुणस्थान-

में एक कर्मका बन्ध करनेपर तीसरा अल्पतरबन्ध होता है। यहां पर भी आठका बन्ध करके छह तथा एकका बन्धरूप और सातका बन्ध करके एक का बन्धरूप अल्पतर बन्ध नहीं हो सकते, क्योंकि अप्रमत्त तथा अनिवृत्ति-करण गुणस्थानसे जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थानमें नहीं जा सकता और न अप्रमत्तसे एकदम दसवें गुणस्थानमें ही जा सकता है। अतः अल्पतरबन्ध भी तीन ही जानने चाहियें।

पहले समयमें जितने कर्मोंका बन्ध किया है, दूसरे समयमें भी उतनेही कर्मोंका बन्ध करनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं। अर्थात् आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका, और एकको बाँधकर एकका बन्ध करनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं। यतः बन्धस्थान चार हैं अतः अवस्थितबन्ध भी चारही होते हैं।

एक भी कर्मको न बाँधकर पुनः कर्मबन्ध करनेको अवक्तव्यबन्ध कहते हैं। यह बन्ध मूलप्रकृतियोंके बन्धस्थानोंमें नहीं होता, क्योंकि तेरहवें गुण-स्थान तक तो बराबर कर्मबन्ध होता है, केवल चौदहवें गुणस्थानमें ही किसी भी कर्मका बन्ध नहीं होता। परन्तु चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचनेके बाद जीव लौटकर नीचेके गुणस्थानोंमें नहीं आता। अतः एक भी कर्मका बन्ध न करके पुनः कर्मबन्ध करनेका अवसर ही नहीं आता। इसलिये अवक्तव्य-[1]

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है–

"इगछाइ मूलियाणं बन्धट्ठाणा हवंति चत्तारि।
अब्बंधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि ॥ २२० ॥"

अर्थात्–मूलप्रकृतियोंके एक प्रकृतिक छह प्रकृतिक वगैरह चार बन्धस्थान होते हैं। यहां एक भी मूलप्रकृतिका बन्ध न करके पुनः प्रकृति बन्ध करना संभव नहीं है अतः अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

कर्मकाण्ड गा० ४५३ में मूल प्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनमें भूय-स्कार, जिसे वहाँ भुजाकार कहा है, आदि बन्ध इसी प्रकार बतलाये हैं।

बन्ध भी नहीं होता।

अब भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप कहते हैं—

एगादहिगे भूउं[2] एगाईऊणगम्मि अप्पतरो।
तम्मत्तोऽवट्ठियउ[3] पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥

अर्थ—एक दो आदि अधिक प्रकृतियोंके बाँधनेपर भूयस्कारबन्ध होता है, जैसे, एकको बाँधकर छहको बाँधना, छहको बाँधकर सातको बाँधना, और सातको बाँधकर आठको बाँधना भूयस्कार है। तथा, एक दो आदि हीन प्रकृतियोंका बन्ध करनेपर अल्पतर बन्ध होता है। जैसे, आठको बाँधकर सातको बाँधना, सातको बाँधकर छहको बाँधना और छहको बाँधकर एकको बाँधना अल्पतरबन्ध कहलाता है। तथा, पहले समयमें जितने कर्मोंका बन्ध किया हो आगेके समयोंमें भी उतने ही कर्मोंके बन्धकरनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं। जैसे आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका और एकको बाँधकर एकका बन्ध करना अवस्थितबन्ध है। तथा, किसी भी कर्मका बन्ध न करके पुनः कर्मबन्ध करनेपर पहले समयमें अवक्तव्यबन्ध होता है।

---

१ यह गाथा कर्मप्रकृतिके सत्ताधि० की निम्न गाथाका स्मरण कराती है।

"एगादहिगे पढमो एगाई ऊणगम्मि बिइओ ए।
तत्तियोमेत्तो तइओ पढमे समये अवत्तव्वो ॥ ५२ ॥"

इस गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने मूलकर्मोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका विचार किया है।

कर्मकाण्डमें भी इन बन्धोंका लक्षण इसीप्रकार है—

"अप्पं बंधंतो बहुबंधे बहुगादु अप्पबंधेवि।
उभयत्थसमे बंधे भुजगारादी कमे होंति ॥ ४६९ ॥"

२ भूओ ख. पु.। ३-यओ ख. पु.।

भावार्थ—इस गाथामें भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप बतलाया है। उनके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्ध केवल पहले समयमें ही होते हैं और अवस्थितबन्ध द्वितीयादि समयोंमें होता है। जैसे,कोई जीव छह कर्मोंका बन्धकरके सातका बन्ध करता है, यह भूयस्कारबन्ध है। दूसरे समयमें यही भूयस्कार नहीं होसकता, क्योंकि प्रथम समयमें सातका बन्ध करके यदि दूसरे समयमें आठका बन्ध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है, यदि छहका बन्ध करता है तो अल्पतर होजाता है और यदि सातका बन्ध करता है तो अवस्थितबन्ध होजाता है। सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्यामें परिवर्तन हुए बिना अधिक बाँधकर कम बाँधना, कम बाँधकर अधिक बाँधना और कुछ भी न बाँधकर पुनः बाँधना केवल एकबार ही संभव है, जब कि उतने ही कर्म बाँधकर पुनः उतने ही कर्म बाँधना पुनः पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थितबन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बन्धोंमें यह बात नहीं है॥

मूलप्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका कथन करके, अब उत्तरप्रकृतियोंमें उन्हें बतलाते हैं—

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि॥२४॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप, इस प्रकार तीन बन्धस्थान होते हैं। तथा उनमें दो भूयस्कार, दो

---

१ पञ्चसङ्ग्रहके सप्ततिका नामक अधिकारमें भी दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान इसी प्रकार बतलाये हैं-

"नवछच्चउहा बज्झइ दुगट्ठदसमेण दंसणावरणं॥ १०॥"

अर्थात्—दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं। उनमेंसे पहले और दूसरे गुणस्थानमें नौप्रकृतिरूप बन्धस्थान पाया जाता है। उनसे आगे आठवें गुण-

अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं। मोहनीयकर्मके बाईस प्रकृतिरूप, इक्कीस प्रकृतिरूप, सतरह प्रकृतिरूप, तेरह प्रकृतिरूप, नौ प्रकृतिरूप, पाँच प्रकृतिरूप, चार प्रकृतिरूप, तीन प्रकृतिरूप, दो प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार दस बन्धस्थान होते हैं। तथा, उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं।

भावार्थ—उत्तरप्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा दर्शनावरण और मोहनीयकर्मके बन्धस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंको गिनाया है। मूलप्रकृतियोंके पाठक्रमके अनुसार पहले ज्ञानावरणकर्मके बन्धस्थानोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंको बतलाना चाहिये था। किन्तु ऐसा न करके दर्शनावरण और मोहनीयसे इस प्रकरणके प्रारम्भ करनेका कारण यह है कि भूयस्कार आदि बन्ध केवल तीनही कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें होते हैं। उनके नाम दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म हैं। शेष पाँच कर्मोंमें उनकी संभावना भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मकी पाँचो प्रकृतियाँ एक साथही बंधती हैं और एक साथही रुकती हैं। अतः दोनों कर्मोंका पाँच प्रकृतिरूप एक ही बन्धस्थान होता है। और एक बन्धस्थानके होते हुए भूयस्कार आदि बन्ध कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ऐसी दशामें तो सर्वदा ही अवस्थितबन्ध रहता है।

इसीप्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है, अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बन्ध नहीं होते। इसीसे **गोमट्टसार कर्मकाण्डमें** उत्तर प्रकृतियोंमें भुजाकार आदि बन्धोंका निरूपण

स्थान तक छह प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है और उससे आगे दसवें गुणस्थान तक चार प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है।

करते हुए लिखा है–

"तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि दंसणावरणमोहणामाणं।
एत्थेव य भुजगारा सेसेसेयं हवे ठाणं ॥ ४५८ ॥"

अर्थात्–दर्शनावरण, मोह और नामकर्मके क्रमश: तीन, दस और आठ बन्धस्थान होते हैं। और इन्हींमें भुजाकार आदि बन्ध होते हैं। शेष कर्मोंमें केवल एकही बन्धस्थान होता है। अस्तु,

दर्शनावरण और मोहनीयकर्मके बन्धस्थानोंमें भूयस्कार आदिबन्ध निम्न-प्रकार होते हैं–

दर्शनावरण–इस कर्मकी नौ प्रकृतियाँ है और उनमें तीन बन्ध-स्थान होते हैं। क्योंकि सास्वादन गुणस्थानतक तो सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है। सास्वादन गुणस्थानके अन्तमें स्त्यानर्द्धित्रिकके बन्धकी समाप्ति हो जाती है, अत: आगे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथमभागतक शेष छह ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अपूर्वकरणके प्रथमभागके अन्तमें निद्रा और प्रचलाके बन्धका निरोध होजाता है, अत: उससे आगे दसवें गुणस्थानतक शेष चारही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। इस प्रकार दर्शनावरणकर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप तीन बन्धस्थान होते हैं। उनमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं। जो इस प्रकार हैं–

अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे लेकर दसवें गुणस्थानतक किसी

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है–

'बंधट्ठाणा तिदसट्ठ दंसणावरणमोहनामाणं।
सेसाणेगमवट्ठियबंधो सव्वत्थ ठाणसमो ॥ २२२ ॥'

अर्थात्–दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं, मोहनीयके दस बन्धस्थान हैं नामकर्मके आठ बन्धस्थान हैं, और शेषकर्मोंका एक एकही बन्धस्थान है। जितने बन्धस्थान होते हैं, उतनेही अवस्थितबन्ध होते हैं।

एक गुणस्थानमें चार प्रकृतियोंका बन्ध करके, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुण-स्थानके द्वितीयभागसे नीचे आकर छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला भूयस्कारबन्ध होता है । वहांसे भी गिरकर जब नौ प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब दूसरा भूयस्कारबन्ध होता है । इस प्रकार दो भूयस्कारबन्ध जानने चाहियें ।

अल्पतरबन्ध उनसे विपरीत होते हैं । अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रकृतियोंका बन्धकरके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला अल्पतरबन्ध होता है । और जब छह का बन्धकरके चारका बन्धकरता है तो दूसरा अल्पतरबन्ध होता है । इस प्रकार दो अल्पतर बन्ध होते हैं । तथा, तीन बन्धस्थानोंके तीन ही अव-स्थितबन्ध होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दर्शनावरणकर्मका बिल्कुल बन्ध न करके, जब कोई जीव वहांसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रकृतियोंका बन्ध करता है तो पहला अवक्तव्यबन्ध होता है । और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके अनुत्तरोंमें उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रथम समयमें दर्शनावरणकी छह प्रकृतियोंका बन्ध करता है । यह दूसरा अवक्तव्यबन्ध है । इस प्रकार दर्शनावरणकर्ममें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं ।

मोहनीय-इस कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं । उनमेंसे सम्यक्-

---

१ गो० कर्मकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बन्धोंमें कुछ अन्तर है । उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अव-क्तव्य बन्ध बतलाये हैं, जैसा कि उसकी निम्नगाथासे स्पष्ट है-

"दस वीसं एक्कारस तेत्तीसं मोहबंधठाणाणि ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥ ४६८ ॥"

अर्थ-मोहनीयकर्मके दस बन्धस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

तेतीस अवस्थित और 'य' से दो अवक्तव्य बन्ध सामान्यसे होते हैं। कर्मग्रन्थ और कर्मकाण्डके इस विवेचनमें अन्तर पड़नेका यह कारण है कि कर्मग्रन्थमें भूयस्कार आदि बन्धोंका विवेचन केवल गुणस्थानों से उतरने और चढ़नेकी अपेक्षासे किया है। किन्तु कर्मकाण्डमें उक्त दृष्टिके साथही साथ इस बातका भी ध्यान रखा गया है कि ऊपर चढ़ते समय जीव किस गुणस्थानसे किस किस गुणस्थानमें जा सकता है और नीचे उतरते समय किस गुणस्थानस किस किस गुणस्थानमें आ सकता है। इसके सिवाय मरण की अपेक्षासे भी भूयस्कार आदि बन्ध गिनाये हैं।

कर्मग्रन्थमें एकसे दो, दोसे तीन, तीनसे चार आदिका बन्ध बतलाकर दस बन्धस्थानोंमें नौ भूयस्कार बन्ध बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनके सिवाय ग्यारह भुजाकार और बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं-मरणकी अपेक्षा से जीव एक को बांधकर सतरहका, दो को बांधकर सतरहका, तीनको बांध कर सतरहका, चारको बांधकर सतरहका और पांचको बांधकर सतरहका बन्ध करता है, अतः पांच भुजाकार तो मरणकी अपेक्षासे होते हैं। तथा, प्रमत्त नामक छठे गुणस्थानमें नौ प्रकृतियोंका बन्ध करके कोई जीव पांचवे गुणस्थानमें आकर तेरहका बन्ध करता है। कोई जीव चौथे गुणस्थानमें आकर सतरहका बन्ध करता है, कोई जीव दूसरे गुणस्थानमें आकर इक्कीसका बन्ध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थानमें आकर बाईसका बन्ध करता है, क्यों कि प्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर जीव नीचेके सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अतः नौके चार भुजाकार बन्ध होते है। तथा, इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानमें तेरहका बन्ध करके सतरह, इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अतः तेरहके तीन भुजाकार होते हैं। तथा, सतरह को बांधकर इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अतः सतरहके दो भुजाकार होते हैं। इस प्रकार नौके चार, तेरहके तीन और

सतरहके दो भुजाकार बन्ध होते हैं। किन्तु कर्मग्रन्थमें प्रत्येक बन्धस्थानका एक एक इस प्रकार तीन ही भुजाकार बतलाये हैं। अतः शेष छह रह जाते हैं। तथा मरणकी अपेक्षासे पाँच भुजाकार ऊपर बतला आये हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डमें ५+६=११ भुजाकार अधिक बतलाये हैं।

तथा, कर्मग्रन्थमें अल्पतरबन्ध आठ बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनकी संख्या ग्यारह बतलाई है, जो इस प्रकार है-कर्मग्रन्थमें बाईस को बाँधकर सतरहका बन्धरूप केवल एकही अल्पतर बन्ध गिनाया है किन्तु पहले गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठें गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अतः बाईसको बांधकर सतरह, तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण बाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके तीन अल्पतर बन्ध होते हैं। तथा, सतरहका बन्ध करके तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण सतरहके बन्धस्थानके दो अल्पतर बन्ध होते हैं। इस प्रकार बाईसके तीन और सतरहके दो अल्पतर बन्धोंमें से कर्मग्रन्थमें केवल एक एकही अल्पतर बतलाया है। अतः तीन शेष रह जाते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाण्डमें अधिक हैं।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें भी यदि उतनी ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है, जितनी प्रकृतियोंका बन्ध पहले समयमें हुआ था, तो उसे अवस्थित बन्ध कहते हैं। अतः कर्मकाण्डमें भुजाकार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्धोंकी संख्याके बराबरही अवस्थितबन्धकी संख्या बतलाई है। यदि दूसरे समयमें होनेवाले बन्धके ऊपरसे भूयस्कार, अल्पतर, अथवा अवक्तव्य पदोंको अलग करके उनकी वास्तविकता पर दृष्टि दी जाये तो मूल अवस्थितबन्ध उतनेही ठहरते हैं, जितने कि बन्धस्थान होते हैं। जैसे, किसी जीवने इक्कीसका बन्ध करके प्रथम समयमें बाईसका बन्ध किया और दूसरे समयमें भी बाईसका ही बन्ध किया। यहां प्रथम समयका बन्ध भूयस्कार

बन्ध है और दूसरे समयका अवस्थित । जिस प्रकार भूयस्कार आदि बन्धों का निरूपण किया जाता है, उसी प्रकार यदि अवस्थितबन्धका भी निरूपण किया जाये तो कहना होगा कि बाईसका बन्ध करके बाईसका बन्ध करना, इक्कीसका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध करना, सतरहका बन्ध करके सतरह का बन्ध करना आदि अवस्थित बन्ध है । अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल अवस्थित बन्ध उतने ही होते हैं, जितने कि बन्धस्थान होते हैं। इसीसे कर्मग्रन्थमें मोहनीयके अवस्थितबन्ध दसही बतलाये हैं । किन्तु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें प्रायः अवस्थितबन्ध होता है । अतः इन उपपदपूर्वक होनेवाले अवस्थितबन्ध भी उतनेही ठहरते हैं जितने कि उक्त तीनों बन्ध होते हैं । इसीसे कर्मकाण्डमें उक्त तीनों बन्धोंके बराबर ही अवस्थितबन्धका परिमाण बतलाया है । अवक्तव्यबन्ध कर्मग्रन्थके ही समान जानने चाहियें । इस प्रकार ये चारों बन्ध सामान्यसे कहे गये हैं ।

कर्मकाण्डमें विशेषरूपसे भी भुजाकार आदिको गिनाया है, जिनकी संख्या निम्न प्रकार है-

"सत्तावीसहिय सयं पणदालं पंचहत्तरिहिय सयं ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि विसेसेण ॥ ४७१ ॥"

अर्थ-विशेषपनेसे अर्थात् भङ्गोंकी अपेक्षासे एक सौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं, पैंतालीस अल्पतर होते हैं और एक सौ पचहत्तर अवक्तव्य बन्ध होते हैं ।

इन बन्धोंको जानने के लिये पहले भङ्गका जानना आवश्यक है । एक ही बन्धस्थानमें प्रकृतियोंके परिवर्तनसे जो विकल्प होते हैं, उन्हें भङ्ग कहते हैं । जैसे बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीनों वेदोंमें से एक वेदका और हास्य-रति और शोक-अरतिके दो युगलोंमें से एक युगलका बन्ध होता है अतः उसके ३×२=६ भङ्ग होते हैं, अर्थात् बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान को

कोई जीव हास्य रति और पुरुषवेदके साथ बांधता है, कोई शोक अरति और पुरुषवेदके साथ बांधता है । कोई हास्य रति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, कोई शोक अरति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, इसी तरह नपुंसकवेदमें भी समझ लेना चाहिये । इस प्रकार बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान भिन्न भिन्न जीवोंके छह प्रकारसे होता है । इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके चार भङ्ग होते हैं, क्योंकि उसमें एक जीवके एक समयमें दो वेदोंमें से किसी एक वेदका और दो युगलोंमें से किसी एक युगलका बन्ध होता है । सारांश यह है कि अपने अपने बन्धस्थानमें संभवित वेदों को और युगलोंको परस्परमें गुणा करनेसे अपने अपने बन्धस्थानके भङ्ग होते हैं । जो इस प्रकार हैं-

"छब्बावीसे चदु इगवीसे दो दो हवंति छट्ठोत्ति ।
एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥ ४६७ ॥"

अर्थ-मोहनीयके बन्धस्थानोंमें से बाईसके छह, इक्कीसके चार, इसके आगे प्रमत्तगुणस्थान तक संभवित बन्धस्थानोंके दो दो, और उसके आगे संभवित बन्धस्थानोंके एक एक भङ्ग होते हैं । इन भङ्गोंकी अपेक्षासे एकसौ सत्ताइस भुजाकार निम्नप्रकार हैं-

"णभ चउवीसं बारस वीसं चउरट्ठवीस दो दो य ।
थूले पणगादीणं तिय तिय मिच्छादिभुजगारा ॥ ४७२ ॥"

अर्थ-पहले गुणस्थानमें एक भी भुजाकार बन्ध नहीं होता, क्योंकि बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानसे अधिक प्रकृतियोंवाला कोई बन्धस्थान ही नहीं है, जिसके बांधनसे वहां भुजाकार बन्ध संभव हो । दूसरे गुणस्थानमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि इक्कीसको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर इक्कीसके चार भङ्गोंको और बाइसके छह भङ्गोको परस्परमें गुणा करने पर ४×६=२४ भुजाकार होते हैं । तीसरे में बारह भुजाकार होते हैं, क्योंकि

सत्तरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२ भङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार १२-८= बीस भङ्ग होते हैं। पांचवेमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+८+१२=२४ भङ्ग होते हैं। छठेमें अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर २×२=४, सतरहका बन्ध करने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध करने पर २×४=८ और बाइसका बन्ध करने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+४+८+१२=२८ भङ्ग होते है। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक भङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो भङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवे गुणस्थानमें पांच, चार आदि पांच बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक गिरनेकी अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

"अप्पदरा पुण तीसं णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्कं।
थूले पणगादीणं एक्केक्कं अंतिमे सुण्णं ॥ ४७३ ॥"

अर्थ—पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं, क्योंकि बाइसको बांध कर सतरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, तेरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, और नौ का बन्ध करने पर ६+१=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भङ्ग होते हैं। दूसरे गुणस्थानमें एक भी अल्पतर नहीं होता, क्योंकि दूसरके बाद पहलाही गुणस्थान होता है और उस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध करके बाइसका बन्ध

करता है जो कि भुजाकार बन्ध होता है। तीसरे गुणस्थानमें भी कोई अल्पतर नहीं होता क्योंकि तीसरे से पहले गुणस्थानमें आने पर भुजाकार बन्ध होता है और चौथेमें जाने पर अवस्थित बन्ध होता है; क्योंकि तीसरेमें सतरहका बन्ध होता है और चौथेमें भी सतरहका बन्ध होता है। चौथेमें छह अल्पतर होते हैं क्योंकि सतरहका बन्ध करके तेरहका बन्ध करन पर २×२=४ और नौ का बन्ध करने पर २×१=२, इसप्रकार ४+२=६ अल्पतर होते हैं। पांचवे गुणस्थानमें तेरहका बन्ध करके सातवेंमें जाने पर नौ का बन्ध करता है अतः वहां २×१=२ अल्पतर होते हैं। छठेमें भी दो अल्पतर होते हैं क्यों कि छठेसे नीचेके गुणस्थानोंमें आने पर तो भुजाकार बन्धही होता है किन्तु ऊपर सातवें में जाने पर दो अल्पतर बन्ध होते है। यद्यपि छठे और सातवें गुणस्थानमें नौ नौ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है किन्तु छठेके नौ प्रकृतिक स्थानके दो भङ्ग होते हैं क्योंकि वहां दोनों युगलका बन्ध संभव है और सातवेंके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका एकही भङ्ग होता है, क्योंकि वहां एकही युगलका बन्ध होता है, अतः प्रकृतियोंकी संख्या बरावर होने पर भी भङ्गों की हीनाधिकताके कारण २×१=२ अल्पतर बन्ध माने गये हैं। सातवें गुणस्थानमें एक भी अल्पतर नहीं होता, क्योंकि जब जीव सातवेंसे आठवें गुणस्थानमें जाता है तो वहां भी नौ ही प्रकृतियोंका बन्ध करता है, कम का नहीं करता। आठवेंमें नौ का बन्ध करके नवमें गुणस्थानमें पांचका बन्ध करने पर १×१=१ ही अल्पतर होता है। नौवें गुणस्थानमें पांचका बन्ध करके चारका बन्ध करने पर एक, चारका बन्ध करके तीनका बन्ध करने पर एक, तीनका बन्ध करके दो का बन्ध करने पर एक और दो का बन्ध करके एकका बन्ध करने पर एक, इस प्रकार चार अल्पतर होते हैं। इस प्रकार पैतालीस अल्पतर जानने चाहियें।

अवक्तव्य बन्ध निम्न प्रकार हैं-

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीयका तो बन्ध ही नहीं होता। तीन वेदोंमें से एक समयमें एकही वेदका बन्ध होता है। हास्य-रति और शोक-अरतिमें से भी एक समयमें एकही युगलका बन्ध होता है। अतः छह प्रकृतियोंको कम कर देने पर शेष बाईस प्रकृतियाँ ही एक समयमें बन्धको प्राप्त होती हैं। वे प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, सोलह कषाय, एकवेद, एक युगल, भय और जुगुप्सा। इस बाईस प्रकृतिरूप बन्धस्थानका बन्ध केवल पहले ही गुणस्थानमें होता है। दूसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्वके सिवाय शेष इक्कीस ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। तीसरे और चौथे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान, माया और लोभके सिवाय शेष सतरह ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। पाँचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कषायका बन्ध न हो सकने के कारण शेष तेरह ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरणकषायका बन्ध न होनेके कारण, शेष नौ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानके अन्तमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साकी बन्धव्युच्छिति होजानेके कारण नवें गुणस्थानके प्रथमभागमें पाँच ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। दूसरे भागमें वेदके बन्धका अभाव

"भेदेण अवत्तव्वा ओदरमाणम्मि एक्कयं मरणे।
दो चेव होंति एत्थवि तिण्णेव अवट्ठिदा भंगा॥ ४७४॥"

अर्थ-भङ्गोंकी अपेक्षासे, दसवें गुणस्थानसे उतरने पर एक अवक्तव्य बन्ध होता है। अर्थात् दसवें गुणस्थानमें मोहनीयका बन्ध न करके नवम गुणस्थानमें जब एक प्रकृतिका बन्ध करता है तब एक अल्पतर होता है, और दसवेंमें मरण करके देवगतिमें जन्म लेकर जब सतरहका बन्ध करता है, तब दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं। इस प्रकार तीन अवक्तव्य बन्ध जानने चाहियें। तथा, १२७ भुजाकार, ४९ अल्पतर और तीन अवक्तव्य बन्ध मिलकर एकसौ पचहत्तर अवस्थित बन्ध होते हैं। इस प्रकार विशेषरूप से भुजाकारादि बन्ध होते हैं।

होजानेसे चारका ही बन्ध होता है। तीसरे भागमें संज्वलन क्रोधके बन्धका अभाव होजानेके कारण तीनही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। चौथे भागमें संज्वलनमानका बन्ध न होनेसे दो प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है। पाँचवे भागमें संज्वलन मायाका भी बन्ध न होनेसे केवल एक संज्वलनलोभका ही बन्ध होता है। उसके आगे बादरकषायका अभाव होनेसे उस एक प्रकृति का भी बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्मके दस बन्धस्थान जानने चाहियें। इन दस बन्धस्थानोंमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं, जो निम्नप्रकार हैं—

एकको बाँधकर दो का बन्ध करनेपर पहला भूयस्कारबन्ध होता है। दो को बाँधकर तीनका बन्ध करने पर दूसरा भूयस्कार होता है। इसी प्रकार तीनको बाँधकर चारका बन्ध करनेपर तीसरा, चारको बाँधकर पाँचका बन्ध-करनेपर चौथा, पाँचका बन्ध करके नौका बन्ध करनेपर पाँचवां, नौका बन्ध करके तेरहका बन्ध करनेपर छठा, तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध करने पर सातवाँ, सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध करनेपर आठवाँ, और इक्कीसका बन्ध करके बाईसका बन्ध करनेपर नौवाँ भूयस्कारबन्ध होता है।

आठ अल्पतर बन्ध इस प्रकार हैं—बाईसका बन्धकरके सतरहका बन्ध करनेपर पहला अल्पतर होता है। सतरहका बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर दूसरा अल्पतर होता है। इसीप्रकार तेरहका बन्धकरके नौ का बन्ध करनेपर तीसरा, नौ का बन्ध करके पाँचका बन्ध करनेपर चौथा, पाँचका बन्ध करके चारका बन्ध करनेपर पाँचवां, चारका बन्धकरके तीनका बन्ध करने पर छठा, तीनका बन्ध करके दोका बन्ध करनेपर सातवाँ और दो का बन्ध-करके एकका बन्ध करनेपर आठवाँ अल्पतरबन्ध होता है। यहाँ बाईसका बन्धकरके इक्कीसका बन्धरूप अल्पतरबन्ध नहीं बतलाया है, क्योंकि बाईस का बन्ध पहले गुणस्थानमें होता है और इक्कीसका बन्ध दूसरे गुणस्थानमें, अतः यदि जीव पहले गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें जासकता तो यह अल्प-

तर बन्ध बन सकता था। किन्तु मिथ्यादृष्टि सास्वादनसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, प्रत्युत उपशमसम्यग्दृष्टि ही सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है, जैसा कि **कर्मप्रकृति** (उपशम क०) और उसकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

"छालिगसेसा परं आसाणं कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥"

चूर्णि—"उवसंमत्तद्धातो पडमाणो छावलिगसेसाए उवसमसंमत्तद्धाते परंति उक्कोसाते, जहन्नेण एकसमयसेसाए उवसमसंमत्तद्धाए सासायणसम्मत्तं कोति गच्छेज्जा, णो सव्वे गच्छेज्जा।"

अर्थात्—उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली शेष रहनेपर कोई कोई उपशम सम्यग्दृष्टी सासादन सम्यक्त्वको प्राप्त होता है।

अत: बाईसका बन्ध करके इक्कीसका बन्धरूप अल्पतर बन्ध सम्भव नहीं है, इसलिये अल्पतरबन्ध आठ ही होते हैं। यत: बन्धस्थान दस हैं अत: अवस्थितबन्ध भी दस ही होते हैं।

अवक्तव्यबन्ध निम्नप्रकार हैं— ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँसे च्युत होकर नवमें गुणस्थानमें आता है और वहाँ संज्वलन लोभका बन्ध करता है, तब पहला अवक्तव्यबन्ध होता है। यदि ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुका क्षय होजानेके कारण मरणकरके कोई जीव अनुत्तरवासी देवोंमें जन्म लेता है और वहाँ सतरह प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबन्ध होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्ममें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्यबन्ध होते हैं।

अब नामकर्मकी प्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका निरूपण करते हैं—

तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिबंधा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

अर्थ—तेईस प्रकृतिरूप, पच्चीस प्रकृतिरूप, छब्बीस प्रकृतिरूप, अट्ठा-

ईस प्रकृतिरूप, उनतीस प्रकृतिरूप, तीस प्रकृतिरूप, इकतीस प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार नामकर्मके आठ बन्धस्थान होते हैं। और उनमें छह भूयस्कारबन्ध, सात अल्पतरबन्ध, आठ अवस्थित बन्ध और तीन अवक्तव्यबन्ध होते हैं। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बन्धस्थान होता है।

भावार्थ—इस गाथामें नामकर्मके बन्धस्थानोंको गिनाकर उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंकी संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

नामकर्मकी समस्त बन्धप्रकृतियाँ ६७ हैं, किन्तु उनमेंसे एक समयमें एक जीवके तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतियाँ ही बन्धको प्राप्त होती हैं, अतः नामकर्मके बन्धस्थान आठ ही होते हैं। अबतक जिन कर्मोंके बन्धस्थान बतला आये हैं, वे कर्म जीवविपाकी हैं—जीवके आत्मिकगुणों पर ही उनका असर पड़ता है। किन्तु नामकर्मका बहुभाग पुद्गलविपाकी है, उसका अधिकतर उपयोग जीवोंकी शारीरिक रचनामें ही होता है, अतः भिन्न भिन्न जीवों की अपेक्षासे एकही बन्धस्थानकी अवान्तर प्रकृतियोंमें अन्तर पड़ जाता है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्मकी ये नौ प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी हैं, चारों गतिके सभी जीवोंके आठवें गुणस्थानतक इनका बन्ध अवश्य होता है। इन प्रकृतियोंके साथ तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुंडक संस्थान, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे एक तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे एक, अपर्याप्त अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, और अयशःकीर्ति, इन चौदह प्रकृतियों के मिलानेसे तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यह स्थान एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित बंधता है, अर्थात् इस स्थानका बन्धक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कायमें ही जन्म लेता है। इन तेईस प्रकृतियोंमें से अपर्याप्त प्रकृतिको कमकरके, पर्याप्त, उच्छ्वास, और पराघात प्रकृतियोंके मिलाने से एकेन्द्रियपर्याप्त सहित पच्चीसका स्थान होता है। उनमेंसे स्थावर,

पर्याप्त, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास और पराघातको घटाकर, त्रस,अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गके मिलानेसे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीसका बन्धस्थान होता है। उसमें द्वीन्द्रिय जातिके स्थानमें त्रीन्द्रिय जातिके मिलानेसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीसका स्थान होता है। इसीप्रकार त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रिय जातिके मिलानेसे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीसका स्थान होता है। तथा इसमें तिर्यञ्चगतिके स्थानमें मनुष्यगतिके मिलानेसे मनुष्य अपर्याप्तयुत पच्चीसका स्थान होता है। इस प्रकार पच्चीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह प्रकारका होता है और उसके बांधनेवाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकोंमें और द्वीन्द्रियको आदि लेकर सभी अपर्याप्तक तिर्यञ्च और मनुष्योंमें जन्म ले सकते हैं।

मनुष्यगतिसहित पच्चीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन, और औदारिकअङ्गोपाङ्गको घटाकर, स्थावर, पर्याप्त, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात, और आतप तथा उद्योतमें से किसी एकके मिलानेसे एकेन्द्रियपर्याप्तयुत छब्बीस का स्थान होता हैं। इस स्थानका बन्धक जीव एकेन्द्रियपर्याप्तक कायमें जन्म लेता है।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमें से एक, शुभ और अशुभमें से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमें से एक, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, पहला संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इन प्रकृतिरूप देवगति सहित अट्ठाईसका बन्धस्थान होता है। इस स्थानका बन्धक मरकर देव होता है। तथा, नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, हुंडक संस्थान, नरकानुपूर्वी,

वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उछ्वास, और पराघात, इन प्रकृतिरूप नरकगतियोग्य अट्ठाईसका बन्धस्थान होता है।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ अथवा अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति अथवा अयशःकीर्ति, तिर्यञ्चगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुंडकसंस्थान, तिर्यगानुपूर्वी, सेवार्तसंहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उछ्वास, पराघात, इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। इसमें द्वीन्द्रियके स्थानमें त्रीन्द्रियजातिके मिलानेसे त्रीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका स्थान होता है। त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रियजातिके मिलानेसे चतुरिन्द्रियजातियुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रियजातिके मिलानेसे, पञ्चेन्द्रिययुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलोंमेंसे एक एक प्रकृति बंधती है। तथा, छह संस्थानों और छह संहननोंमें से किसी भी एक संस्थान और एक संहननका बन्ध होता है। इसमें तिर्यग्गति और तिर्यगानुपूर्वीको घटाकर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वीके मिलाने से पर्याप्तमनुष्यसहित उनतीसका बन्धस्थान होता है। नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उछ्वास, पराघात, तीर्थङ्कर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थङ्कर सहित उनतीसका बन्धस्थान होता है। इसप्रकार उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह होते हैं, इन स्थानोंका बन्धक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें तथा मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म लेता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीसके

चार बन्धस्थानोंमें उद्योत प्रकृतिके मिलानेसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीसके चार बन्धस्थान होते हैं। पर्याप्त मनुष्य-सहित उनतीसके बन्धस्थानमें तीर्थङ्कर प्रकृतिके मिलानेसे मनुष्यगति सहित तीसका बन्धस्थान होता है। देवगति सहित उनतीसके बन्धस्थानमें से तीर्थङ्कर प्रकृतिको घटाकर आहारकद्विकके मिलानेसे देवगतियुत तीसका बन्धस्थान होता है। इसप्रकार तीसप्रकृतिक बन्धस्थान भी छह होते हैं। देवगतिसहित उनतीसके बन्धस्थानमें आहारकद्विकके मिलानेसे देवगति-सहित इकतीसका बन्धस्थान होता है। एकप्रकृतिक बन्धस्थानमें केवल एक यशःकीर्ति का ही बन्ध होता है।

भूयस्कारादिबन्ध—इन बन्धस्थानोंमें छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवक्तव्य बन्ध होते हैं। तेईसका बन्ध करके पचीस का बन्ध करना, पचीसका बन्ध करके छब्बीसका बन्ध करना, छब्बीसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करना, अट्ठाईसका बन्ध करके उनतीसका बन्ध करना, उनतीसका बन्ध करके तीसका बन्ध करना, आहारकद्विक सहित तीस का बन्ध करके इकतीसका बन्ध करना, इसप्रकार छह भूयस्कार बन्ध होते हैं। नवें गुणस्थानमें एक यशःकीर्तिका बन्ध करके, वहांसे च्युत होकर, आठवें गुणस्थानमें जब कोई जीव तीस अथवा इकतीसका बन्ध करता है, तो वह पृथक् भूयस्कार नहीं गिना जाता, क्योंकि उसमें भी तीस अथवा इकतीसका ही बन्ध करता है और यही बन्ध पांचवे और छठे भूयस्कारबन्धोंमें भी होता है अतः इसे पृथक नहो गिना है। इसप्रकार भूयस्कारबन्ध छह होते हैं।

---

१ कर्मप्रकृतिके सत्त्वाधिकार की गाथा ५२ की टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने कर्मोंके बन्धस्थानों तथा उनमें भूयस्कारादिबन्धों का वर्णन किया है। नामकर्म के बन्धस्थानोंमें छह भूयस्कारबन्धों को बतलाकर, सातवें भूयस्कारके सम्बन्धमें उन्होंने एक मतका उल्लेख करके, उसका समाधान करते हुए जो चर्चा की है उसका सारांश निम्नप्रकार है—

अब अल्पतर बन्ध बतलाते हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बन्ध करके एकप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करनेपर पहला अल्पतर होता है। आहारकद्विक और तीर्थङ्करसहित इकतीसका बन्ध करके जो जीव देवलोकमें उत्पन्न होता है, वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतियुत तीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है। यह दूसरा अल्पतरबन्ध है। वही जीव स्वर्गसे च्युत होकर, मनुष्यगतिमें जन्म लेकर जब देवगतिके योग्य तीर्थङ्करसहित उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब तीसरा अल्पतरबन्ध होता है। जब कोई

शङ्का—एक प्रकृतिका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करनेपर सातवां भूयस्कारबन्ध भी होता है। शास्त्रान्तरमें भी सात भूयस्कार बतलाये हैं। जैसा कि शतकचूर्णिमें लिखा है–"एक्काओ वि एक्कतीसं जाइ त्ति भुओगारा सत्त।" अर्थात् एकको बांधकर इकतीसका बन्ध करता है, अतः सात भूयस्कार होते हैं।

उत्तर—यह ठीक नहीं है; क्योंकि अट्ठाईस आदि बन्धस्थानोंके भूयस्कारोंको बतलाते हुए इकतीसके बन्धरूप भूयस्कारका पहले ही ग्रहण कर लिया है। अतः एक की अपेक्षासे उसे पृथक् नहीं गिना जा सकता। यहाँ भिन्न भिन्न बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेदोंकी विवक्षा नहीं की है, ऐसा होनेपर बहुतसे भूयस्कार हो जायेंगे। जैसे, कभी अट्ठाईसका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है, कभी उनतीसका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है और कभी एकका बन्ध करके इकतीसका बन्ध करता है। तथा कभी तेईसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करता है और कभी पच्चीसका बन्ध करके अट्ठाईसका बन्ध करता है। इस प्रकार सातसे भी अधिक बहुत से भूयस्कार हो सकते हैं। किन्तु यहाँ यह इष्ट नहीं है। अतः भिन्न २ बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेद नहीं बतलाये हैं।

तिर्यञ्च या मनुष्य तिर्यञ्चगतिके योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध करके, विशुद्ध परिणामोंके कारण देवगतिके योग्य अट्ठाईसका बन्ध करता है, तब चौथा अल्पतरबन्ध होता है। अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करके, संक्लेश परिणामोंके कारण जब कोई जीव एकेन्द्रियके योग्य छब्बीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब पांचवाँ अल्पतरबन्ध होता है। छब्बीसका बन्ध करके पच्चीसका बन्ध करने पर छठा अल्पतरबन्ध होता है। तथा, पच्चीसका बन्ध करके तेईसका बन्ध करने पर सातवाँ अल्पतरबन्ध होता है। इसप्रकार सात अल्पतरबन्ध होते हैं। तथा, आठ बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे आठही अवस्थितबन्ध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें नामकर्मकी एक भी प्रकृतिको न बांधकर, वहाँ से च्युत होकर, जब कोई जीव एक प्रकृतिका बन्ध करता है तो पहला अवक्तव्य बन्ध होता है। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके कोई जीव अनुत्तरों में जन्म लेकर यदि मनुष्यगतिके योग्य तीसका बन्ध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबन्ध होता है। और यदि मनुष्यगतिके योग्य उनतीसका बन्ध करता है तो तीसरा अवक्तव्यबन्ध होता है। इसप्रकार तीन अवक्तव्यबन्ध होते हैं।

इसप्रकार[1] उक्त गाथाके तीन चरणोंके द्वारा नामकर्मके बन्धस्थानों

---

१ कर्मकाण्डमें गा० ५६५से ५८२ तक नामकर्मके भूयस्कार आदि बन्धोंकी विस्तारसे चर्चाकी है। उसमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कार आदि बन्ध बतलाये हैं। और जितने प्रकृतिक स्थानको बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध संभव है, तथा उन उन स्थानोंके जितने भङ्ग हो सकते हैं, उन सबकी अपेक्षासे भूयस्कार आदिको बतलाया है, जैसा कि मोहनीय कर्ममें बतला आये हैं। किन्तु उसमें दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोंको नहीं बतलाया है।

और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंका निर्देश करके शेषकर्मोंके बन्धस्थानोंको बतलाते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बन्धस्थान होता है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचों प्रकृतियां एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ ही रुकती हैं। तथा, वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी उत्तर-प्रकृतियोंमें से भी एक समयमें एक एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है। इसीसे इन कर्मोंमें भूयस्कार आदि बन्ध नहीं होते हैं, क्योंकि जहां एकही प्रकृतिका बन्ध होता है, वहाँ थोड़ी प्रकृतियोंको बाँधकर अधिकको बाँधना अथवा अधिकको बाँधकर कमका बाँधना कैसे संभव हो सकता है? किन्तु वेदनीयके सिवाय शेष चारकर्मोंमें अवक्तव्यबन्ध और अवस्थितबन्ध होते हैं। क्योंकि, ग्यारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण, अन्तराय और गोत्र कर्मका बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँसे च्युत होता है और नीचेके गुणस्थानमें आकर पुनः उन कर्मोंका बन्ध करता है, तब प्रथम समयमें अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थितबन्ध होता है। तथा त्रिभाग में जब आयुकर्मका बन्ध होता है, तब प्रथमसमयमें अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थित बन्ध होता है। किन्तु वेदनीयकर्ममें केवल अवस्थित ही बन्ध होता है, अवक्तव्यबन्ध नहीं होता, क्योंकि वेदनीय कर्मका अबन्ध अयोगकेवली गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहांसे गिरकर जीव नीचे नहीं आता, अतः उसका पुनः बन्ध नहीं होता।

१८. स्थितिबन्धद्वार

प्रकृतिबन्धका[1] वर्णन करके अब स्थितिबन्धका वर्णन करते हैं। सबसे प्रथम मूलकर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसयर[2] चउसु उदही निरयसुराउंमि तित्तीसा ॥२६॥

अर्थ— नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरप्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर प्रमाण है।

भावार्थ— इस गाथासे बन्धके दूसरे भेद स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। बन्ध होजाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्माके साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है। बंधनेवाले कर्मोंमें इस स्थितिकालकी मर्यादाके पड़नेको ही स्थितिबन्ध कहते हैं। स्थिति दो प्रकारकी होती है—एक उत्कृष्टस्थिति और दूसरी जघन्यस्थिति। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। यह स्थिति इतनी अधिक है कि संख्याप्रमाणके द्वारा उसका बतलाना अशक्यसा है अतः उसे उपमाप्रमाणके द्वारा बतलाया गया है। उपमाप्रमाणका ही एक भेद सागरोपम[3] है और

---

१ प्रकृतिबन्धका निरूपण करनेके पश्चात् उसके स्वामी का वर्णन करना चाहिये था। किन्तु लघुकर्मस्तवकी टीकामें तथा बन्धस्वामित्वकी टीकामें उसका विस्तारसे वर्णन किया है, अतः उसे वहींसे जान लेना चाहिये। ऐसा इस कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है। देखो, पृ० २६।

२—सिय- ख० पु०।

३ सागरोपमके स्वरूपको जानने लिये ८५वीं गाथा देखें।

एक करोड़ को एक करोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक कोटिकोटि कहते हैं। इन कोटिकोटि सागरोंमें कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। आठकर्मोंमें केवल एक आयुकर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोटिकोटि सागरोंमें नहीं होती। यद्यपि गाथामें मूलकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, किन्तु आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेदों नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरकायु और देवायुकी भी है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे मूल आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है। कर्मोंकी इस सुदीर्घ स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंतक बना रह सकता है।

अब मूलकर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

मुत्तुं अकसायठिइं बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठ ट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकषाय जीवोंकी स्थिति को छोड़कर, वेदनीय कर्मकी बारह

---

१ इतर दर्शनोंमें कर्मों की स्थिति तो देखनेमें नहीं आई, किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं—एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है। यथा- "सुखवेदनीयादि कर्म द्विविधं, नियतमनियतञ्च। त्रिधा नियतम्—दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयम्।" अभि० व्या० पृ० १०३। "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।" योगद० २-१२।

२ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है—

"मोत्तुमकसाइ तणुयी ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठ नामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो ॥ २३९ ॥"

मुहुर्त, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष पांच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ—स्थितिबन्धका मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसवें गुणस्थान तक ही होता है। अत: दसवें गुणस्थान तकके जीव सकषाय और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बंधता है, शेष सातकर्म केवल सकषाय जीवोंके ही बंधते हैं। यत: स्थितिबन्धका कारण कषाय है, अत: अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बंधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका बन्ध होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकारने '**मुत्तुं अकसायठिइं**' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहांपर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाई गई है, वह सकषाय वेदनीयकी ही बतलाई गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाई गई है ॥

मूलप्रकृतियोंकी स्थितिको बतलाकर, अब उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसंघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥

अर्थ—पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। सूक्ष्मत्रिक अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मकी, तथा विकलत्रिक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अट्ठारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा, प्रथम संस्थान और प्रथम संहननकी उत्कृष्ट स्थिति दस दस कोटिकोटि सागर है और आगेके प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहननकी स्थितिमें दो दो सागरकी वृद्धि होती जाती है। अर्थात्

दूसरे संस्थान और दूसरे संहननकी उत्कृष्टस्थिति बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तीसरे संस्थान और तीसरे संहननकी स्थिति चौदह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। इसी प्रकार चौथेकी सोलह, पाँचवेकी अट्ठारह और छठेकी बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति जाननी चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें कुछ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। असलमें उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिसे मूल प्रकृतियोंकी स्थिति कोई जुदी नहीं होती। किन्तु उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिमें से जो स्थिति सबसे अधिक होती है, वही मूल प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति मान ली गई है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी भी उतनी ही स्थिति है, जितनी मूल कर्मोंको बतला आये हैं। किन्तु नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिमें अधिक विषमता पाई जाती है। उदाहरणके लिये संस्थान और संहनन को ही ले लीजिये। प्रथम संस्थान और संहनन की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर है और ऊपरके प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहननकी स्थितिमें दो कोटिकोटि सागरकी वृद्धि होते होते, अन्तिम संस्थान और अन्तिम संहननकी स्थिति बीस कोटिकोटि सागर हो जाती है। इस विषमताका कारण है कषायकी हीनाधिकता। जब जीवके भाव अधिक संक्लिष्ट होते हैं, तो स्थितिबन्ध भी अधिक होता है और जब कम संक्लिष्ट होते हैं तो स्थितिबन्ध भी कम होता है। इसीलिये जितनी भी प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, प्रायः सभीकी स्थिति अप्रशस्त प्रकृतियोंकी स्थितिसे कम होती है, क्योंकि उनका बन्ध प्रशस्त परिणाम वाले जीवके ही होता है॥

चालीस कसाएसुं मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दंबिलाईणं॥ २९॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सोलह कषायोंकी उत्कृष्ट स्थिति

चालीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है । मृदुस्पर्श[1], लघुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श, सुरभिगंध, श्वेतवर्ण और मधुररस, नामकर्मकी इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। आगेके प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रसकी स्थिति अढ़ाई कोटिकोटि सागर अधिक अधिक जाननी चाहिये। अर्थात् हरितवर्ण और आम्लरस नामकर्मकी उत्कृष्टस्थिति साढे बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है । लालवर्ण और कषायरस नामकर्मकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है । नीलवर्ण और कटुकरस नाम कर्मकी उत्कृष्टस्थिति साढ़े सतरह कोटिकोटि सागर प्रमाण है । और कृष्णवर्ण और तिक्तरसकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है ।

दस सुहविहगइउच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रशस्तविहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक, स्थिर आदि छह अर्थात् स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति, पुरुषवेद, रति और हास्य प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है । मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर प्रमाण है । और मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, स्त्रीवेद, और सातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है ।

भय-कुच्छ-अरइ-सोए विउव्वि-तिरि-उरल-निरयदुग-नीए ।
तेयपण अथिरछक्के तसचउ-थावर-इग-पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु-कुखगइ-सासचउ-गुरु-कक्खड-रुक्ख-सीय-दुग्गंधे ।

---

१ कर्मप्रकृति वगेरहमें वर्णचतुष्कके अवान्तर भेदोंकी स्थिति नहीं बतलाई है, किन्तु पञ्चसंग्रहमें बतलाई है । यथा—

"सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाणं ।
अड्ढाइज्जपवुड्ढी, अंबिलहालिद्दपुव्वाणं ॥ २४० ॥"

वीसं[1] **कोडाकोडी एवइयावाह वाससया ॥ ३२ ॥**

अर्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नीचगोत्र, तैजसशरीर आदि पाँच, अर्थात् तैजस शरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, अस्थिर आदि छह, अर्थात् अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, और अयशःकीर्ति, त्रसचतुष्क—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, नपुंसकवेद, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क अर्थात् उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, गुरु, कठोर, रूक्ष, शीत, दुर्गन्ध, इन बयालीस प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण अबाधा[2] जाननी चाहिये।

भावार्थ—उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्टस्थिति बन्धका निरूपण करते हुए, उक्तगाथाके अन्तमें उनकी अबाधाकालका प्रमाण भी बतला दिया है। बंधनेके बाद जबतक कर्म उदयमें नहीं आता, तब तकका काल अबाधाकाल कहा जाता है। कर्मोंकी उपमा मादक द्रव्यसे दी जाती है। मदिराके समान आत्मापर असर डालनेवाले कर्मकी जितनीही अधिक स्थिति होती है उतने ही अधिक समय तक वह कर्म बंधनेके बाद विना फल दिये ही आत्मामें पड़ा रहता है। उसे ही अबाधाकाल कहते हैं। उस कालमें ही कर्म विपाकके उन्मुख होता है और अबाधाकाल बीतनेपर अपना फल देना शुरु कर देता है। इसीसे ग्रन्थकारने कर्मोंका अबाधाकाल उनकी स्थितिके

---

१ पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है—

"दस सेसाणं वीसा एवइयाबाह वाससया ॥ २४३ ॥"

२ दिगम्बर परम्परामें इसे 'आबाधा' कहते हैं।

अनुपातसे बतलाते हुए कहा है कि जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति होती है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। इसका आशय यह है कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्षका अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज एक कोटिकोटि सागरकी स्थिति को लेकर जो कर्म बांधा है, वह आजसे सौ वर्षके बाद उदयमें आवेगा और तबतक उदयमें आता रहेगा जबतक एक कोटिकोटि सागर प्रमाणकाल समाप्त न होगा। कहनेका सारांश यह है कि ऊपर कर्मोंकी जो उत्कृष्टस्थिति बतलाई है तथा आगे भी बतलावेंगे उस स्थितिमें अबाधाकाल भी सम्मिलित है। इसीसे शास्त्रकारोंने स्थितिके दो भेद किये हैं—एक कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति अर्थात् बंधनेके बाद जबतक कर्म आत्माके साथ ठहरता है, उतने कालका परिमाण, और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् अबाधाकाल-रहित[1] स्थिति। यहां पहली ही स्थिति बतलाई गई है। दूसरी स्थिति जाननेके लिये पहली स्थितिमेंसे अबाधाकाल कमकर देना चाहिये। जो इस प्रकार है—

पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, असातवेदनीय और नौ दर्शनावरण कर्मोंमें से प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटिकोटि सागर है और एक कोटिकोटि सागर की स्थितिमें एकसौ वर्ष अबाधाकाल होता है, अतः उनका अबाधाकाल ३०×१००=तीन हजार वर्ष जानना चाहिये। इसी अनुपातके अनुसार सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिकका अबाधाकाल अट्ठारहसौ वर्ष, समचतुरस्र-संस्थान और वज्रऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और ऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल बारह सौ वर्ष, स्वातिसंस्थान और नाराचका अबाधाकाल चौदहसौ वर्ष, कुब्ज-

---

१ "इह द्विधा स्थितिः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदमवगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना।" कर्मप्र० मलय० टी० पृ० १६३।

संस्थान और अर्धनाराचका अबाधाकाल सोलह सौ वर्ष, वामनसंस्थान और कीलकसंहननका अबाधाकाल अट्ठारह सौ वर्ष, हुंडसंस्थान और सेवार्तसंहननका दो हजार वर्ष, सोलह कषायोंका चार हजार वर्ष, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण, सुगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुर रसका एक हजार वर्ष, हरितवर्ण और आम्लरसका साढ़े बारहसौ वर्ष, लालवर्ण और कषायरसका पन्द्रह सौ वर्ष, नीलवर्ण और कटुकरसका साढ़े सतरहसौ वर्ष, कृष्णवर्ण और तिक्तरसका दो हजार वर्ष, प्रशस्त विहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक, स्थिरषट्क, पुरुषवेद, हास्य और रतिका एक हजार वर्ष, मिथ्यात्वका सात हजार वर्ष, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातवेदनीयका पन्द्रहसौ वर्ष, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तिर्यग्द्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीचगोत्र, तैजसपञ्चक, अस्थिरषट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत और दुर्गन्ध का अबाधाकाल दो हजार वर्ष जानना चाहिये ।।

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

अर्थ—तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोटीकोटी सागर है, और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है । तथा, उनकी जघन्यस्थिति संख्यातगुणी हीन है । अर्थात् तीर्थंकरनाम और आहारकद्विककी जितनी उत्कृष्टस्थिति है, संख्यातगुणी हीन वही स्थिति उनकी जघन्यस्थिति जाननी चाहिये । मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है ।

भावार्थ—इस गाथाके तीन चरणोंमें तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विककी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा अबाधा बतलाई है । यद्यपि अभी जघन्यस्थिति बतलानेका प्रकरण नहीं आया था, तथापि ग्रन्थगौरवके भयसे इन तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति भी बतलादी है । इन तीनों प्रकृतियों-

की दोनों ही स्थिति सामान्यसे अन्तः कोटीकोटी सागरप्रमाण हैं किन्तु उत्कृष्ट स्थितिसे जघन्यस्थितिका परिमाण संख्यातगुणाहीन अर्थात् संख्यातवें भाग प्रमाण है। तथा उनकी उत्कृष्ट और जघन्य अबाधा भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। किन्तु स्थिति हीकी तरह उत्कृष्ट अबाधासे जघन्य अबाधा भी संख्यातगुणी हीन है। इसप्रकार उक्त तीनों कर्मोंकी स्थिति अन्तः[1]कोटीकोटीसागर और अबाधा अन्तर्मुहूर्त जाननी चाहिये। यहां एक बात बतला देना आवश्यक है, वह यह कि शरीरोंकी स्थिति बतलाते हुए उनके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मकी तो स्थिति बतलादी है, किन्तु बन्धन संघात वगैरहकी स्थिति नहीं बतलाई है, अतः जिस शरीरनामकी जितनी स्थिति है उसके बन्धन नामकर्म और संघात नामकर्म की भी उतनी ही स्थिति समझनी चाहिये। इसीसे **टबे**

---

१ कुछ कम कोटीकोटीको अन्तःकोटीकोटी कहते हैं। जिससे आशय यह है कि इन तीनों कर्मोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कोटीकोटीसागरसे कुछ कम है, तथा अबाधा अन्तर्मुहूर्त है। कर्मकाण्ड गा० १५७ की भाषाटीकामें पं० टोडरमलजीने आबाधाके आधारपर इस अन्तःकोटीकोटीका प्रमाण निकाला है। जिसका भाव यह है कि एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति की आबाधा सौ वर्ष होती है। सौ वर्षके स्थूलरूपसे दस लाख अस्सी हजार मुहूर्त होते हैं। जब इतने मुहूर्त आबाधा एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति की होती है तो एक मुहूर्त आबाधा कितनी स्थितिकी होती है ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर एक कोड़ाकोड़ीमें दसलाख अस्सीहजार मुहूर्तका भाग देनेसे नौ करोड़, पच्चीस लाख, बानबे हजार पांचसौ बानबे तथा एकके एकसौ आठ भागोंमें से चौसठ भाग लब्ध आता है-(९२५९२५९२$\frac{६४}{१०८}$)। इतने सागरप्रमाणस्थितिकी एक मुहूर्त आबाधा होती है, या यूं कहिये कि एक मुहूर्त आबाधा इतने सागर प्रमाण स्थिति की होती है। इसी हिसाबसे अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आबाधावाले कर्मकी स्थिति जानलेनी चाहिये।

में शरीरके साथ साथ उसके सब भेद प्रभेदोंको भी गिनाकर उन सबको वही स्थिति बतलाई है, जो मूल शरीर नामकर्मकी स्थिति है।

शंका–यदि तीर्थङ्करनाम कर्मकी जघन्यस्थिति भी अन्तःकोटीकोटी-सागर है, तो तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव तिर्यञ्चगतिमें जाये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि तिर्यञ्चगतिमें भ्रमण किये बिना इतनी लम्बी स्थिति पूर्ण नहीं हो सकती। किन्तु तिर्यञ्चगतिमें जीवोंके तीर्थङ्करनाम कर्मकी सत्ता का निषेध किया है अतः इतना काल कहां पूर्ण करेगा? तथा, तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होना बतलाया है। अन्तः-कोटीकोटी सागरकी स्थितिमें यह भी कैसे बन सकता है?

---

१ पञ्चसङ्ग्रह (गा०८०) और सर्वार्थसिद्धिमें (पृ० ३८) पञ्चेन्द्रियपर्यायका काल कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसकायका काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है। इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें जन्म ले सकता है और न लगातार त्रस ही हो सकता है। अतः अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिका बन्ध करके जीव इतने कालको केवल नारक, मनुष्य और देव पर्यायमें ही जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता। उसे तिर्यञ्चगतिमें जरूर जाना पड़ेगा।

२ "जं, बज्झई तं तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताणं ॥ १८० ॥"
आव० नि०।

३ पञ्चसंग्रह में तीर्थङ्कर प्रकृतिकी स्थिति बतलाते हुए लिखा है–
"अंतो कोडीकोडी तित्थयराहार तीए संखाओ।
तेतीस पलिय संखं निकाइयाणं तु उक्कोसा ॥२४९॥
अंतो कोडीकोडी, ठिइएवि कहं न होइ तित्थयरे।
संते कित्तियकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥२५०॥
जमिह निकाइयतित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं।
इयरंमि नत्थि दोसो उव्वट्टणुवट्टणासज्झे ॥ २५१ ॥"

उत्तर–तिर्यञ्च गतिमें जो तीर्थङ्कर नाम कर्मकी सत्ताका निषेध किया है वह निकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मकी अपेक्षासे किया है। अर्थात् जो तीर्थ-ङ्कर नामकर्म अवश्य अनुभवमें आता है, उसीका तिर्यञ्चगतिमें अभाव बतलाया है। किन्तु जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस तीर्थ-ङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका निषेध तिर्यञ्चगतिमें नहीं किया है। इसी[1] प्रकार

अर्थात्–तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की उत्कृष्टस्थिति अन्तःकोटिकोटि सागर प्रमाण है। यह स्थिति अनिकाचित तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विक की स्थिति तो अन्तः कोटिकोटि सागरके संख्यातवें भाग से लेकर तीर्थङ्करकी तो कुछ कम दो पूर्व-कोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विक की पल्यके असंख्यातवें भाग है। शङ्का–अन्तः कोटिकोटि सागरकी स्थितिवाले तीर्थङ्कर नामकर्मके रहते हुए भी जीव कबतक तिर्यञ्च न होगा? यदि होगा तो आगमविरोध आता है। उत्तर–जो निकाचित तीर्थङ्कर कर्म है, आगम में, तिर्यञ्चगति में उसीकी सत्ताका निषेध किया है। जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस अनिकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मके तिर्यञ्चगति में रहनेपर भी कोई दोष नहीं है।

१ श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

> "कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरणामकम्मठिई।
> बज्झई य तयणंतरभवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठं ॥ ७८ ॥
> तट्ठिइमोसक्केउं तइयभवो अहव जीवसंसारो।
> तित्थयरभवाओ वा ओसक्केउं भवे तइए ॥ ७९ ॥
> जं बज्झइत्ति भणियं तत्थ निकाइज्ज इत्ति णियमोयं।
> तदवंझफलं नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे ॥ ८० ॥"

अर्थात्–तीर्थङ्कर नामकर्मकी स्थिति कोटिकोटिसागर प्रमाण है, और तीर्थङ्करके भवसे पहलेके तीसरे भवमें उसका बन्ध होता है। इसका आशय

तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें जो तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धका कथन है वह भी निकाचित तीर्थङ्करप्रकृतिकी अपेक्षासे ही है। जो तीर्थङ्कर प्रकृति निकाचित[1] नहीं है, अर्थात् जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है वह तीन भवसे भी पहले बंध सकती है।

नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति पहले बतला आये थे, यहां मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है॥

इगविगलपुव्वकोडिं पलियासंखंस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो॥ ३४॥

अर्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक[2]

यह है कि तीसरे भवमें उद्वर्तन-अपवर्तनके द्वारा उस स्थितिको तीन भवोंके योग्य करलिया जाता है। अर्थात् तीन भवोंमें तो कोटिकोटि सागर की स्थिति पूर्ण नहीं होसकती, अतः अपवर्तनकरणके द्वारा उस स्थितिका ह्रास करदिया जाता है। शास्त्रकारोंने तीसरे भवमें जो तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका विधान किया है, वह निकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये है, निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य देती है। किन्तु अनिकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये कोई नियम नहीं है, वह तीसरे भवसे पहले भी बंध सकती है।

१ जिस प्रकृति में कोई भी करण नहीं लग सकता, उसे निकाचित कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के बढ़ाने को उद्वर्तन कहते हैं, और स्थिति और अनुभागके कमकरने को अपवर्तन कहते हैं। करणोंका स्वरूप जानने के लिये देखो-कर्मप्रकृति गा० २, और पञ्चसंग्रह गा० १ (बन्धनकरण) की टीकाएँ तथा कर्मकाण्ड गा० ४३७–४४०।

२ पूर्वका प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति सयसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ ६३॥" ज्योतिष्क०

पूर्वकोटिप्रमाण बांधते हैं। असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयुकर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बांधते हैं। निरुपक्रम आयुवाले, अर्थात् जिनकी आयुका अपवर्तनघात नहीं होता, ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी अबाधा छह मास होती है। तथा, शेष मनुष्य और तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी आबाधा अपनी अपनी आयुके तीसरे भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ–उक्त गाथाओंके द्वारा कर्मप्रकृतियोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसका बन्ध केवल पर्याप्तक संज्ञी जीव ही कर सकते हैं। अतः वह स्थिति पर्याप्तक संज्ञी जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाई गई है। शेष जीव उस स्थितिमें से कितनी कितनी स्थिति बांधते हैं, इसका निर्देश आगे करेंगे। यहां केवल आयुकर्मकी अपेक्षासे यह बतलाया है कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीव आयुकर्मकी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें से कितना स्थितिबन्ध करते हैं? तथा उसकी कितनी अबाधा होती है?

एकेन्द्रिय[1] और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यञ्चगति या मनुष्य-

---

अर्थात्–७० लाख, ५६ हजार करोड़ वर्षका एक पूर्व होता है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि पृ० १२८ में भी पाई जाती है।

१ कर्मकाण्ड गा० ५३८-५४३ में, किस गतिके जीव मरण करके किस किस गतिमें जन्म लेते हैं, इसका खुलासा किया है। तिर्यञ्चोंके सम्बन्ध में लिखा है–

"तेउदुगं तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी घम्मे य देवदुगे॥ ५४०॥"

अर्थात्–तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेते हैं। शेष एकेन्द्रिय, अपर्याप्त और विकलत्रय जीव तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्मलेते हैं, किन्तु तीर्थङ्कर वगैरह नहीं हो सकते। तथा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यञ्च और मनुष्यगति में तथा घर्मा नामके

गतिमें ही जन्मलेते हैं। वे मरकर देव या नारक नहीं हो सकते। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्योंमें भी कर्मभूमिजोंमें ही जन्मलेते हैं, भोगभूमिजोंमें नहीं। अतः वे आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक पूर्वकोटि प्रमाण बांध सकते हैं, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि-की होती है। तथा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मरण करके चारोंही गतिमें उत्पन्न हो सकता है, अतः वह चारोंमें से किसी भी आयुका बन्ध कर सकता है। किन्तु वह मनुष्योंमें कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यञ्चोंमें भी कर्म-भूमिज तिर्यञ्चही होता है, देवोंमें भवनवासी और व्यन्तर ही होता है, तथा नरकमें पहले नरकके तीन पाथड़ों तक ही जन्मलेता है, अतः उसके पल्यो-पमके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही आयुकर्मका बन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवके आयुकर्मके स्थितिबन्ध का निर्देश करके भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे उसकी अबाधा बतलाई है।

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें एक बात ध्यान रखने योग्य है। अबाधाके सम्बन्धमें ऊपर जो एक नियम बतला आये हैं कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्मोंकी ही अबाधा निकालनेके लिये है। आयुकर्मकी अबाधा स्थितिके अनुपात पर अवलम्बित नहीं है। इसीसे **कर्मकाण्ड**में लिखा है—

"आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥१५८॥"

अर्थात्—'जैसे अन्यकर्मोंमें स्थितिके प्रतिभागके अनुसार आबाधाका प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुकर्ममें नहीं निकाला जाता।'

इसका कारण यह है कि अन्यकर्मोंका बन्ध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुकर्मका बन्ध अमुक अमुक कालमें ही होता है। गतिके अनुसार

पहले नरक में और देवद्विक अर्थात् भवनवासी और व्यंतरदेवों में उत्पन्न होते हैं।

वे अमुक अमुक काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्यगति[1] और तिर्यञ्चगतिमें जब भुज्यमान आयुके दो भाग बीत जाते हैं, तब परभवकी आयुके बन्धका काल उपस्थित होता है। जैसे, यदि किसी मनुष्यकी आयु ९९ वर्षकी है, तो उसमें से ६६ वर्ष बीतनेपर वह मनुष्य परभवकी आयु बांध सकता है, इससे पहले उसके आयुकर्मका बन्ध नहीं हो सकता। इसीसे मनुष्य और तिर्यञ्चोंके बध्यमान आयुकर्मका अबाधाकाल एक पूर्वकोटिका तीसरा भाग बतलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी आयु एक पूर्वकोटि की होती है और उसके त्रिभागमें परभवकी आयु बंधती है। यह तो हुई कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी अपेक्षासे आयुकर्मकी अबाधाकी व्यवस्था। भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देव और नारक अपनी अपनी आयु के छह मास शेष रहनेपर परभवकी आयु बांधते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने निरुपक्रम आयुवालोंके बध्यमान आयुका अबाधाकाल छहमास बतलाया है।

---

१ आयुबन्ध तथा उसकी अबाधाके सम्बन्धमें मतभेदको दर्शाते हुए **पञ्चसङ्ग्रहमें रोचक चर्चा है, जो इस प्रकार है--**

"सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं।
इयराणं चउसुवि पुव्वकोडितंसो अबाहाओ ॥ २४४ ॥
वोलीणेसुं दोसुं भागेसुं आउयस्स जो बंधो।
भणिओ असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्के वि ॥ २४५ ॥
पलियासंखेज्जंसे बंधंति न साहिए नरतिरिच्छा।
छम्मासे पुण इयरा तदाउ तंसो बहुं होइ ॥ २४६ ॥
पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच्च ते इमं भणियं।
भणिअं पि नियअबाहं आउं बंधंति अमुयंता ॥ २४७ ॥
निरुवकमाण छमासा इगिविगलाणं भवट्ठिइ तंसो।
पलियासंखेज्जंसं जुगधम्मीणं वयंतन्ने ॥ २४८ ॥"

अर्थ–'देवायु और नरकायु की उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर है। तिर्यञ्चायु

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें जो दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य है वह यह है कि सातकर्मोंकी ऊपर जो स्थिति बतलाई गई है, उसमें उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है। जैसे, मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर बतलाई है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोटिकोटि सागरमें ही सम्मिलित हैं। अतः यदि मिथ्यात्वकी अबाधारहित स्थिति, जिसे हम पहले 'अनुभवयोग्या' नामसे कह आये हैं, जानना हो तो सत्तर कोटिकोटि सागर में से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये। किन्तु आयुकर्मकी स्थितिमें

और मनुष्यायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है। तथा चारों आयुओंकी एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

शङ्का–आयुके दो भाग बीतजाने पर जो आयुका बन्ध कहा है वह असंभव होनेसे चारों ही गतियों में नहीं घटता है। क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यञ्च कुछ अधिक पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर परभवकी आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। तथा देव, और नारक भी अपनी आयु के छह माहसे अधिक शेष रहने पर परभव की आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु छहमास आयु बाकी रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। किन्तु उनकी आयुका त्रिभाग बहुत होता है। तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयुका त्रिभाग एक पल्य और देव तथा नारकोंकी आयुका त्रिभाग ग्यारह सागर होता है।

उत्तर–जिन तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयु एक पूर्व कोटि होती है, उनकी अपेक्षासे ही एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा बतलाई है। तथा यह अबाधा अनुभूयमान भवसम्बन्धी आयुमें ही जाननी चाहिये, परभव सम्बन्धी आयुमें नहीं; क्योंकि परभवसम्बन्धी आयुकी दलरचना प्रथम समय से ही होजाती है, उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। अतः एक पूर्व-कोटीकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्योंकी परभवकी आयुकी उत्कृष्ट अबाधा

यह बात नहीं है। आयुकर्मकी तेतीस सागर, तीन पल्य, पल्यका असंख्यातवां भाग आदि जो स्थिति बतलाई है, तथा आगे भी बतलायेंगे, वह शुद्ध स्थिति है। उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। इस अन्तरका कारण

पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण होती है। शेष देव, नारक और भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा छह मास होती है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवोंके अपनी अपनी आयुके त्रिभाग प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। अन्य आचार्य भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहते हैं।"

चन्द्रसूरि रचित संग्रहणीसूत्रमें इसी बातको और भी स्पष्ट करके लिखा है—

"बंधंति देवनारय असंखनरतिरि छमाससेसाऊ।
परभवियाऊ सेसा निरुवक्कमतिभागसेसाऊ ॥ ३०१ ॥
सोवक्कमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे।
सत्तावीस इमेवा अंतमुहुत्तंतिमेवावि ॥ ३०२ ॥"

अर्थात्–'देव, नारक और असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्च छह मासकी आयु बाकी रहने पर परभवकी आयु बांधते हैं। शेष निरुपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयुका त्रिभाग बाकी रहने पर परभवकी आयु बांधते हैं। और सोपक्रम आयुवाले जीव अपनी आयुके त्रिभागमें अथवा नौवें भागमें, अथवा सत्ताईसवें भागमें परभवकी आयु बांधते हैं। यदि इन त्रिभागोंमें भी आयुबंध नहीं करपाते तो अंतिम अन्तर्मुहूर्तमें परभवकी आयु बांधते हैं।'

गो० कर्मकाण्डमें आयुबन्धके सम्बन्धमें साधारण तौर पर तो यही विचार प्रकट किये हैं। किन्तु देव, नारक और भोगभूमिजोंकी छह मास प्रमाण आबाधा को लेकर उसमें उक्त निरूपणसे मौलिक मतभेद है। कर्मकाण्ड के मतानुसार छह मासमें आयु बन्ध नहीं होता, किन्तु उसके

यह है कि अन्यकर्मोंकी अबाधा स्थितिके अनुपातपर अवलम्बित है अतः सुनिश्चित है। किन्तु आयुकर्मकी अबाधा सुनिश्चित नही है, क्योंकि आयुके त्रिभागमें भी आयुकर्मका बन्ध अवश्यंभावी नही है, क्योंकि त्रिभागका भी त्रिभाग करते करते आठ त्रिभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयुबन्ध नहीं होता तो मरणसे अन्तमुहूर्त पहले अवश्य होजाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्मकी स्थितिमें उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और अबाधाका प्रमाण जानना चाहिये।

त्रिभागमें आयुबंध होता है। और उस त्रिभागमें भी यदि आयु न बंधे तो छह मासके नौवें भागमें आयुबंध होता है। सारांश यह है कि जैसे कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें अपनी अपनी पूरी आयुके त्रिभागमें परभव की आयुका बन्ध होता है, वैसेही देव, नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके त्रिभागमें आयुबंध होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है। केवल भोगभोमियोंको लेकर मतभेद है। किन्हींका मत है कि उनमें नौमास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभागमें परभवकी आयुका बंध होता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ की संस्कृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४०। इसके सिवाय एक मतभेद और भी है। यदि आठों त्रिभागोंमें आयुबन्ध न हो तो अनुभूयमान आयुका एक अन्तमुहूर्त काल बाकी रहजाने पर परभव की आयु नियमसे बंध जाती है। यह सर्वमान्य मत है। किन्तु किन्हींके मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिकाके असंख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभवकी आयुका बंध नियमसे होजाता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ और उसकी टीका।

१ कर्मकाण्ड में गाथा १२७ से और कर्मप्रकृतिके बन्धन करणमें गाथा ७० से स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट स्थितिबन्धको लेकर

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति और अबाधाको बतला कर अब उनकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

लहुठिइबंधो संजलणलोह-पणविग्घ-नाण-दंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥

अर्थ—संज्वलन लोभ, पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार

तीनोंही ग्रन्थोंमें कोई अन्तर नहीं है। केवल एक बात उल्लखनीय है वह यह कि कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिमें वर्णादिचतुष्ककी स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और कर्मग्रन्थमें उसके अवान्तर भेदोंको लेकर दस कोटी-कोटी सागरसे लेकर बीस कोटिकोटि सागर तककी स्थिति बतलाई है। इस अन्तरका स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञटीकामें ग्रन्थकारने स्वयं कर दिया है। वे लिखते हैं—

"यद्यपि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेदं बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटीकोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः पञ्चसंग्रहेऽभिहिता, अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता। बन्धं तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषितं गणनीयम् ॥ २९ ॥'

अर्थात्—यद्यपि बन्ध अवस्थामें वर्णादि चार ही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये जाते। कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें उनके भेदोंको न लेकर, वर्णादि चतुष्ककी स्थिति बीस कोटिकोटी सागर प्रमाण बतलाई है। तथापि पञ्चसंग्रह नामक ग्रन्थमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शके बीस भेदोंकी भी पृथक् पृथक् स्थिति बतलाई है अतः हमने भी वैसाही कथन किया है। बन्धकी अपेक्षासे तो वर्णादि चार ही गिनने चाहिये, उनके भेद नहीं गिनने चाहिये।' उत्कृष्ट अबाधाके निरूपणमें भी कोई अन्तर नहीं है।

पञ्चसंग्रह में गा० २३८ से स्थितिबन्धका निरूपण प्रारम्भ होता है।

दर्शनावरणोंका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। यशःकीर्ति और उच्चगोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध आठमुहूर्त प्रमाण होता है। और सातवेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

भावार्थ—इस गाथासे जघन्य स्थितिबन्धका वर्णन प्रारम्भ होता है। इसमें अट्ठारह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके प्रमाणका निर्देश किया है। यह स्थितिबन्ध अपने अपने बन्धव्युच्छित्तिके समयमें ही होता है। अर्थात् जब इन प्रकृतियोंके बन्धका अन्तकाल आता है, तभी उक्त जघन्य स्थितिबन्ध होता है। अतः संज्वलन लोभका जघन्य स्थितिबन्ध नवें गुणस्थानमें और पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति और उच्च गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है। सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त प्रमाण जो जघन्यस्थिति बतलाई है, वह सकषाय बन्धककी अपेक्षासे बतलाई है। अकषाय बन्धककी अपेक्षासे तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें उसकी जघन्यस्थिति दो समय मात्र ही होती है, यह पहले कह आये हैं॥

[1]दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसा[2]उ मिच्छत्तठिईए[3] जं लद्धं॥ ३६॥

अर्थ—संज्वलन क्रोधकी दो मास, संज्वलन मानकी एक मास, संज्वलन मायाकी एक पक्ष और पुरुष वेदकी आठ वर्ष जघन्यस्थिति है। तथा, शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उनकी जघन्य स्थिति जाननी चाहिये।

---

१ तुलना करो—

"**दो मास एग अद्धं अंतमुहुत्तं च कोहपुव्वाणं।**
सेसाणुक्कोसाउ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं॥ २५५॥" पञ्चसं०

२—साओ। ३—ईइ।

भावार्थ—इस गाथामें जिन चार कर्मप्रकृतियोंका कंठोक्त स्थितिबन्ध बतलाया है, उनका वह जघन्यस्थितिबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छिति-के कालमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अट्ठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जघन्यस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चारों आयु और वैक्रियषट्ककी जघन्यस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृ-तियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर ग्रन्थकार ने सबकी जघन्यस्थिति जाननेके लिये एक सामान्य नियमका निर्देश कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{३}{७}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंकी $\frac{४}{७}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विककी $\frac{३}{१४}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागरमें सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{१५}{७०}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको ५ से काटने पर $\frac{३}{१४}$ शेष रहता है), सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिककी $\frac{९}{३५}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{१८}{७०}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अंकोंको दो से काटने पर $\frac{९}{३५}$ शेष रहता है), स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, प्रशस्त विहायोगति, वज्र-ऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, सुगन्ध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्णस्पर्शकी $\frac{१}{७}$ सागर, शेष[1] शुभ और अशुभ वर्णादि-

---

१ बन्ध अवस्थामें वर्णादि चारही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये

चतुष्ककी $\frac{२}{७}$ सागर, दूसरे संस्थान और संहननकी $\frac{६}{३५}$ सागर, तीसरे संस्थान और संहननकी $\frac{७}{३५}$ सागर, चौथे संस्थान और संहननकी $\frac{८}{३५}$ सागर, पाँचवे संस्थान और संहननकी $\frac{९}{३५}$ सागर, और शेष प्रकृतियोंकी $\frac{२}{७}$ सागर जघन्यस्थिति जाननी चाहिये। इन प्रकृतियोंकी ये जघन्यस्थितियाँ एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे ही होती हैं। इन जघन्यस्थितियोंमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग बढ़ा देने पर एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे इन प्रकृतियोंके उत्कृष्टस्थितिबन्धका प्रमाण जानना चाहिये। गाथाके उत्तरार्धका यह व्याख्यान **पञ्चसङ्ग्रह**के अभिप्रायके अनुसार किया गया है। क्योंकि **पञ्चसङ्ग्रह**में लिखा है—

"जा एगिंदि जहन्ना पलियासंखंस संजुया सा उ। तेसिं जेट्ठा ॥ २६१ ॥"

अर्थात् एकेन्द्रियके जो जघन्यस्थिति होती है, उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग जोड़ने पर उसकी उत्कृष्टस्थिति होती है।

कर्मप्रकृति ग्रन्थके अनुसार गाथाके **"सेसाणुक्कोसाउ मिच्छत्त-ठिईए जं लद्धं"** इस उतरार्द्धका व्याख्यान दूसरे प्रकारसे भी किया जाता है। उसके अनुसार **'उक्कोसाउ'**का अर्थ तत् तत् प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थिति न लेकर वर्गकी उत्कृष्टस्थिति ली जाती है। सजातीय प्रकृतियोंके समुदाय को वर्ग कहते हैं। जैसे, मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंका समुदाय ज्ञानावरणवर्ग कहा जाता है। चक्षुदर्शनावरण आदि प्रकृतियोंका समुदाय दर्शनावरणवर्ग कहा जाता है। वेदनीय आदि प्रकृतियोंका समुदाय वेदनीय वर्ग कहा जाता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंका समु-

---

जाते, ऐसा पहले लिख आये हैं। तथा उनकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर होती है, अतः चारोंकी जघन्यस्थिति सामान्यसे $\frac{२}{७}$ सागरही समझनी चाहिये। उनके अवान्तर भेदोंकी जो स्थिति बतलाई है, वह **पञ्चसङ्ग्रह**के अभिप्रायके अनुसार बतला दी है।

दाय दर्शनमोहनीयवर्ग, कषायमोहनीयकी प्रकृतियोंका समुदाय कषायमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीयकी प्रकृतियोंका समुदाय नोकषायमोहनीयवर्ग, नामकर्मकी प्रकृतियोंका समुदाय नामकर्मवर्ग, गोत्रकर्मकी प्रकृतियोंका समुदाय गोत्रवर्ग और अन्तरायकर्मकी प्रकृतियोंका समुदाय अन्तरायवर्ग कहा जाता है। इस प्रकारके वर्गकी जो उत्कृष्टस्थिति है उसे वर्गकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं। उस स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देने पर जो लब्ध आता है उसमें पल्यका[1] असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर उस वर्गके अन्तर्गत प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। आशय यह है कि एकही वर्गकी विभिन्न प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिमें बहुत अन्तर देखा जाता है। जैसे, वेदनीय कर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर होने पर भी उसके भेद सातवेदनीयकी स्थिति उससे आधी अर्थात् पन्द्रह कोटीकोटी सागर प्रमाण है। पहले व्याख्यानके अनुसार सातवेदनीयकी जघन्यस्थिति मालूम करनेके लिये उसकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देना चाहिये। किन्तु **कर्मप्रकृति**के अनुसार सात वेदनीयके वर्गकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर लब्धमें से पल्यके असंख्यातवें भागको कम करना चाहिये, जैसा कि **कर्मप्रकृति**के स्थितिबन्धाधि० में लिखा है—

---

१ गा० ३६ में यद्यपि 'पल्लासंखिज्जभागूणा' नहीं लिखा है, तथापि आगे की गाथामें 'पलियासंखंसहीणलहुबन्धो' लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेनेपर एकेन्द्रियजीवकी जघन्यस्थिति होती है। अतः **कर्मप्रकृति**के अनुसार उक्त गाथार्धका व्याख्यान करनेपर आगे की गाथासे उक्त पदकी अनुवृत्ति यहां की जाती है, क्योंकि यहां पर भी जो जघन्यस्थिति निकालनेका क्रम बतलाया है, वह एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाया है।

"वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं।
सेसाणं तु जहन्ना पल्लासंखिज्जभागूणा ॥ ७९ ॥"

अर्थात्–अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थिति में मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट-स्थितिका भाग देनेपर जो लब्ध आता है, उसमें पल्यके असंख्यातवें भागको कमकर देनेपर शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आती है। इसके अनुसार दर्शनावरण और वेदनीयके वर्गकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर में मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेपर लब्ध $\frac{3}{7}$ सागर आता है, उसमें पल्यके असंख्यातवें भागको कमकर देनेपर निद्रापञ्चक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति आती है। दर्शनमोहनीय वर्गकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर लब्ध एक सागरमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर मिथ्यात्वकी जघन्यस्थिति आती है। कषायमोहनीयवर्गकी उत्कृष्टस्थिति चालीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध $\frac{4}{7}$ सागरमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करनेपर प्रारम्भकी बारह कषायोंकी जघन्यस्थिति आती है। नोकषायमोहनीयवर्गकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध $\frac{2}{7}$ सागरमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेपर पुरुषवेदके सिवाय शेष आठ नोकषायोंकी जघन्यस्थिति आती है। नामवर्ग और गोत्रवर्गकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटीकोटी सागरमें मिथ्यात्वको उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्धमें से पल्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेपर वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और यशःकीर्तिको छोड़कर नामकर्मकी शेष सत्तावन प्रकृतियोंकी और नीचगोत्रकी जघन्यस्थिति आती है।

सामान्यसे सब प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाकर, अब एकेन्द्रिय आदि जीवोंके योग्य प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति बतलाते हैं–

[1]अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासंखंसहीण लहुबंधो
कमसो पणवीसाए पन्ना-सय-सहस्ससंगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसंखभागूणो ।

अर्थ–इससे पहलेकी ३६ वीं गाथामें, अपने अपने वर्गकी उत्कृष्ट-स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर जो लब्ध निकाला है, वही एकेन्द्रिय जीवोंके उन उन प्रकृतियोंके उत्कृष्टस्थितिबन्धका प्रमाण होता है। उस उत्कृष्टस्थितिबन्धमें पल्यके असंख्यातवें भागको कमकर देनेपर एके-

---

१ जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति कंठोक्त बतलाई है, उनके सम्बन्धमें तो कर्मप्रकृति, कर्मकाण्ड और कर्मग्रन्थमें कोई अन्तर नहीं है। शेष पिचासी प्रकृतियोंके सम्बन्धमें जो कुछ वक्तव्य है वह इस प्रकार है–कर्मकाण्डमें उनके बारेमें केवल इतना लिख दिया है–

"सेसाणं पज्जत्तो बादर एइंदियो विसुद्धो य।
बंधदि सव्वजहण्णं सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥ १४३ ॥"

अर्थात्–शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितियोंको बादर पर्याप्तक विशुद्ध परिणामवाला एकेन्द्रिय जीव अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिके प्रतिभागमें बांधता है।

और आगे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उक्त प्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्टस्थिति बतलानेके लिये अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर एकेन्द्रियके योग्य उत्कृष्टस्थिति, और उसमें पल्यका असंख्यातवां भाग न्यून करके जघन्यस्थिति बतलाई है। उक्तगाथा १४३ में जिस प्रतिभागका उल्लेख किया है उस प्रतिभागको आगे की गाथामें उक्त प्रकारसे स्पष्ट करदिया है। अतः कर्मकाण्डमें जो शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध अलगसे नहीं बतलाया है, उसका कारण यही है कि उनका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीव ही करता है और

न्द्रिय जीवके जघन्यस्थितिबन्धका प्रमाण आता है। एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे पचीसगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध दोइन्द्रिय जीवके होता है, पचासगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है, सौगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके होता है, एक हजारगुणा उत्कृष्टस्थितिबन्ध असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके होता है। अपने अपने उत्कृष्टस्थितिबन्धमें से पल्यका संख्यातवाँ भाग कम करनेपर अपने अपने जघन्यस्थितिबन्धका प्रमाण आता है।

भावार्थ—इससे पूर्वकी गाथाओंमें उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्यसे बतलाई है। किन्तु इस गाथामें एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रियको अपेक्षासे उत्तर

उसके बंधने योग्य प्रकृतियोंकी स्थिति आगे बतलाई ही है। कर्मप्रकृतिमें शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हुए जो गाथा दी है, वह ३६ वीं गाथाके भावार्थमें लिख आये हैं। उसके आगे एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे प्रकृतियोंकी स्थितिका परिमाण बतलाते हुए लिखा है—

'एसेगिंदियडहरो सव्वासिं ऊणसंजुओ जेट्ठो।'

अर्थात्—अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर लब्धमें से पल्यके असंख्यातवें भागको कमकरनेसे जो अपनी अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकेन्द्रियके योग्य जघन्य स्थितिका प्रमाण जानना चाहिये। कमकिये हुए पल्यके असंख्यातवें भागको उस जघन्य स्थितिमें जोड़ देनेपर उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण होता है।

कर्मग्रन्थके रचयिताने अपनी स्वोपज्ञ टीकामें शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हुए गाथा ३६ के उत्तरार्द्धका पहला व्याख्यान पञ्चसङ्ग्रहके अभिप्रायानुसार किया है। और दूसरा व्याख्यान कर्मप्रकृतिके अनुसार किया है। दोनों व्याख्यानोंमें एक मौलिक अन्तर तो स्पष्टही है कि पञ्चसङ्ग्रह में अपनी अपनी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग

प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति बतलानेका उपक्रम किया है। गाथा नं० ३६ में शेष ८५ प्रकृतियोंके जघन्यस्थितिबन्धको बतलानेके लिये, उन प्रकृतियोंके वर्गोंकी उत्कृष्टस्थितियोंमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिसे भाग देने का जो विधान किया है, एकेन्द्रिय जीवके उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टस्थिति-

---

देकर जघन्यस्थिति निकाली है, जैसा कि कर्मकाण्डमें भी पाया जाता है। किन्तु कर्मप्रकृतिमें अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट-स्थितिका भाग देकर और उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम करके जघन्य स्थिति बतलाई है। अतः जहांतक प्रकृतियोंकी स्थितिमें भाग देनेका सम्बन्ध है, वहांतक तो कर्मकाण्ड पञ्चसङ्ग्रहके मतसे सहमत है। किन्तु आगे जाकर वह कर्मप्रकृतिसे सहमत हो जाता है। क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहके मतानुसार प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिमें भाग देने पर जो लब्ध आता है वह तो एकेन्द्रियकी अपेक्षासे जघन्यस्थिति होती है और उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग जोड़ने पर उसकी उत्कृष्टस्थिति होती है। किन्तु कर्मप्रकृति और कर्मकाण्डके मतानुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, वही उत्कृष्टस्थिति होती है और उसमें पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम कर देनेपर जघन्यस्थिति होती है। अतः कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहके मतमें बड़ा अन्तर है।

कर्मप्रकृतिकी 'वग्गुक्कोसाठिईणं' आदि गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने भी पञ्चसङ्ग्रहके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है–"पञ्चसंग्रहे तु वर्गोत्कृष्टस्थितिर्विभजनीयतया नाभिप्रेता किन्तु 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं' ॥ ४८ ॥ इति ग्रन्थेन स्वस्वोत्कृष्टस्थितिर्मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तदेव जघन्यस्थितिपरिमाणम्।" अर्थात् पञ्चसंग्रहमें तो अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें भाग नहीं दिया जाता। किन्तु अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिसे भाग देने पर जो लब्ध आता है वही जघन्यस्थितिका परिमाण होता है।

बन्धका प्रमाण निकालनेके लिये भी वही विधान काममें लाया जाता है। उस विधानके अनुसार विवक्षित प्रकृतिकी पहले बतलाई गई उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देनेपर जितना लब्ध आता है एकेन्द्रिय जीवके उस प्रकृतिका उतना ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। जैसे, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाँच अन्तराय, इन इक्कीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीवके $\frac{3}{7}$ सागर प्रमाण होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंके वर्गोंकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर है। उसमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिसे भाग देनेपर $\frac{3}{7}$ सागर लब्ध आता है। इसी क्रमसे अन्य प्रकृतियोंकी स्थिति निकालने पर, मिथ्यात्वकी एक सागर, सोलह कषायोंकी $\frac{4}{7}$ सागर, नौ नोकषायोंकी $\frac{2}{7}$ सागर, वैक्रिये-[1]

---

१ एकेन्द्रियादिक जीवोंके वैक्रियषट्कका बन्ध नहीं होता अतः उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है। किन्तु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियके उसका बन्ध होता है, अतः उसकी अपेक्षासे वैक्रियषट्ककी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति पञ्चसंग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाई है–

"वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असन्निणो तेसिं।
पलियासंखंसूणं ठिई अबाहूणियनिसेगो ॥ २५६ ॥"

अर्थात्–"उक्तरीतिके अनुसार वैक्रियषट्ककी बीस कोटीकोटी सागरप्रमाण स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोटीकोटी सागरका भाग देने से जो $\frac{2}{7}$ स्थिति आती है, उसे एक हजारसे गुणा करनेपर असंज्ञी जीवके वैक्रियषट्ककी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण आता है। उसमें पल्यका असंख्यातवां भाग कमकर देनेसे जघन्यस्थितिका प्रमाण आता है।" यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि पहले नरकद्विक और वैक्रियद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध बीस कोटीकोटी सागर और देवद्विकका दस कोटीकोटी सागर बतलाया है। तथापि यहाँ उसकी जघन्यस्थिति बतलानेके लिये बीस कोटीकोटी सागर

षट्क, आहारकद्विक और तीर्थङ्करको छोड़कर, एकेन्द्रियके बंधने योग्य नामकर्मकी शेष अट्ठावन प्रकृतियोंकी और दोनों गोत्रोंकी $\frac{2}{7}$ सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति आती है । इस उत्कृष्टस्थिति बन्धमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेने पर एकेन्द्रिय जीवके जघन्य स्थितिबन्धका प्रमाण आता है । अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिकी $\frac{3}{7}$ सागर वगैरह जो उत्कृष्टस्थिति निकाली है, उसमें से पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेने पर वही उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति होजाती है ।

गाथाके पूर्वार्धद्वारा एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका परिमाण बतलाकर, उत्तरार्धद्वारा द्वीन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उसका परिमाण बतलाया है । जिसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीवके $\frac{3}{7}$ सागर वगैरह जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसे पच्चीससे गुणा करनेपर द्वीन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण आता है । अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध द्वीन्द्रिय जीवके एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे पच्चीस गुना अधिक होता है । जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरप्रमाण बंधती है । तो द्वीन्द्रियजीवके उसकी उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागर प्रमाण बंधती है । इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये । तथा, एकेन्द्रिय जीवके जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उससे पचास गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है । जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर बंधती है तो त्रीन्द्रियके पचास सागर प्रमाण बंधती है । ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये । तथा, एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे सौगुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

प्रमाण ही लिया गया है जैसा कि उसकी टीकामें (पृ० २२८ पू०) आचार्य मलयगिरिजीने लिखा है—"देवद्विकस्य तु यद्यपि दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्तथापि तस्य जघन्यस्थितिपरिमाणानयनाय विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो विवक्ष्यते ।"

चतुरिन्द्रिय जीव करता है, अतः मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके सौ सागर प्रमाण होता है । ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझलेना चाहिये । तथा एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे एक हजार गुणा स्थितिबन्ध असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके होता है । इसके अनुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके एक हजार सागर प्रमाण बंधती है । ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये ।

---

१ कर्मकाण्डमें एकेन्द्रियादिक जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जिस शैलीसे बतलाया है, स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उसे यहां उद्धृत करते हैं–

"एयं पणकदी पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवरबन्धो ।
इगविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥ १४४ ॥"

अर्थात्–एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके मिथ्यात्वका उत्कृष्टस्थितिबन्ध क्रमशः एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण होता है । तथा उसका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रियके पल्यके असंख्यातवें भाग हीन एक सागर प्रमाण होता है और विकलेन्द्रिय जीवोंके पल्यके संख्यातवें भाग हीन अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण होता है । आगे लिखते हैं–

"जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं ।
इदि संपाते सेसाणं इगविगलेसु उभयठिदी ॥ १४५ ॥"

अर्थात्–यदि सत्तर कोटीकोटी सागरकी स्थितिवाला मिथ्यात्वकर्म एकेन्द्रिय जीवके एक सागर, द्वीन्द्रियके पच्चीस सागर, त्रीन्द्रियके पचास सागर, चतुरिन्द्रियके सौ सागर और असंज्ञिपंचेन्द्रियके एक हजार सागर प्रमाण बंधता है, तो तीस कोटीकोटी सागर आदिकी स्थितिवाले अन्य कर्म उनके कितनी स्थितिको लेकर बंधेंगे, ऐसा त्रैराशिक करने पर एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके शेष प्रकृतियोंकी दोनों स्थितियां माल्म हो जाती हैं ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियके उक्त अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें पल्यका संख्यातवां भाग कम करदेनेपर अपना अपना जघन्य स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जानना चाहिये।

अब बाकी बचे आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हैं—

सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

अर्थ—देवायु और नरकायुकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष है और शेष मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है।

भावार्थ—ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आगे बतलाने का निर्देश कर आये थे, उनमेंसे चारों आयुकी जघन्यस्थिति यहां बतलाई है। आगममें मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुको जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है, और यहां क्षुद्रभव प्रमाण लिखी है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्तके बहुतसे भेद हैं। अत: यह बतलानेके लिये कि अन्तर्मुहूर्त क्षुद्रभवप्रमाण लेना चाहिये, यहां अन्तर्मुहूर्त न लिखकर उसके ठीक ठीक परिमाणका सूचक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभवका निरूपण आगे ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

जघन्य स्थितिका कथन करके, अब जघन्य अबाधाको बतलाते हैं—

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धमें तथा आयुकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें भी जघन्य अबाधाका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। किन्हीं आचार्यों के मतसे तीर्थङ्करनामकी जघन्यस्थिति देवायुके समान अर्थात् दस हजार वर्ष है और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथाके पूर्वार्द्धमें सभी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य

अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है। जघन्य स्थितिबन्धमें जो अबाधा-काल होता है उसे जघन्य अबाधा कहते हैं और उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें जो अबाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते हैं। किन्तु यह परिभाषा उन सातकर्मों तक ही सीमित है, जिनकी अबाधा स्थितिके प्रतिभागके अनुसार होती है। आयुकर्मकी तो उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। क्योंकि उसका अबाधाकाल स्थितिके प्रतिभागके अनुसार नहीं होता, जैसा कि पहले लिख आये हैं। अतः आयुकर्मकी अबाधामें चार विकल्प होते हैं—१—उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अबाधा, २—उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें जघन्य अबाधा, ३—जघन्य स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अबाधा और ४—जघन्य स्थितिबन्धमें जघन्य अबाधा। इन विकल्पोंका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी एक पूर्वकोटिकी आयुमें तीसरा भाग शेष रहनेपर तेतीस सागरकी आयु बांधता है तब उत्कृष्टस्थिति बन्धमें उत्कृष्ट अबाधा होती है। और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर तेंतीस सागरकी स्थिति बांधता है तो उत्कृष्टस्थितिमें जघन्य अबाधा होती है। तथा, जब कोई मनुष्य एक पूर्व-कोटीका तीसरा भाग शेष रहते हुए परभव की जघन्यस्थिति बांधता है, जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है, तब जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट अबाधा होती है। और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहनेपर परभवकी अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बांधता है तो जघन्य स्थितिमें जघन्य अबाधा होती है। अतः आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है।

इस प्रकार अबाधाका कथन करके ग्रन्थकारने गाथाके उत्तरार्द्धमें तीर्थङ्कर और आहारकद्विककी जघन्यस्थितिके सम्बन्धमें किन्हीं आचार्योंके मतका उल्लेख किया है, जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारकद्विक की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानते हैं। इन

तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति ग्रन्थकार पहले अन्तःकोटीकोटीसागर बतला आये हैं। उन्हींके सम्बन्धमें यह मतान्तर[1] जानना चाहिये।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभवके बराबर बतलाई है। अतः दो गाथाओंसे क्षुद्रभवका निरूपण करते हैं—

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुंमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥

अर्थ—एक श्वासोच्छ्वासमें कुछ अधिक सतरह क्षुद्र या क्षुल्लक भव होते हैं। एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। तथा, एक मुहूर्तमें ६५५३६ क्षुद्रभव[2] होते हैं और एक क्षुद्रभवमें २५६ आवली होती हैं।

---

१ यह मत पञ्चसङ्ग्रहकारका जान पड़ता है; क्योंकि उन्होंने तीर्थङ्कर-नामकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारककी जघन्यस्थिति अन्त-र्मुहूर्त बतलाई है। यथा—

"सुरनारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाणं ॥ २५३ ॥"

अर्थात्–तीर्थङ्कर नाम सहित देवायु नरकायुकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। तथा—

'साए बारस हारगविग्घावरणाण किंचूणं ॥ २५४ ॥'

'सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त और आहारक, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी कुछ कम मुहूर्तप्रमाण जघन्यस्थिति है।'

२ जीवकाण्डमें एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ क्षुद्र भव कहे हैं। यथा—

"तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२३ ॥"

अर्थात्–लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ बार मरण

भावार्थ—गाथा ३८में मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई थी, अतः इन गाथाओंके द्वारा क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाया है। निगोदिया जीवके भवको क्षुद्रभव कहते हैं, क्योंकि उसकी स्थिति सब भवोंकी अपेक्षासे अति अल्प होती है और वह भव मनुष्य और तिर्यञ्च पर्यायमें ही होता है। अतः मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई है। क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निम्न प्रकार है—

जैन कालगणनाके अनुसार, असंख्यात समयकी एक आवली होती

करता है, अतः एक अन्तर्मुहूर्तमें उतनेही अर्थात् ६६३३६ ही क्षुद्रभव होते हैं। तथा—

"सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा सयं च बत्तीसमेयक्खे ॥१२४॥"

'उन ६६३३६ भवोंमेंसे, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके साठ, चतुरिन्द्रियके ४०, पंचेन्द्रियके २४ और एकेन्द्रियके ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं।'

इस प्रकार दिगम्बरोंके अनुसार एक श्वासमें १८ क्षुद्रभव होते हैं।

१ ज्योतिष्करण्डकमें लिखा है—

"कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।
समया य असंखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥ ८ ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्नए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवावि य सत्त लवमाहु ॥ ९ ॥
अट्ठत्तीसं तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।"

अर्थात्—कालके अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंशको समय कहते हैं। असंख्यात समयका एक उच्छ्वास-निश्वास होता है, उसे प्राण भी कहते हैं। सात प्राणका एक स्तोक, सात स्तोकका एक लव, साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली और 'बे नालिया मुहुत्तो' दो नालीका एक मुहूर्त होता है।

है। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास-निश्वास होता है। अर्थात् एक रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुषके एक बार श्वास लेने और त्यागनेके कालको एक उच्छ्वास-निश्वासकाल या श्वासोच्छ्वासकाल कहते हैं। सात श्वासोच्छ्वासकालका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढे अड़तीस लवकी एक नाली या घटिका होती है और दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है। अतः एक मुहूर्तमें श्वासोच्छ्वासोंकी संख्या मालूम करनेके लिये १ मु० × २ घ० × ३८$\frac{१}{२}$ लव × ७ स्तोक × ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करनेपर ३७७३ संख्या आती है। तथा, एक मुहूर्तमें एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है। अतः ६५५३६में ३७७३ से भाग देनेपर १७$\frac{१}{३}\frac{३}{७}\frac{९}{७}\frac{५}{३}$ लब्ध आता है। अतः एक श्वासोच्छ्वासकालमें सतरहसे कुछ अधिक क्षुद्रभवोंका प्रमाण जानना चाहिये। अर्थात् एक क्षुद्रभवका काल एक उच्छ्वास-निश्वासकालके कुछ अधिक सतरहवें भाग प्रमाण होता है। उतने ही समयमें दो सौ छप्पन आवली होती हैं।

यदि आधुनिक कालगणनाके अनुसार क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निकाला जावे तो वह इस प्रकार होगा। एक मुहूर्तमें अड़तालीस मिनिट होते हैं, अर्थात् एक मुहूर्त ४८ मिनिटके बराबर होता है। और एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अतः ३७७३में ४८से भाग देनेपर एक मिनिटमें साढ़े अठत्तरके लगभग श्वासोच्छ्वास आते हैं। अर्थात् एक श्वासोच्छ्वासका काल एक सैकिण्डसे भी कम होता है, उतने कालमें निगोदिया जीव सतरहसे भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है। इससे क्षुद्रभवकी क्षुद्रताका अनुमान सरलतासे किया जा सकता है।

वैक्रियषट्कके सिवाय शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका और सभी प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब उनके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो[1] ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध करता है। प्रमत्तसंयत मुनि आहारकद्विक और देवायुका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध करता है। और मिथ्यादृष्टि जीव शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है।

भावार्थ—उत्कृष्टस्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए, इस गाथामें तीर्थङ्करप्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिबन्धका स्वामी (कर्ता) अविरतसम्यग्दृष्टिको बतलाया है। किन्तु उसके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि जो अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वग्रहण करनेसे पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें नरकायुका बन्ध कर लेता है, और बादको क्षायोपशमिक सम्यक्त्वग्रहण करके तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करता है, वह मनुष्य जब नरकमें जानेका समय आता है तो सम्यक्त्वको वमन करके मिथ्यात्वको अङ्गीकार करता है। जिस समयमें वह सम्यक्त्वको त्यागकर मिथ्यात्वको अङ्गीकार

---

१ प्रकरणरत्नाकरके चौथे भागमें 'य पमत्तो'के स्थानमें 'अपमत्तो' पाठ मुद्रित है और 'टबे' में उसका अर्थ 'प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्त' किया है। टबेमें लिखा है-"आहारकशरीर तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग, ए बे प्रकृतिनो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रमत्तगुणठाणाने सन्मुख थयलो एवो अप्रमत्त यति ते अप्रमत्त गुणठाणाने चरमबन्धे बांधे। एना बंधक माहे एहिज अतिसंक्लिष्ट छे। तथा देवताना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधु जाणवो। पण एटलुं विशेष जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुबन्ध आरंभीने अप्रमत्तें चढतो साधु बांधे।"

कर्मप्रकृति के स्थितिबन्धाधिकारमें गा० १०२ का व्याख्यान करते हुए उपाध्याय यशोविजयजीने भी आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्त-

करता है, उससे पहले समयमें उस अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्यके तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थ-ङ्कर प्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेशसे ही बंधती है, और वह उत्कृष्ट संक्लेश तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धकोंमेंसे अविरतसम्यग्दृष्टिके ही उस अवस्थामें होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया है। अतः उसका ही ग्रहण किया है। तथा, तिर्यञ्च गतिमें तो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध ही नहीं होता। देवगति और नरकगतिमें उसका बन्ध तो होता है, किन्तु वहाँ तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्धक चौथे गुणस्थानसे च्युत होकर मिथ्यात्वके अभिमुख नहीं होता। और ऐसा हुए विना तीर्थङ्कर प्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिबन्धका कारण उत्कृष्ट संक्लेश नहीं हो सकता। अतः मनुष्यका ग्रहण किया है। तथा, तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले जो मनुष्य नरकायुका बन्ध नहीं करता, वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका

भावके अभिमुख अप्रमत्त मुनिके और देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्त-भावके अभिमुख प्रमत्तयतिके बतलाया है। **पञ्चसंग्रह** (प्र० भा०) की टीकाओंमें भी (पृ० २३६) यही बतलाया है। कर्मकाण्डमें भी लिखा है-

"देवाउगं पमत्तो आहारयमपमत्तविरदो दु।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥ १३६ ॥"

अर्थात्-देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्तभावके अभिमुख प्रमत्तयति करता है और आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्तयति करता है। इसप्रकार उक्त सभी उल्लेखोंके आधारपर आहारक-द्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध सातवें गुणस्थानमें उस समय होता है जब जीव छठें गुणस्थानके अभिमुख होता है। किन्तु कर्मग्रन्थके रचयिताके अनुसार सातवेंसे छट्ठेमें आने पर होता है। उन्होंने अपनी स्वोपज्ञ टीकामें यही अर्थ किया है। इसलिये हमने **'अपमत्तो'** पाठ न रखकर **'य पमत्तो'** पाठ रक्खा है। भावनगरसे प्रकाशित नवीन संस्करणमें भी यही पाठ मुद्रित है।

बन्ध करनेके बाद नरकमें उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसे मनुष्यका ग्रहण किया है जो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले नरककी आयु बांध लेता है। तथा, राजा श्रेणिककी तरह कोई कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व दशामें ही मरकर नरकमें जा सकते हैं, किन्तु विशुद्ध परिणाम होनेके कारण वे जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं कर सकते, और उसका ही यहाँ प्रकरण है। अतः उनका ग्रहण न करके, मिथ्यात्वके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। सारांश यह है कि चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध हो सकता है। किन्तु उत्कृष्टस्थिति बन्धके लिये उत्कृष्ट संक्लेशकी आवश्यकता है, और तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धक मनुष्यके उसी दशामें उत्कृष्ट संक्लेश हो सकता है, जब वह मिथ्यात्वके अभिमुख हो। और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्वके अभिमुख तभी होता है जब तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले उसने नरकायुका बन्ध कर लिया हो। अतः बद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि

---

१ पञ्चसङ्ग्रह प्र० भा० पृ० २३६ में मलयगिरि टीकामें लिखा है–"तथा चोक्तं शतकचूर्णौ 'तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइं मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्वं नरगबद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अंतिमे ठिईबंधे वट्टमाणो बंधइ, तब्बंधगेसु अइसंकिलिट्ठोत्ति काउं। जो सम्मत्तेणं खाइगेणं नरगं वच्चइ सो तओ विसुद्धपरोत्ति काउं तम्मि उक्कोसो न हवइ त्ति।" अर्थात् शतकचूर्णि में कहा है कि जो मनुष्य असंयत वेदक सम्यग्दृष्टि पहले नरकायुका बन्ध करचुकने के कारण, नरक के अभिमुख होता हुआ अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त करेगा, वह अन्तिम स्थितिबन्धमें वर्तमान रहते हुए तीर्थङ्कर नामकी उत्कृष्टस्थितिको बांधता है। तीर्थङ्करके बंधकोंमें उसीके अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं। जो क्षायिकसम्यक्त्वसे नरक जाता है, वह उससे विशुद्धतर है। अतः उसका ग्रहण नहीं किया है।

मनुष्य जब मिथ्यात्वके अभिमुख होता है, उसी समय उसके तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

तथा, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्त गुणस्थानसे च्युत हुआ प्रमत्त-संयत मुनि करता है। क्योंकि इन प्रकृतियोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये उत्कृष्ट संक्लेशका होना आवश्यक है। और उनके बन्धक प्रमत्त मुनिके उसी समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है, जब वह अप्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थानमें आता है। अतः उसके ही उन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जानना चाहिये।

तथा, देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थानके अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनिके ही होता है। क्योंकि यह स्थिति शुभ[२] है, अतः इसका बन्ध विशुद्ध दशामें ही होता है। और वह विशुद्ध दशा अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनिके ही होती है।

शङ्का—यदि देवायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्ध भावोंसे होता है तो अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बतलाना चाहिये;

---

१ आहारकद्विकके बन्धकके बारेमें कर्मग्रन्थकी टीकामें लिखा है—'तथा 'आहारकद्विक' आहारकशरीर-आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं 'पमत्तु'त्ति प्रमत्तसंयतो अप्रमत्तभावाभिवर्तमान इति विशेषो दृश्यः, उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति। अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावाभिवर्तमान एवोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्थं विशिष्यते।' इसका अर्थ ऊपर दिया ही गया है।

२ 'सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥ २७१ ॥' पञ्चसं०

अर्थात्—'देवायु, नरायु और तिर्यञ्चायुको छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति अशुभ होती है, और उसका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है। तथा विशुद्धपरिणामोंसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है।'

क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनिसे, भले ही वह अप्रमत्त भावके अभिमुख हो, अ-प्रमत्त मुनिके भाव विशुद्ध होते हैं।

समाधान—अप्रमत्त गुणस्थानमें देवायुके बन्धका आरम्भ नहीं होता, किन्तु प्रमत्त गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ देवायुका बन्ध कभी कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें पूर्ण होता है। द्वितीय कर्मग्रन्थमें[1] छठे और सातवें गुणस्थानमें बन्धप्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हुए जो कुछ लिखा है उससे यही आशय निकलता है कि जो प्रमत्त मुनि देवायुके बन्धका प्रारम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो उसी गुणस्थानमें देवायुके बन्धका प्रारम्भ करके उसीमें उसकी समाप्ति कर लेते हैं और दूसरे छठे गुणस्थानमें उसका बन्ध प्रारम्भ करके सातवेंमें उसकी पूर्ति करते हैं। अतः अप्रमत्त अवस्थामें देवायुके बन्धकी समाप्ति तो हो सकती है किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसीलिये देवायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका

---

१ 'तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥
गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥'

अर्थात्—'प्रमत्त गुणस्थानमें त्रेसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है और छह प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। यदि देवायुके बन्धकी पूर्ति भी यहीं हुई तो सातकी व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें, यदि देवायुका बन्ध वहां चला आया तो उनसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अन्यथा अट्ठावनका बन्ध होता है, क्योंकि वहां आहारकद्विकका भी बन्ध होता है।'

सर्वार्थसिद्धिमें भी देवायुके बन्धका आरम्भ मुख्यतया छठवें गुण-स्थानमें ही बतलाया है। यथा—"देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुर-प्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः।" पृ० २३८।

स्वामी अप्रमत्तको न बतलाकर अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्त संयमीको बतलाया है।

आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और देवायुके सिवाय शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि ही करता है; क्योंकि पहले लिख आये हैं कि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रायः संक्लेशसे ही होता है, और सब बन्धकोंमें मिथ्यादृष्टिके ही विशेष संक्लेश पाया जाता है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन ११६ प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यायु और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिसे होता है, अतः इन दोनोंका बन्धक संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

शंका—मनुष्यायुका बन्ध चौथे गुणस्थानतक होता है और तिर्यञ्चायु का बन्ध दूसरे गुणस्थानतक होता है। अतः मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये और तिर्यञ्चायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादन सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये। क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे अविरत सम्यग्दृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, और तिर्यगायु तथा मनुष्यायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये विशुद्ध परिणामोंकी ही आवश्यकता है।

समाधान—यह सत्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके परिणाम मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे विशेष विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होसकता, क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्योपम है और यह उत्कृष्टस्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके ही होती है। परन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायुका बन्ध करके भी कर्मभूमिमें ही जन्मलेते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यञ्च, यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो देवायुका ही बन्ध करते हैं। अतः चतुर्थ गुणस्थानकी विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायुके बन्धका कारण नहीं होसकती। तथा, दूसरा गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्वका वमन करके

मिथ्यात्वके अभिमुख होता है । अतः सम्यक्त्वगुणके अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे सम्यक्त्वगुणसे विमुख सासादनसम्यग्दृष्टिके अधिक विशुद्धि नहीं होसकती । इसलिये तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादनसम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता ।

संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टिके ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सामान्यसे बतलाया है । अब चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव किन किन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं, यह विस्तारसे बतलाते हैं—

विगलसुहुमाउगतिगं तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

अर्थ—विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक और नारकद्विकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होता है । तथा, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, और आतपनामका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देव करते हैं ।

भावार्थ—इस गाथामें पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्योंके तथा तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंके बतलाया है । पन्द्रह प्रकृतियोंमें से तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियों का बन्ध देवगति और नरकगति में तो जन्मसे ही नहीं होता । तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है, जो भोगभूमिजों में ही होती है । किन्तु देव और नारक मरकरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं । अतः इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्चके ही बतलाया है । इसी प्रकार शेष तीन प्रकृतियोंका

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तकके देवोंके बतलाया है; क्योंकि ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव तो एकेन्द्रिय जातिमें जन्म ही नहीं लेते, अतः एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतियोंका बन्ध उनके नहीं होता। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्योंके यदि इस प्रकारके संक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, अतः उनके भी एकेन्द्रियजाति आदि तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता। किन्तु ईशान स्वर्ग तकके देवोंमें यदि इस प्रकारके संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, क्योंकि देव मरकर नरकमें जन्म नहीं लेता है। अतः पन्द्रहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें तथा तीनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देवगतिमें ही जानना चाहिये।।

अब शेष[1] प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

---

१ कर्मकाण्डमें भी ११६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए लिखा है—

"णरतिरिया सेसाउं वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं।
सुरणिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३७॥
देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥१३८॥"

अर्थात्—'देवायुके बिना शेष तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, विकलत्रिक, और सूक्ष्मत्रिकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। औदारिकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, उद्योत, और असंप्राप्तासृपाटिका संहननका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं। एकेन्द्रिय, आतप और स्थावरका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। और शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशवाले मिथ्यादृष्टि जीव अथवा ईषत् मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

९

तिरिउरलदुगुज्जोयं छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।

अर्थ—तिर्यञ्चद्विक, औदारिकद्विक, उद्योतनाम और सेवार्तसंहनन, इन छह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारक करते हैं। शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक-अङ्गोपाङ्ग, उद्योत और सेवार्त संहननका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त प्रकृतियोंके बन्धके योग्य संक्लिष्ट परिणाम होनेपर मनुष्य और तिर्यञ्च इन छह प्रकृतियोंकी अधिकसे अधिक अट्ठारह सागरप्रमाण ही स्थितिका बन्ध करते हैं। यदि उससे अधिक संक्लेश परिणाम होते हैं तो प्रस्तुत प्रकृतियोंके बन्धका अतिक्रमण करके वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। किन्तु देव और नारक तो उत्कृष्टसे उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंके होनेपर भी तिर्यञ्चगतिके योग्य ही प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, नरक गतिके योग्य प्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि देव और नारक मरकर नरकमें उत्पन्न नहीं होते। अतः उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे युक्त देव और नारक ही प्रस्तुत छह प्रकृतियोंकी बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते हैं। यहाँ सामान्यसे कहने पर भी इतना विशेष जानना चाहिये कि ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि स्वर्गोंके देव ही सेवार्तसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं, ईशान तकके देव नहीं करते। क्योंकि ईशान तकके देव उनके योग्य संक्लेश परिणामोंके होने पर भी दोनों प्रकृतियोंकी अधिकसे अधिक अट्ठारह सागर प्रमाण मध्यम स्थितिका ही बन्ध करते हैं। और यदि उनके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते हैं तो एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। तथा सानत्कुमार आदि स्वर्गोंके देव उत्कृष्ट संक्लेश होनेपर भी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति एकेन्द्रियोंमें नहीं होती। अतः प्रस्तुत दो

प्रकृतियोंकी बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले सानत्कुमार आदि स्वर्गोंके देव ही करते हैं, नीचेके देव नहीं करते; क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ एकेन्द्रियके योग्य नहीं हैं, एकेन्द्रिय के संहनन और अङ्गोपाङ्ग नहीं होते। सारांश यह है कि एकसरीखे परिणाम होते हुए भी गति वगैरहके भेदसे उनमें भेद हो जाता है। जैसे, जिन परिणामोंसे ईशान स्वर्ग तकके देव एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, वैसे ही परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यञ्च नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। अस्तु, मिथ्यादृष्टिके बन्धने योग्य ११६ प्रकृतियोंमें से २४ प्रकृतियोंके सिवा शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चारों ही गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियों को बतलाकर अब जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥

अर्थ—आहारकद्विक और तीर्थङ्करनामका जघन्य स्थितिबन्ध अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थानमें होता है, और संज्वलन कषाय और पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण नामक नौवे गुणस्थानमें होता है।

भावार्थ—जैसे उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये उत्कृष्ट संक्लेशका होना आवश्यक है, उसी तरह जघन्य स्थितिबन्धके लिये उत्कृष्ट विशुद्धिका होना आवश्यक है। इसीसे आहारकद्विक और तीर्थङ्करका जघन्य स्थितिबन्ध आठवेंमें ओर संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पुरुष वेदका जघन्य स्थितिबन्ध नौवे गुणस्थानमें बतलाया है। इन प्रकृतियोंका बन्ध इन्हीं गुणस्थानों तक होता है, अतः इनके बन्धकोंमें उक्त गुणस्थानवाले जीव ही अति विशुद्ध होते हैं। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि उक्त दोनों गुणस्थान क्षपक श्रेणिके ही लेना चाहिये; क्योंकि उपशम श्रेणिसे क्षपक श्रेणिमें विशेष विशुद्धि होती है।

साय-जसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नीवि आउ बायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥ ४९ ॥

अर्थ—सात वेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, इन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म-साम्पराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है। वैक्रियषट्क अर्थात् वैक्रियद्विक, नरकद्विक और देवद्विकका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च करता है। चारों आयुओंका जघन्य स्थितिबन्ध संज्ञी और असंज्ञी, दोनों ही करते हैं। तथा, शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है।

भावार्थ—जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए इस गाथामें सात वेदनीय आदि सतरह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी सूक्ष्म-साम्परायक्षपकको बतलाया है; क्योंकि सात वेदनीयके सिवा शेष सोलह प्रकृतियाँ इसी गुणस्थान तक बंधती हैं, अतः उनके बन्धकोंमें यही गुण-स्थान विशेष विशुद्ध है। तथा, यद्यपि सात वेदनीयका बन्ध तेरहवें गुण-स्थान तक होता है, तथापि स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है; क्योंकि स्थितिबन्धका कारण कषाय है और कषायका उदय दसवें गुण-स्थात तक ही होता है। अतः सात वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध भी दसवें गुणस्थानमें ही बतलाया है।

वैक्रियषट्कका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च करते हैं; क्योंकि देव, नारक, और एकेन्द्रिय तो नरकगति और देवगतिमें जन्म ही नहीं लेसकते, और संज्ञी तिर्यञ्च तथा मनुष्य स्वभावसे ही उक्त छह प्रकृतियोंका मध्यम अथवा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। अतः असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चके ही उनका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी जीव भी करते

हैं और संज्ञी जीव भी करते हैं। उनमेंसे देवायु और नरकायुका जघन्य स्थितिबन्ध पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य करते हैं, तथा मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय वगैरह करते हैं। शेष ८५ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है, क्योंकि प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध को बतलाते हुए यह लिख आये हैं कि इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके ही होता है, क्योंकि उनके बन्धकोंमें वही विशेष विशुद्धिवाला होता है। अन्य एकेन्द्रिय जीव उतनी विशुद्धि न होनेके कारण उक्त प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बांधते हैं। तथा, यद्यपि विकलेन्द्रियादिमें एकेन्द्रियोंसे अधिक विशुद्धि होती है, किन्तु वे स्वभावसे ही प्रस्तुत प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बांधते हैं, अतः शेष प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवको ही बतलाया है[1]।

प्रकृतियोंके स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते हैं—

उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध और अजघन्यबन्ध। दूसरी तरहसे भी बन्धके चार भेद हैं—सादि बन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्ध। आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मों-का अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उन कर्मोंके शेष तीन बन्ध और आयुकर्मके चारों बन्ध सादि और अध्रुव, इस तरह दो ही प्रकारके होते हैं।

---

१ कर्मकाण्ड गा० १५१ में, कर्मप्रकृति पृ० २०२ बन्धनकरणमें और पञ्चसङ्ग्रह गा० २७० में जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाया है।

भावार्थ—इस गाथामें मूल प्रकृतियोंके स्थितिबन्धके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य भेद बतलाकर उनके यथासंभव सादि आदि भेद बतलाये हैं। अधिकसे अधिक स्थितिबन्धके होनेको उत्कृष्टबन्ध कहते हैं, अर्थात् जिससे अधिक स्थितिवाला बन्ध हो ही नहीं सकता, वह बन्ध उत्कृष्टबन्ध कहा जाता है। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर जघन्य स्थितिबन्ध तकके सभी बन्ध अनुत्कृष्ट बन्ध कहलाते हैं। अर्थात् उत्कृष्टबन्धके सिवाय अन्य जो बन्ध होते हैं वे सभी अनुत्कृष्ट बन्ध कहे जाते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदमें स्थितिके सभी भेदोंका ग्रहण हो जाता है। तथा, सबसे कम स्थितिवाले बन्धको जघन्यबन्ध कहते हैं। और एक समय अधिक जघन्य बन्धसे लेकर उत्कृष्टबन्ध पर्यन्त सभी बन्ध अजघन्य बन्ध कहे जाते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य बन्धमें भी स्थितिके सभी भेद गर्भित होजाते हैं। इन चारों ही बन्धोंमें सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भङ्ग यथायोग्य होते हैं। जो बन्ध रुककर पुनः होने लगता है, उसे सादि बन्ध कहते हैं। जो बन्ध अनादिकालसे बराबर होरहा है, बीचमें एक समयके लिये भी नहीं रुका, उसे अनादिबन्ध कहते हैं। जो बन्ध न कभी विच्छिन्न हुआ और न होगा उसे ध्रुवबन्ध कहते हैं। किन्तु जो बन्ध आगे जाकर विच्छिन्न होजाता है, उसे अध्रुवबन्ध कहते हैं।

मूल प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट आदि चारों ही बन्ध होते हैं। उनमेंसे, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन सात कर्मोंका अजघन्यबन्ध सादि भी होता है, अनादि भी होता है, ध्रुव भी होता है और अध्रुव भी होता है। क्योंकि, इन सात कर्मोंमेंसे मोहनीयका जघन्यबन्ध केवल क्षपकश्रेणिके अनिवृत्तिबादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और शेष छह कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्परायके अन्तमें होता है, उनके सिवाय अन्य गुणस्थानोंमें, यहां तक कि उपशम श्रेणिमें भी इन सातों कर्मोंका अजघन्यबन्ध होता है।

अतः ग्यारहवें गुणस्थानमें अजघन्य बन्ध न करके, वहांसे च्युत होकर जब जीव पुनः सात कर्मोंका अजघन्य बन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहलाता है। नौवें दसवें आदि गुणस्थानोंमें आनेसे पहले उक्त सात कर्मोंका जो अजघन्यबन्ध होता है, वह अनादि कहलाता है, क्योंकि अनादिकालसे निरन्तर उसका बन्ध होता रहता है। अभव्यके जो अजघन्य बन्ध होता है, वह ध्रुव कहलाता है; क्योंकि उसका अन्त नहीं होता है। और भव्यके जो अजघन्यबन्ध होता है, वह अध्रुव कहा जाता है, क्योंकि उसका अन्त हो जाता है। इस प्रकार सात कर्मोंके अजघन्यबन्धमें चारों ही भङ्ग होते हैं। किन्तु शेष तीन बन्धोंमें सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि हम लिख आये हैं कि मोहनीयकर्मका नौवें गुणस्थानके अन्तमें और शेष छह कर्मोंका दसवें गुणस्थानके अन्तमें जघन्य स्थितिबन्ध होता है, इससे पहले नहीं होता है, अतः वह बन्ध सादि है। तथा, उसके बाद बारहवें आदि गुणस्थानोंमें उसका सर्वथा अभाव होजाता है, अतः वह अध्रुव है। इस प्रकार जघन्यबन्धमें केवल दो ही विकल्प होते हैं। तथा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संक्लिष्ट परिणामी पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। यह बन्ध कभी कभी ही होता है, सर्वदा नहीं होता, अतः सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद नियमसे इसका स्थान अनुत्कृष्ट बन्ध ले लेता है, अतः अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्टबन्धमें भी दो ही विकल्प होते हैं। उत्कृष्टबन्धके पश्चात् अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, अतः वह सादि है और कमसे कम अन्तर्मुहूर्तके बाद और अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बाद उत्कृष्ट बन्धके होनेपर अनुत्कृष्टबन्ध रुक जाता है अतः वह अध्रुव कहा जाता है। सारांश यह है कि उत्कृष्ट-बन्ध लगातार अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट बन्ध लगातार अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल तक होता है। उसके बाद दोनों परस्परमें एक दूसरेका स्थान ले लेते हैं, अतः दोनों

ही सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार सात कर्मोंके शेष तीन बन्धोंमें सादि और अध्रुव भङ्ग ही होते हैं।

आयुकर्मके चारों ही बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं, क्योंकि आयु-कर्मका बन्ध सर्वदा नहीं होता, किन्तु नियत समयमें ही होता है, जैसा कि पहले लिख आये हैं, अतः वह सादि है। तथा, उसका निरन्तर बन्धकाल केवल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तर्मुहूर्तके बाद वह नियमसे रुक जाता है, अतः वह अध्रुव है। इस प्रकार आठों मूल कर्मोंके अजघन्य आदि चारों बन्धोंमें सादि आदि विकल्प जानने चाहियें।

मूल कर्मोंके अजघन्य आदि बन्धोंमें सादि आदि भङ्गोंका निरूपण करके, अब उत्तर प्रकृतियोंमें उनका कथन करते हैं—

चउभेओ अजहन्नो संजलणावरणनवग-विग्घाणं।
सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीणं ॥ ४७ ॥

अर्थ—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, पांच ज्ञानावरण, चार दर्शना-वरण, और पांच अन्तराय, इन प्रकृतियोंके अजघन्य स्थितिबन्धके चारों ही भेद होते हैं, और शेष तीन बन्धोंके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। तथा, शेष प्रकृतियोंके चारों ही बन्धोंके सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते हैं।

भावार्थ—इस गाथाके द्वारा, उत्तर प्रकृतियोंमें जघन्य आदि बन्धों के सादि आदि प्रकार बतलाये हैं। संज्वलन आदि अट्ठारह प्रकृतियोंके

१ 'अट्ठाराणऽजहन्नो, उवसमसेढीए परिवडंतस्स।
साई सेसवियप्पा, सुगमा अधुवा धुवाणं पि ॥२६९॥' पंचसं०।

अर्थ—'अट्ठारह प्रकृतियोंका अजघन्यबन्ध उपशमश्रेणीसे गिरनेवालेके सादि होता है। अध्रुवबन्धिनी और ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंके भी शेष विकल्प सुगम है।'

अजघन्य बन्धके चारों ही विकल्प होते हैं, जो मूलकर्मोंके अजघन्यबन्ध ही की तरह जानने चाहियें। अर्थात् उपशमश्रेणिमें इन अठारह प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद करके, वहांसे च्युत होकर जब पुन: उनका अजघन्य बन्ध करता है तो वह बन्ध सादि होता है। उपशमश्रेणि चढ़नेसे पहले वह बन्ध अनादि होता है। तथा, अभव्यका वही बन्ध ध्रुव होता है और भव्यका अध्रुव होता है। इन्ही अठारह प्रकृतियोंके शेष तीन बन्ध सादि और अध्रुव, दो ही तरह के होते हैं, क्योंकि नौवें गुणस्थानमें अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समय संज्वलनचतुष्कका जघन्य बन्ध होता है। तथा, दसवें गुणस्थानके अन्तमें शेष चौदह प्रकृतियोंका जघन्य बन्ध होता है। यह बन्ध इन गुणस्थानोंमें आनेसे पहले नहीं होता, अत: सादि है और आगेके गुणस्थानोंमें जानेपर बिल्कुल रुक जाता है, अत: अध्रुव है। इसी प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टबन्धमें भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि ये दोनों बन्ध भी परिवर्तित होते रहते हैं, कभी जीव उत्कृष्टबन्ध करता है और कभी अनुत्कृष्टबन्ध करता है।

शेष एक सौ दो प्रकृतियोंके चारों ही प्रकारके बन्धोंके सादि और अध्रुव भङ्ग ही होते हैं; क्योंकि पाँच निद्रा, मिथ्यात्व, प्रारम्भकी बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण, इन उनतीस प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध विशुद्धियुक्त बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव संक्लिष्ट

---

१ 'अट्ठारसण्ह खवगो, बादर एगिंदि सेस धुवियाणं।
पज्जो कुणइ जहन्नं साई अधुवो अओ एसो ॥२६८॥' पंचसं०।

अर्थ–अट्ठारह प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध क्षपक श्रेणीमें होता है, और शेष ध्रुव प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है। अतः यह बन्ध भी सादि और अध्रुव होता है।

परिणामी होनेपर उन प्रकृतियोंका अजघन्य बन्ध करता है। उसके बाद उसी भवमें अथवा दूसरे भवमें विशुद्ध परिणाम होनेपर वही जीव पुनः उनका जघन्य बन्ध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य बन्ध बदलते रहते हैं, अतः दोनों ही सादि और अध्रुव होते हैं। तथा, इन्हीं उनतीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बन्ध संक्लिष्टपरिणामी पञ्चेन्द्रिय जीव करता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव उनका अनुत्कृष्ट बन्ध करता है, उसके बाद पुनः उत्कृष्ट बन्ध करता है। इस प्रकार बदलते रहनेके कारण ये दोनों बन्ध भी सादि और अध्रुव होते हैं। शेष ७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः अध्रुवबन्धिनी होनेके कारण ही उनके जघन्य आदि स्थितिबन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंके बन्धोंमें सादि आदि भङ्गोंको जानना चाहिये।

स्थितिबन्धमें सादि आदि भङ्गोंका निरूपण करके अब गुणस्थानोंमें स्थितिबन्धका विचार करते हैं—

साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिउ न हिगो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निमि ॥ ४८ ॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटीसागरसे न तो अधिक ही स्थिति बंधती है और न कम ही बंधती है। तथा भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके भी अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता है।

भावार्थ—पहले सामान्यसे और पीछे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका प्रमाण बतलाया था। इस गाथामें गुणस्थानोंकी

---

१ कर्मप्रकृति, बन्धनकरणमें पृ० २०० से, पञ्चसङ्ग्रहमें गा० २६६ से और कर्मकाण्डकी गाथा १५२-१५३में स्थितिबन्धमें उक्त भङ्गोंका निरूपण किया है।

अपेक्षासे उसका प्रमाण बतलाया है। अर्थात् यहाँ यह बतलाया है कि किस गुणस्थानमें कितना स्थितिबन्ध होता है? सास्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त:कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता है। इससे यह आशय निकलता है कि अन्त:कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। सारांश यह है कि सास्वादन आदि गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन कर देते हैं, अतः उनके अन्त:कोटीकोटीसागर प्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, उससे अधिक बन्ध नहीं होता।

शङ्का—कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन करनेवालोंके भी मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटीकोटी सागर प्रमाण बतलाया है। ऐसी दशामें यह कथन ठीक नहीं है कि सास्वादनसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तकके जीव मिथ्यात्वग्रन्थिका भेदन कर देते हैं, इसलिये उनके अन्त:कोटी कोटी सागरसे अधिक बन्ध नहीं होता है।

समाधान—यह ठीक है कि ग्रन्थिका भेदन करनेवालोंके भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, किन्तु सम्यक्त्वका वमन करके जो पुनः मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाते हैं, उनके ही वह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। यहाँ तो ग्रन्थिका भेदन कर देनेवाले सास्वादन आदिके ही उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निषेध किया है, अतः कोई दोष नहीं है। **आवश्यक**[1] आदि ग्रन्थोंमें

---

१ 'यतोऽवाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्योत्कृष्टस्थितीः कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बंधेण न वोलइ कयाइ' इति वचनात्। एषः सिद्धान्तिकाभिप्रायः। कार्मग्रन्थिकास्तु भिन्नग्रन्थेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति प्रतिपन्नाः।' आव० नि० टी० पृ० ११३ उ०।

अर्थात्—सम्यक्त्वको प्राप्त करके, उसके छूट जानेपर भी एक बार ग्रन्थिका भेदन करनेके बाद, कर्मप्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता;

जो ग्रन्थिका भेदन कर देनेवाले मिथ्यादृष्टिके भी उत्कृष्टबन्धका प्रतिषेध किया है, वह सैद्धान्तिकोंका मत है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो सादि मिथ्यादृष्टिके भी मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, किन्तु उसमें उतनी तीव्र अनुभाग शक्ति नहीं होती। अतः सास्वादनसे अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटी सागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता। तथा, उससे कम भी नहीं होता। सारांश यह है कि दूसरेसे आठवें गुणस्थान तक अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण ही स्थिति बंधती है, न इससे अधिक बंधती है और न कम।

शङ्का—जब एकेन्द्रिय आदि जीव सास्वादन गुणस्थानमें होते हैं, उस समय उनके $\frac{3}{7}$ सागर आदि प्रमाण ही स्थिति बंधती है। अतः सास्वादन आदि गुणस्थानोंमें अन्तःकोटीकोटी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं जंचता।

समाधान[१]—उक्त आशङ्का उपयुक्त है। किन्तु इस प्रकारकी घटनाएं क्वचित् ही होती हैं; अतः उसकी विवक्षा नहीं की है। अस्तु,

अपूर्वकरण गुणस्थानतक अन्तःकोटीकोटी सागरसे हीन स्थितिबन्धका निषेध करनेसे यह स्पष्ट ही है कि उससे आगे अनिवृत्तिकरण वगैरह गुणस्थानोंमें अन्तःकोटीकोटीसागरसे भी कम स्थितिबन्ध होता है।

सास्वादन वगैरहमें अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबन्धका निषेध करनेसे स्वभावतः यह जाननेकी रुचि होती है कि क्या कोई मिथ्यादृष्टि जीव

क्योंकि 'बंधेण न वोलइ कयाइ' ऐसा शास्त्रमें लिखा है। किन्तु यह सिद्धान्तशास्त्रियोंका मत है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो ग्रन्थिका भेदन कर देनेपर भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

१ "सत्यमेतत्, केवलं कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक् इति न तस्य विवक्षा कृता, इति सम्भावयामि।" पञ्चमकर्म० स्वोपज्ञ टी०।

भी ऐसा होता है, जिसके अन्तःकोटीकोटीसागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता। इसीसे ग्रन्थकारने बतलाया है कि भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिके भी अन्तःकोटीकोटी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता। यहाँ भव्यसंज्ञीके साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगानेसे यह आशय निकलता है कि भव्यसंज्ञीके अनिवृत्तिबादर आदि गुणस्थानोंमें हीन बन्ध भी होता है। तथा, संज्ञी विशेषण लगानेसे यह आशय निकलता है कि भव्य असंज्ञीके हीन स्थितिबन्ध होता है। अभव्य संज्ञीके तो अन्तःकोटीकोटीसागरसे हीन स्थितिबन्ध होता ही नहीं है; क्योंकि ग्रन्थिका भेदन करनेवालेके ही हीन स्थितिबन्ध होता है। किन्तु अभव्यसंज्ञी अधिकसे अधिक ग्रन्थिदेश तक तो पहुंच जाता है, किन्तु उसका भेदन करनेमें असमर्थ होनेके कारण पुनः नीचे आ जाता है।

गुणस्थानोमें स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब तीन गाथाओंके द्वारा एकेन्द्रियादि जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

जइलहुबन्धो बायर पज्ज असंख्यगुण सुहुमपज्जहिगो।
एसिं अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥
तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

अर्थ—१-सबसे जघन्य स्थितिबन्ध यति अर्थात् सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थानवर्ती साधुके होता है। २-उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध असंख्यात गुणा है। ३-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ४-उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ५-उससे सूक्ष्म

अपर्याप्तक एकेन्द्रियका जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है। ६-उससे सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ७-उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ८-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। ९-उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १०-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। ११-उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १२-उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १३-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १४-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १५-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १६-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १७-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अधिक है। १८-उससे पर्याप्तक चतुरिन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। १९-उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २०-उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २१-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २२-उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। २३-उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियका जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २४-उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है। २५-उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। २६-उससे संयतका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। २७-उससे देशसंयतका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। २८-उससे देशसंयतका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। २९-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। ३०-उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य

---

१ स्वोपज्ञटीकामें अविरत सम्यग्दृष्टि और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिमें

स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। ३१-उससे अपर्याप्तक सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। ३२-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध संख्यात गुणा है। ३३-उससे अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है। ३४-उससे पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। ३५-उससे अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। ३६-उससे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है।

भावार्थ–इन तीन गाथाओंके द्वारा यह बतलाया गया है कि किस जीवके अधिक स्थितिबन्ध होता है और किस जीवके कम स्थिति-बन्ध होता है। इसीको अल्पबहुत्व कहते हैं। सबसे जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थानमें होता है, उससे हीन स्थितिबन्ध किसी भी जीवके नहीं होता। यद्यपि आगेके गुणस्थानोंमें एक समयका ही स्थिति-बन्ध होता है, किन्तु वे गुणस्थान कषायरहित हैं अतः वहाँ स्थितिबन्धकी विवक्षा ही नहीं है। इसीलिये दसवें गुणस्थानसे ही स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका वर्णन प्रारम्भ होता है। और पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिके सबसे उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध होता है, अतः वह वर्णन वहां आकर समाप्त होता है। स्थिति-

---

स्थितिका अल्पबहुत्व बतलाते हुए अपर्याप्तकके जघन्य स्थितिबन्धसे पर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यात गुणा बतलाया है। अर्थात् अपर्याप्तका जघन्य स्थान पहले रखा है और पर्याप्तका जघन्य स्थान बादको रक्खा है। किन्तु गुजराती टबेमें तथा कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) की गा० ८१ की प्राचीन चूर्णि और दोनों टीकाओंमें पर्याप्तके जघन्य स्थितिबन्धसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा बतलाया है। तथा कर्मग्रन्थमें भी द्वीन्द्रियादिकमें पर्याप्तकके जघन्य स्थितिबन्धसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिबन्ध ही अधिक बतलाया है। इसलिये उक्त दोनों स्थानोंमें भी हमने वही क्रम रखा है। स्वोपज्ञटीका का वह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है।

बन्धके अल्पबहुत्वके दिग्दर्शक इन स्थानोंकी संख्या ३६ है। समस्त जीव-समास १४ हैं और एक एक जीवसमासमें जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे दो दो स्थितियाँ होती हैं । अतः जीव समासकी अपेक्षासे तो स्थितिके स्थान अट्ठाईस ही होते हैं किन्तु स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका निरूपण करते हुए उनमें आठ स्थान और भी सम्मिलित हो जाते हैं। जिनमें चार स्थान अविरत सम्यग्दृष्टिके हैं, दो स्थान देशसंयतके हैं, एक स्थान संयतका है और एक स्थान सूक्ष्मसाम्परायका है । इस प्रकार समस्त स्थानोंकी संख्या छत्तीस होती है । आगे आगेका प्रत्येक स्थान अपने पूर्ववर्ती स्थानसे या तो गुणित है या अधिक है । जब कोई राशि किसी राशिमें गुणा करनेसे उत्पन्न होती है तो उसे गुणित कहते हैं। जैसे ४में २का गुणा करनेपर लब्ध ८आता है। यह आठ अपने पूर्ववर्ती४से दो गुणित है। किन्तु यदि ४ में २ का भाग देकर लब्ध २ को ४ में जोड़ा जाये तो इसप्रकार जो ६ संख्या आयेगी उसे बिशेषाधिक या कुछ अधिक कहा जायेगा क्योंकि वह राशि गुणाधिक नहीं है किन्तु भागाधिक है । गुणित और विशेषाधिकमें यही अन्तर है । उक्त स्थितिस्थानोंको यदि ऊपरसे नीचे की ओर देखा जाये तो स्थिति अधिक अधिक होती जाती है और यदि नीचेसे ऊपरकी ओर देखा जाये तो स्थिति घटती जाती है। इससे यह सरलतासे समझमें आजाता है कि किस जीवके अधिक स्थिति बंधती है और किस जीवके कम स्थिति बंधती है। एकेन्द्रियसे द्वीन्द्रियके, द्वीन्द्रियसे त्रीन्द्रियके त्रीन्द्रियसे चतुरिन्द्रियके और चतुरिन्द्रियसे असंज्ञिपञ्चेन्द्रियके स्थितिबन्ध अधिक होता है । तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियसे संयमीके, संयमीसे देशसंयमीके, देशसंयमीसे अविरत सम्यग्दृष्टिके और अविरत सम्यग्दृष्टिसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिके स्थितिबन्ध अधिक होता है। उनमें भी पर्याप्तकके जघन्य स्थितिबन्धसे अपर्याप्तकका जघन्य स्थितिबन्ध अधिक होता है इसी प्रकार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्त और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय

से संयमीके जो उत्तरोत्तर अधिक अधिक स्थितिबन्ध बतलाया है, इससे यही स्पष्ट होता है कि जीवोंमें ज्यों ज्यों चैतन्यशक्तिका अधिक अधिक विकास होता जाता है, त्यों त्यों संक्लेशकी संभावना भी अधिक अधिक होती जाती है, और यतः एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव प्रायः हिताहितविवेकसे रहित मिथ्यादृष्टि होते हैं और उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे अपनी विकसित चैतन्यशक्तिका उपयोग संक्लेश परिणामोंके रोकनेमें करें, अतः उनके उत्तरोत्तर अधिक अधिक ही स्थितिबन्ध

---

१ कर्मकाण्डमें स्थितिबन्धका अल्पबहुत्व तो नहीं बतलाया है, किन्तु एकेन्द्रिय आदि जीवोंके अवान्तर भेदोंमें स्थितिबन्धका निरूपण किया है। उसके द्वारा स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका परिज्ञान हो जाता है। एकेन्द्रिय आदि जीवोंके अवान्तर भेदोंमें स्थितिबन्धका निरूपण करते हुए निम्न क्रम लिखा है–

"वासूप वासूअ वरट्ठिदीओ सूवाअ सूवाप जहण्णकालो।
वीवीवरो वीवीजहण्णकालो सेसाणमेवं वयणीयमेदं ॥१४८॥"

अर्थ–बादर पर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, बादर अपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्तककी जघन्य स्थिति, बादर अपर्याप्तककी जघन्य स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्तककी जघन्य स्थिति, बादर पर्याप्तककी जघन्य स्थिति, ये एकेन्द्रियके भेदोंका क्रम है। द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट स्थिति, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य स्थिति, इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदिमें भी जानना चाहिये। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिके इन अवान्तर भेदोंमें जो स्थिति बतलाई है वह उत्तरोत्तर कम है। अतः उनके इस क्रमको नीचेसे ऊपरकी ओर पढ़नेपर कर्मग्रन्थमें प्रतिपादित अल्पबहुत्वके स्थानोंके अनुकूल ही यह भी ठहरता है।

होता है। किन्तु संज्ञीपञ्चेन्द्रिय होनेके कारण संयमी मनुष्यकी चैतन्यशक्ति खूब विकसित होजाती है, अतः यद्यपि संयमी होनेके कारण संज्ञीपञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे उनका स्थितिबन्ध बहुत कम होता है, तथापि असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियकी अपेक्षासे वह अधिक ही है। यह सब जीवके भावों और अवस्थाओंका ही परिणाम है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि संयतके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तकके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक जितने स्थितिबन्ध बतलाये हैं उन सबका प्रमाण अन्तःकोटीकोटी सागर ही है। अर्थात् उन स्थितिबन्धोंमें अन्तःकोटीकोटी सागरकी ही स्थिति बंधती है। जैसा कि **कर्मप्रकृति** और उसकी **चूर्णि**में लिखा है—

"ओघुक्कोसो सन्निस्स होइ पज्जत्तगस्सेव ॥८२॥" "अब्भिंतरतो उ कोडाकोडीए'ति, एवं संजयस्स उक्कोसातो आढत्तं कोडाकोडीए अब्भिंतरतो भवति।"

अर्थात्—संयतके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक जितना भी स्थितिबन्ध है वह कोटीकोटी सागरके अन्दर ही जानना चाहिये। और संज्ञीपर्याप्तकके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण वही है जो सामान्यसे उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण बतलाया है।

स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब उस स्थितिको शुभ और अशुभ बतलाते हुए उनका कारण बतलाते हैं—

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा जं साइसंकिलेसेणं।
इयरा विसोहिउ पुण मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥ ५२ ॥

---

१ तुलना कीजिये—

'सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए, सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥२७१॥' पञ्चसं०

अर्थ—मनुष्यायु, देवायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ कही जाती है, क्योंकि उसका बन्ध अति संक्लेश परिणामोंसे होता है। और जघन्य स्थितिका बन्ध विशुद्ध भावोंसे होता है।

भावार्थ—इस गाथामें बतलाया है कि देवायु, मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय शेष सभी प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ और जघन्य स्थिति शुभ होती है। अर्थात् पुण्यप्रकृति हो अथवा पापप्रकृति हो, उसकी उत्कृष्ट स्थिति अच्छी नहीं समझी जाती है। यह बात बतलानेकी आवश्यकता संभवतः इसलिये हुई कि साधारण जन शुभ प्रकृतिमें अधिक स्थितिके पड़नेको अच्छा समझते हैं, क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिके बंधनेसे शुभ प्रकृति बहुत दिनों तक शुभ फल देती रहती है। किन्तु शास्त्रकारोंका कहना है, कि अधिक स्थितिबन्धका होना अच्छा नहीं हैं, क्योंकि स्थितिबन्धका मूल कारण कषाय है, जिस श्रेणीकी कषाय होती है स्थितिबन्ध भी उसी श्रेणीका होता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट कषायसे होता है, इसलिये उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

शंका—शास्त्रोंमें लिखा है कि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः स्थितिबन्धकी तरह अनुभागबन्ध भी कषायसे ही होता है। ऐसी परिस्थितिमें उत्कृष्ट अनुभागको भी उसी तरह अशुभ मानना चाहिये, जैसे कि उत्कृष्ट स्थितिको अशुभ माना जाता है। क्योंकि दोनोंका कारण कषाय है। किन्तु शास्त्रोंमें शुभ प्रकृतियोंके अनुभाग बन्धको शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धको अशुभ बतलाया है।

उत्तर—यद्यपि अनुभाग बन्धका कारण भी कषाय ही है, और स्थितिबन्धका कारण भी कषाय ही है, तथापि दोनोंमें बड़ा अन्तर है। कषायकी

---

१ इसी बातको कर्मकाण्डमें इस प्रकार कहा है—

'सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥ १३४ ॥'

तीव्रता होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागबन्ध अधिक होता है और शुभ प्रकृतियोंमें कम होता है। तथा, कषायकी मन्दता होनेपर शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागबन्ध अधिक होता है और अशुभ प्रकृतियोंमें कम होता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृतिके अनुभागबन्धकी हीनाधिकता कषायकी हीनाधिकता पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु शुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धकी हीनता और अधिकता कषायकी तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित है, और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धकी हीनता और अधिकता कषायकी मन्दता और तीव्रता पर अवलम्बित है। सारांश यह है कि अनुभाग बन्धकी दृष्टिसे कषायकी तीव्रता और मन्दताका प्रभाव शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर बिल्कुल विपरीत पड़ता है। किन्तु स्थितिबन्धमें यह बात नहीं है; क्योंकि कषायकी तीव्रताके समय शुभ अथवा अशुभ जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं, उन सबमें ही स्थितिबन्ध अधिक होता है और इसी तरह कषायकी मन्दताके समय जो भी प्रकृतियाँ बन्धती हैं उन सबमें ही स्थितिबन्ध कम होता है। अतः स्थितिबन्धकी अपेक्षासे कषायकी तीव्रता और मन्दता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एकसा होता है। जैसे अनुभागमें शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर कषायका जुदा जुदा प्रभाव पड़ता है, वैसे स्थितिबन्धमें नहीं पड़ता है। दूसरी रीतिसे इसी बातको यों कहना चाहिये कि जब जब शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, तब तब उनमें जघन्य स्थितिबन्ध होता है, और जब जब उनमें जघन्य अनुभागबन्ध होता है तब तब उनमें उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धका कारण कषायकी मन्दता है जो कि जघन्य स्थितिबन्धका कारण है। तथा उनके जघन्य अनुभागका कारण कषायकी तीव्रता है जोकि उत्कृष्ट स्थितिबन्धका कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियोंकी बात। अशुभ प्रकृतियोंमें तो अनुभाग अधिक होनेपर स्थिति भी अधिक होती है, और अनुभाग कम होने पर स्थितिबन्ध भी कम होता है। क्योंकि दोनोंका कारण कषायकी तीव्रता

ही है । अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ही अशुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायों की तीव्रता है, और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध शुभ है क्योंकि उसका कारण कषायोंकी मन्दता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी तरह उत्कृष्ट अनुभागबन्धको सर्वथा अशुभ नहीं माना जा सकता ।

इस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेशसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और विशुद्धिसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है, किन्तु तीन प्रकृतियाँ—देवायु, मनुष्यायु और नरकायु, इस नियमके अपवाद हैं । इन तीन प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है क्योंकि उसका बन्ध विशुद्धिसे होता है, और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योंकि उसका बन्ध संक्लेशसे होता है । सारांश यह है कि इन तीनों प्रकृतियोंके सिवाय शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बंधती है और जघन्य स्थिति मन्द कषायसे बँधती है, किन्तु इन तीनों प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मन्द कषायसे और जघन्य स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है ।

ऊपर बतलाया है कि सब प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है । किन्तु केवल कषायसे ही स्थितिबन्ध नहीं होता, अपितु उसके साथ योग भी रहता है । अतः सब जीवोंमें उस योगके अल्पबहुत्वका विचार करते हैं—

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥
असमत्ततसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके प्रथम समयमें सबसे अल्प योग होता है। उससे बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी और संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे प्रारम्भके दो लब्ध्य-पर्याप्तक अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रियका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है।

उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे असमाप्त अर्थात् अ-पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके संख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थ—पहले बतलाये गये बन्धके चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः सामान्यसे बन्धके दो ही मूल कारण कहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कषाय। यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये। उस योगसे यह योग बिलकुल जुदा है। योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेको योग बतलाया है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्ति-में प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरजको आत्मा तक लाता है।

पञ्चसङ्ग्रहमें इसके नामान्तर बतलाते हुए लिखा है—

"जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥ ३९६॥"

अर्थात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं।

कर्मप्रकृति (बन्धनकरण)में लिखा है—

"परिणामा लंबण गहण साहणं तेण लद्धनामतिगं।"

अर्थात्—पुद्गलोंका परिणमन, आलम्बन और ग्रहणके साधन अर्थात् कारणको योग कहते हैं। सारांश यह है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षय, अथवा क्षयोपशमसे आत्मामें जो वीर्य प्रकट होता है, उस वीर्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीररूप परिणमाता है। तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है, और परिणमा करके उनका आलम्बन अर्थात् साहाय्य लेता है। इसीसे योगके तीन नाम हो जाते हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। मनके अवलम्बनसे जो योग अर्थात् व्यापार होता है इसे मनोयोग कहते हैं। वचनका अवलम्बन लेकर जो व्यापार किया जाता है, उसे वचनयोग कहते हैं। और श्वासोच्छ्वास वगैरहके अवलम्बनसे जो व्यापार होता है उसे काययोग कहते हैं। सारांश यह है कि योग नामक शक्तिकी वजहसे ही जीव मन, वचन और काय वगैरहका निर्माण करता है और वह मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्तिके आलम्बन होते हैं। इस प्रकार पुद्गलोंके ग्रहण करनेमें, ग्रहण किये हुए पुद्गलोंको शरीरादिरूप परिणमानेमें और उनका अवलम्बन लेनेमें जो साधन है उसे ही योग कहते हैं।

जीवकाण्डमें योगका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ति कम्मागमकारणं जोगो॥ २१५॥"

अर्थात्—पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है, उसे योग कहते हैं। इस प्रकार जैन वाङ्मयमें वीर्यान्तरायके क्षयोपशम अथवा क्षयसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसके द्वारा पुद्गलोंके ग्रहण वगैरहमें आत्माका जो व्यापार होता है, उसे योग कहते हैं।

यह योग एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवोंके यथायोग्य पाया जाता है उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक जघन्य और दूसरी

---

१ कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ ६-१ ॥ तत्त्वार्थसूत्र।

उत्कृष्ट। उक्त गाथाओंके द्वारा ग्रन्थकारने बतलाया है कि किन जीवोंके योगशक्ति अधिक होती है और किन जीवोंके कम होती है। १-सबसे जघन्य योग सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके प्रथम समयमें होता है। २-बादर निगोदिया एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवके प्रथम समयमें जो योग होता है वह उससे असंख्यातगुणा है। ३-उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्ययोग असंख्यातगुणा है। ४-उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। ५-उससे चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। ६-उससे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। ७-उससे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। ८-उससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ९-उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १०-उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तकका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। ११-उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। १२-उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १३-उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १४-उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १५-उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १६-उससे चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १७-उससे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १८-उससे संज्ञिपञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। १९-उससे पर्याप्त द्वीन्द्रियका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। २०-उससे पर्याप्त त्रीन्द्रियका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। २१-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। २२-उससे पर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रियका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। २३-उससे पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रियका जघन्ययोग असङ्ख्यातगुणा है। २४-उससे पर्याप्त

द्वीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २५-उससे पर्याप्त त्रीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २६-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २७-उससे पर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। २८-उससे पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है।

इस प्रकार चौदह जीव समासोंमें जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे योगोंके २८ स्थान होते हैं। तथा, पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें कुछ स्थान और भी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

२९-पर्याप्त संज्ञीके उत्कृष्टयोगसे अनुत्तरवासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३०-उससे ग्रैवेयकवासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३१-उससे भोग भूमिज तिर्यञ्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३२-उससे आहारक शरीरियोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है। ३३-शेष देव, नारक तिर्यञ्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग उत्तरोत्तर असङ्ख्यातगुणा है। यहाँ सर्वत्र गुणाकारका प्रमाण पल्योपमके असङ्ख्यातवें भाग जानना चाहिये। अर्थात् पहले पहले योग स्थानमें पल्यके असङ्ख्यातवें भागका गुणा करनेपर आगे आगेके योगस्थानका प्रमाण आता है। इस कथनसे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर जीवकी शक्तिका विकास होता जाता है त्यों त्यों योगस्थानोंमें भी वृद्धि होती जाती है, क्योंकि जीवकी शक्ति ही तो योग है। जघन्य योगसे जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है और उत्कृष्ट योगसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है।

---

१ कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) में असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवोंका उत्कृष्ट योग असङ्ख्यातगुणा बतलाया है। यथा—

"अमणाणुत्तरगेविज्ज भोगभूमिगयतइयतणुगेसु।
कमसो असंखगुणिओ सेसेसु य जोग उक्कोसो॥ १६॥"

डेढ़गाथासे योगस्थानोंका[1] अल्पबहुत्व बतलाकर ग्रन्थकार स्थिति-स्थानोंका कथन करते हैं। किसी प्रकृतिकी जघन्य स्थितिसे लेकर एक एक समय बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्तस्थितिके जो भेद होते हैं उन्हें स्थिति-स्थान[2] कहते हैं। जैसे, यदि किसी कर्मकी जघन्य स्थिति १० समय है और उत्कृष्ट स्थिति १८ समय है। तो दससे अट्ठारहतक स्थितिके नौ भेद होते हैं, इन्हें ही स्थितिस्थान कहते हैं। ये स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर सङ्ख्यातगुणे

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा २१८ से ४२ गाथाओंमें योगस्थानोंका विस्तृत वर्णन किया है। उसमें योगस्थानके तीन भेद किये हैं–उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और परिणामयोगस्थान। विग्रहगतिमें जो योग-स्थान होता है उसे उपपादयोगस्थान कहते हैं। उसके बाद शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होनेतक जो योगस्थान होता है उसे एकान्तानुवृद्धियोगस्थान कहते हैं। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद परिणामयोगस्थान होता है। ये तीनों ही योग-स्थान जघन्य भी होते हैं और उत्कृट भी, और वे चौदह ही जीवसमासोंमें पाये जाते हैं, अतः योगस्थानोंके समस्त भेद ८४ होते हैं। कर्मग्रन्थमें उक्त तीन भेद नहीं किये हैं इसलिये वहाँ २८ ही भेद बतलाये हैं। दोनों ग्रन्थोंके भेदक्रममें भी अन्तर है।

कर्मकाण्डमें स्थितिस्थान बतलानेके लिये भी वही क्रम अपनाया गया है जो एकेन्द्रियादिक जीवोंकी स्थिति बतलानेके लिये अपनाया गया है और जिसे पहले कह आये हैं।

कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहमें बन्धनकरणके प्रारम्भमें योगस्थानोंका वर्णन है।

२ "तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थिति-पर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्त।"

पञ्च० कर्म० टी० पृ० ५५, पं० ३।

संख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे होते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

१-सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके स्थितिस्थान सबसे कम हैं। २-उससे बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ३-उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ४-उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। इन स्थितिस्थानोंका प्रमाण पल्यके असङ्ख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका अन्तराल इतना ही होता है।

५-बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थानसे अपर्याप्तक द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे हैं। ६-उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ७-उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तकके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ८-उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तकके स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं। ९-उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १०-उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। ११-उससे अपर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १२-उससे पर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। १३-उससे अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं। १४-उससे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं। इस प्रकार ज्यों ज्यों स्थितिका प्रमाण बढ़ता जाता है त्यों त्यों स्थितिस्थानोंकी सङ्ख्या भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार योगोंका अल्पबहुत्व और स्थितिस्थानोंका प्रमाण जानना चाहिये।

योगके प्रसङ्गसे स्थितिस्थानोंका निरूपण करके, अब अपर्याप्त जीवोंके प्रति समय जितने योगकी वृद्धि होती है, उसका कथन करते हैं—

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥ ९९ ॥

अर्थ—अपर्याप्त जीवोंके प्रति समय असङ्ख्यातगुणे असङ्ख्यातगुणे योगकी वृद्धि होती है । एक एक स्थितिके कारण अध्यवसायस्थान असङ्ख्यातलोक प्रमाण हैं । आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंके अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर अधिक अधिक हैं । तथा, आयुकर्मके अध्यवसायस्थान असङ्ख्यातगुणे हैं ।

भावार्थ—योगको स्थितिबन्धका कारण मानकर ग्रन्थकारने स्थितिबन्धका निरूपण करते हुए योगस्थानोंका भी संक्षिप्त वर्णन कर दिया है । संक्षेपका विचार करके ही स्थितिस्थान और स्थितिबन्धके अध्यवसायस्थानके मध्यमें अपर्याप्त जीवोंके योगवृद्धिका निर्देश कर दिया है, जो पाठककी दृष्टिमें कुछ असम्बद्धसा प्रतीत होता है । किन्तु **कर्मप्रकृति** आदि ग्रंथोंमें इसका स्पष्ट वर्णन है । **कर्मप्रकृतिमें** योगस्थानोंका काल बतलाते हुए सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तकके योगस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय बतलाया है और उसमें यह हेतु दिया है कि सभी अपर्याप्त जीवोंके प्रतिसमय असङ्ख्यातगुणे योगकी वृद्धि होती है, अतः उनका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक ही समय है, क्योंकि दूसरे समयमें योगस्थान बदल जाता है । इससे यह पता चलता है कि ग्रन्थकार यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि अपर्याप्त जीवोंके योगस्थानोंमें प्रति समय असङ्ख्यातगुणी वृद्धि होती है, किन्तु पर्याप्तजीवोंमें ऐसा नहीं होता । इसीसे अपर्याप्तदशाके योगस्थानोंका काल केवल एक समय है, जबकि पर्याप्त योगस्थानोंका काल दो समयसे लेकर आठ समय तक होता है ।

इससे पहलेकी गाथामें स्थितिस्थानोंका प्रमाण बतलाया था । यहाँ बतलाते हैं कि एक एक स्थितिस्थानके कारण अगणित अध्यवसायस्थान होते हैं । अध्यवसायस्थानसे मतलब कषायके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और मन्द, मन्दतर, मन्दतम उदयविशेषसे है । अर्थात् स्थितिबन्धके कारण

---

१ देखो गाथा १३की टीकाएँ ।

कषायजन्य आत्मपरिणामको अध्यवसाय कहते हैं। तथा, एक स्थितिबन्धका कारण एक ही अध्यवसायस्थान नहीं है, किन्तु अनेक अध्यवसायस्थान हैं। अर्थात् एक ही स्थिति नाना जीवोंके नाना अध्यवसाय स्थानोंसे बँधती है। जैसे दस मनुष्य दो सागर प्रमाण देवायुका बन्ध करते हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि उन दसों मनुष्योंके सर्वथा एकसे ही परिणाम हों। अतः एक एक स्थितिस्थानके कारण अध्यवसायस्थान असङ्ख्यात लोक प्रमाण होते हैं। आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंके अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर अधिक हैं। जैसे ज्ञानावरण कर्मकी जघन्यस्थितिके कारण अध्यवसायस्थान सबसे कम हैं। किन्तु सामान्यसे उनका प्रमाण भी असङ्ख्यातलोक प्रमाण ही है। उससे ज्ञानावरण कर्मके द्वितीय स्थितिस्थानके कारण अध्यवसाय स्थान अधिक हैं। उससे ज्ञानावरण कर्मके तृतीय स्थितिस्थानके कारण अध्यवसाय-स्थान अधिक हैं। इस प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त अध्यवसायस्थान अधिक अधिक जानने चाहियें। इसी प्रकार दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तरायकर्मकी द्वितीय आदि स्थितिसे लेकर अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पर्यन्त अध्यवसायस्थानोंकी सङ्ख्या अधिक अधिक जाननी चाहिये। किन्तु आयुकर्मके अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर असङ्ख्यातगुणे हैं। अर्थात् चारों ही आयुकर्मोंके जघन्य स्थितिबन्धके कारण अध्यवसायस्थान असङ्ख्यातलोक प्रमाण हैं। उनके द्वितीय स्थिति-बन्धके कारण अध्यवसायस्थान उससे असङ्ख्यातगुणे हैं। उनके तृतीय स्थितिबन्धके कारण अध्यवसायस्थान उससे भी असङ्ख्यातगुणे हैं। उनके चतुर्थ स्थितिबन्धके कारण अध्यवसायस्थान उससे भी असङ्ख्यातगुणे हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पर्यन्त अध्यवसायस्थानोंकी संख्या असङ्ख्यात-

---

१ कर्मप्रकृति बन्धनकरणकी ८७वीं गाथामें अध्यवसायस्थानोंका ऐसा ही वर्णन मिलता है। सर्वार्थसिद्धि पृ० ९१–९२में भी एक एक स्थितिके कारण अध्यवसायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण बतलाये हैं।

गुणी असङ्ख्यातगुणी जाननी चाहिये ।

स्थितिबन्धकी अपेक्षासे सब कर्मोंके अध्यवसायस्थानोंको बतलाकर, अब जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पंचेन्द्रियोंके अधिकसे अधिक जितने कालतक बन्ध नहीं होता, उस कालको तथा उन प्रकृतियोंको दो गाथाओं से कहते हैं—

तिरिनरयतिजोयाणं नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं पणिंदिसु अबन्धठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवोंके तिर्यक्त्रिक (तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी और तिर्यगायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) तथा उद्योत, इन सात प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम कालतक नहीं हो सकता । स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय जाति, विकलत्रय और आतप, इन नौ प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ पिचासी सागरतक नहीं हो सकता ।

अप्रथम संहनन अर्थात् पहले संहननके सिवाय शेष पाँच संहनन, अप्रथम आकृति अर्थात् पहले संस्थानके सिवाय शेष पाँच संस्थान, अप्रथम खगति अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि), नीचगोत्र, नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, इन पचीस प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित एक सौ बत्तीस सागरोपम कालतक नहीं हो सकता ।

भावार्थ—इन गाथाओंमें जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पञ्चेन्द्रिय

जीवके उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया है, उनमेंसे सोलह प्रकृतियोंका बन्ध तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है और शेष पचीस प्रकृतियां द्वितीय गुणस्थान तक ही बंधती हैं। सारांश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध उन्हीं जीवोंके होता है, जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें होते हैं। जो जीव इन गुणस्थानोंको छोड़कर आगे बढ़जाते हैं उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता जबतक वे जीव पुनः उन गुणस्थानोंमें लौटकर नहीं आते। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि दूसरे गुणस्थानसे आगे पञ्चेन्द्रिय जीव ही बढ़ते हैं, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंके आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। इसीसे उक्त इकतालीस प्रकृतियोंके अबन्धका काल पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाया है। अतः जो पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि होजाते हैं, उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता, जबतक वे सम्यक्त्वसे च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें नहीं आते। किन्तु पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें आनेपर भी कभी कभी उक्त प्रकृतियां नही बंधती, जैसा कि आगे ज्ञात हो सकेगा। इन्हीं सब बातोंको दृष्टिमें रखकर उक्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अबन्धकालको उक्त दो गाथाओंके द्वारा बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—तिर्यञ्चत्रिक, नरकत्रिक और उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभवसहित चारपल्य अधिक एकसौ त्रेसठ सागर बतलाया है, जो इसप्रकार है—कोई जीव तीन पल्यकी आयु बांधकर देवकुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। वहांपर उसके उक्त सात प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंका बन्ध वही कर सकता है, जो तिर्यग्गति या नरकगति में जन्म ले सके। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियमसे देव ही होते हैं, अतः वे तिर्यग्गति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते हैं। अस्तु, भोगभूमिमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके वह जीव एक पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्वके होनेके कारण वहां भी उसके उक्त सात

प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ। उसके बाद देवगतिमें सम्यक्त्वसहित मरण-करके, मनुष्यगतिमें जन्मलेकर, दीक्षाधारण करके, नौवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होनेके अन्तमुहूर्तके बात सम्य-क्त्वका वमन करके वह मिथ्यादृष्टि होगया। मिथ्यादृष्टि होजाने पर भी उस जीवके उक्त सात प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ क्योंकि ग्रैवेयकवासी देवोंके उक्त सात प्रकृतियाँ जन्मसे ही नहीं बंधती हैं। वहां मरते समय क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके मनुष्यगतिमें जन्म लेकर, महाव्रत धारण करके, दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर पुनः मनुष्य हुआ। वहाँ अन्त-र्मुहूर्तके लिये सम्यक्त्वसे च्युत होकर तीसरे[1] गुणस्थानमें चला गया। पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके तीन बार अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया। इस प्रकार ग्रैवेयकके ३१ सागर, विजयादिकमें दो बार जन्म लेनेके कारण वहाँके ६६ सागर और तीन बार अच्युत स्वर्गमें जन्म लेनेसे वहाँके ६६ सागर मिलानेसे १६३ सागर होते हैं। इसमें देवकुरु भोगभूमिकी आयु तीन पल्य, देवगतिकी आयु एक पल्य, इस प्रकार चार पल्य और मिला देना चाहिये। तथा बीच बीचमें जो मनुष्यभव धारण किये हैं, उन्हें भी उसमें

---

१ कर्मशास्त्रियोंके मतसे चतुर्थ गुणस्थानसे च्युत होकर जीव तीसरे गुणस्थानमें आ सकता है। किन्तु सिद्धान्तशास्त्रियोंका मत इसके विरुद्ध है। वे लिखते हैं–

"मिच्छत्ता संकंती अविरुद्धा होई सम्ममीसेसु।

मीसाउ वा दोसुं सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥११४॥" बृहत्क० भा०।

अर्थात्–'जीव मिथ्यात्व गुणस्थानसे तीसरे और चौथे गुणस्थानमें जा सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा मिश्र गुणस्थानसे भी पहले और चौथे गुणस्थानमें जा सकता है। किन्तु सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वमें तो जा सकता है परन्तु मिश्र गुणस्थानमें नहीं जा सकता।'

जोड़कर मनुष्य भव सहित, चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागर प्रमाण उक्त प्रकृतियोंका अबन्धकाल होता है।

इस अबन्धकालको बतलाते हुए ग्रैवेयकमें जो सम्यक्त्वसे पतन बतलाया है वह सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण बतलाया है। इसी प्रकार विजयादिकमें ६६ सागर पूर्ण करलेनेके बाद मनुष्यभवमें जो अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें गमन बतलाया है, वह भी सम्यक्त्वके काल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण ही बतलाया है, क्योंकि सम्यक्त्वकी उत्कृष्टस्थिति ६६ सागर है।

स्थावर चतुष्क आदि नौ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभव सहित, चार पल्य अधिक १८५ सागर बतलाया है, जो इस प्रकार है— कोई जीव बाईस सागरकी स्थिति लेकर छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहां इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, क्योंकि नरकसे निकल करके जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक ही होता है, एकेन्द्रिय अथवा विकलत्रय नहीं होता। वहां मरते समय सम्यक्त्वको प्राप्तकरके मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुआ, और अणुव्रती होकर मरणकरके चार पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहांसे च्युत होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्म लेकर, महाव्रत धारणकरके, नवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी स्थितिवाला देव हुआ। वहां अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यादृष्टि होगया। अन्त समय सम्यग्दृष्टि होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्मलेकर, महाव्रतका पालन करके, दो बार विजयादिकमें उत्पन्न हुआ, और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। पहलेकी ही तरह मनुष्यपर्यायमें अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर, पुनः सम्यक्त्वको प्राप्तकरके, तीन बार अच्युतस्वर्गमें उत्पन्न हुआ, और इसप्रकार दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इन सब कालोंको जोड़नेसे मनुष्यभव सहित, चार पल्य अधिक २२+३१+६६+६६=१८५ सागर उत्कृष्ट अबन्धकाल होता है।

अप्रथम संहनन आदि २५ प्रकृतियोंका अबन्धकाल मनुष्यभव सहित

१३२ सागर है, जो इस प्रकार है— कोई जीव महाव्रत धारणकरके, मरकर दो बार विजयादिकमें उत्पन्न हुआ और इस प्रकार सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूर्ण किया, पुनः मनुष्यभवमें अन्तर्मुहूर्तके लिये मिश्र गुणस्थानमें आकर और पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त करके, तीन बार अच्युत स्वर्गमें जन्मलेकर दूसरी बार सम्यक्त्वका काल ६६ सागर पूर्ण किया। इस प्रकार उक्त पच्चीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभव सहित १३२ सागर होता है।

अब पूर्वोक्त सात वगैरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल १६३ सागर वगैरह कैसे होता है, इसको बतलाते हैं—

विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं।
पणसीइ

अर्थ—विजयादिकमें जन्मलेनेसे एकसौ बत्तीस सागर काल होता है। ग्रैवेयक और विजयादिकमें जन्मलेनेसे एकसौ त्रेसठ सागर काल होता है। और छठवें नरक, ग्रैवेयक और विजयादिकमें जन्मलेनेसे एकसौ पिचासी सागर काल होता है।

भावार्थ—इससे पहलेकी दो गाथाओंमें ४१ प्रकृतियोंका जो उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया है, वह किस प्रकार घटित होता है, इसका सङ्केत इस गाथामें किया है। यद्यपि उक्त गाथाओंके भावार्थमें अबन्धकालका स्पष्टीकरण कर आये हैं, तथापि प्रसङ्गवश संक्षेपमें यहां भी उसे कहते हैं।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानोंमेंसे किसी एक विमानमें दो बार जन्मलेनेसे एक बार छियासठ सागर पूर्ण होते हैं। फिर अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें जाकर पुनः अच्युत स्वर्गमें तीन बार जन्मलेनेसे दूसरी बार छियासठ सागर पूर्ण होते हैं। इसप्रकार विजयादिक में जन्मलेनेसे १३२ सागर पूर्ण होते हैं।

तथा, नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु भोगकर वहांसे च्युत होकर मनुष्यगतिमें जन्मलेकर पहलेही की तरह विजयादिकमें दो बार जाने से दो बार छियासठ सागर पूर्ण करनेपर एकसौ त्रेसठ सागर पूर्ण होते हैं। तथा, तमःप्रभा नामक छठे नरकमें बाईस सागरकी स्थितिको भोगकर, उसके बाद नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु भोगकर, उसके बाद विजयादिक में दो बार छियासठ सागर पूरे करके १८५ सागरका अन्तराल होता है। इस प्रकार उक्त इकतालीस प्रकृतियां अधिकसे अधिक इतने काल तक पंचेन्द्रिय जीवके बन्धको प्राप्त नहीं होतीं।

इस प्रकार जिन प्रकृतियोंका जिन जीवोंके सर्वथा बन्ध नहीं होता, उनका निरूपण करके, अब तिहत्तर अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंके निरन्तर बन्धकालका जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बतलाते हैं–

सयबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥

अर्थ–सुरद्विक और वैक्रियद्विकका निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य है।

भावार्थ–देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अङ्गोपाङ्गका बन्ध यदि बराबर होता रहे तो अधिकसे अधिक तीन पल्यतक हो सकता है। क्योंकि भोगभूमिज जीव जन्मसे ही देवगतिके योग्य इन चारों प्रकृतियोंको तीन पल्योपम कालतक बराबर बांधते हैं, क्योंकि उनके नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिके योग्य नामकर्मकी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। अतः परिणामोंमें अन्तर पड़नेपर भी उक्त प्रकृतियोंकी किसी विरोधिनी प्रकृतिका बन्ध नहीं होता। आगे बासठवीं गाथामें '**परमो**' शब्द आता है, जिसकी अनुवृत्ति यहां भी होती है। अतः यह काल उत्कृष्ट जानना चाहिये। जघन्य बन्धकाल एक समय है, क्योंकि ये प्रकृतियां अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः एक समयके बाद ही इनका बन्ध रुक सकता है॥

समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू।

उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नीच गोत्रका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर असंख्यात कालतक जानना चाहिये। आयुकर्मका निरन्तर बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है। औदारिक शरीरका निरन्तर बन्धकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त है, और सातवेदनीयका निरन्तर बन्धकाल कुछ कम एक पूर्वकोटी है।

भावार्थ—तिर्यञ्चद्विक और नीचगोत्र जघन्यसे एक समयतक बंधते हैं, क्योंकि दूसरे समयमें उनकी विपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध हो सकता है। किन्तु जब कोई जीव तेजस्काय या वायुकायमें जन्मलेता है, तो उसके तिर्यग्द्विक और नीच गोत्रका बन्ध तबतक बराबर होता रहता है, जबतक वह जीव उस कायमें ही बना रहता है, क्योंकि तेजस्काय और वायुकायमें तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वीके सिवाय किसी दूसरी गति और आनुपूर्वी का बन्ध नहीं होता और न उच्चगोत्रका ही बन्ध होता है। तेजस्काय और वायुकायमें जन्मलेने वाला जीव असंख्यात लोकाकाशोंके जितने प्रदेश होते हैं, अधिकसे अधिक उतने समयतक बराबर तेजस्काय या वायुकायमें ही जन्मलेता रहता है, अतः उक्त तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल असंख्यात समय अर्थात् असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बतलाया है।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तर्मुहूर्तके बाद उसका बन्ध रुक जाता है। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध एक भवमें एक ही बार होता है और वह अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्मका जघन्य बन्धकाल एक समय और उत्कृष्ट बन्धकाल असंख्यात पुद्गलपरावर्त है। क्योंकि जीव एक समयतक औदारिक शरीरका बन्धकरके दूसरे समयमें उसके विपक्षी वैक्रियशरीर वगैरहका

बन्ध कर सकता है। तथा स्थावरकायमें जन्म लेनेवाला जीव असंख्यात पुद्गलपरावर्त कालतक स्थावरकायमें ही पड़ा रह सकता है और वहां औदारिक शरीरके सिवाय वैक्रियशरीर वगैरहका बन्ध नहीं होता।

इसीप्रकार सातवेदनीयका भी जघन्य बन्धकाल एक समय है और उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ[1] कम एक पूर्वकोटी है। एक समयतक सातवेदनीय-का बन्धकरके जब कोई जीव दूसरे समयमें असातवेदनीयका बन्ध करता है तो जघन्य बन्धकाल एक समय ठहरता है। तथा, जब कोई कर्मभूमिया मनुष्य आठवर्षकी उम्रके बाद जिनदीक्षा धारणकरके केवलज्ञान प्राप्त करता है तो उसके कुछ अधिक आठवर्ष कम एक पूर्वकोटि कालतक निरन्तर सातवेदनीयका ही बन्ध होता रहता है, क्योंकि छठे गुणस्थानके बाद उसकी विरोधी असातवेदनीय प्रकृतिका बन्ध नहीं होता, तथा कर्मभूमिया मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि बतला आये हैं। अतः सातवेदनीय का उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ अधिक आठवर्षकम एक पूर्वकोटी जानना चाहिये॥

जलहिसयं पणसीयं परघुस्सासे पणिंदितसचउगे।

---

१ "देशोनपूर्वकोटिभावनात्वेषा–इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान् सातिरेकान् गमयति, जातोऽष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्व-स्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्।" पञ्चसं०, पृ० ७७, मलय० टी०।

अर्थ–कुछकम पूर्वकोटिकी भावना इस प्रकार है–एक पूर्वकोटिकी आयु-वाला कोई मनुष्य गर्भमें कुछ अधिक नौ मास व्यतीत करता है। उत्पन्न होनेपर भी आठवर्ष तक देशविरति अथवा सर्वविरतिको धारण नहीं कर-सकता, क्योंकि आठवर्षके नीचेके सभी व्यक्ति एकदेश या सर्वदेश विरति को धारण नहीं कर सकते, ऐसा उनका स्वभाव ही है।

बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥

अर्थ—पराघात, उच्छ्वास, पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसचतुष्कका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एक सौ पिचासी सागर है। तथा, प्रशस्त विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्रसंस्थानका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है।

भावार्थ—पराघात आदि सात प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय है; क्योंकि ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः एक समयके बाद इनकी विपक्षी प्रकृतियाँ इनका स्थान ले लेती हैं, तथा, इनका उत्कृष्ट बन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर है।[1] यद्यपि गाथामें केवल एकसौ पिचासी सागर ही लिखा है, तथापि चार पल्य और भी समझना चाहिये; क्योंकि इनकी विपक्षी प्रकृतियोंका जितना अबन्धकाल होता है, उतना ही इनका बन्धकाल होता है। पहले गाथा ५६में इनकी विपक्षी स्थावर चतुष्क वगैरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर बतला आये हैं, अतः इनका बन्धकाल भी

---

१ 'इह च 'सचतुःपल्यम्' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतुःपल्यम्' इति व्याख्यानं कार्यम्। यतो यावानतेद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्ध-काल इति। पञ्चसङ्ग्रहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति। पञ्चमकर्मग्रन्थकी स्वो० टी० पृ० ६०।

अर्थ–'यहाँ चार पल्य सहित' नहीं कहा है, फिर भी 'चारपल्य सहित' ऐसा अर्थ करना चाहिये। क्योंकि जितना इनके विपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध-काल है उतना ही इनका बन्धकाल है। पञ्चसङ्ग्रह वगैरहमें उपलक्षण वगैरह किसी कारणसे जो चारपल्य अधिक नहीं कहा है, उसका आशय हम नहीं जानते हैं।'

पञ्चसङ्ग्रहमें गा० ३००–३०३ में प्रकृतियोंका बन्धकाल बतलाया है।

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अबन्धकालमें इनका बन्ध होता है। एकसौ पिचासी सागरका बन्धकाल भी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके अबन्धकालकी ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाईस सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पराघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध किया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अणुव्रतोंका पालन करके मरकर चारपल्यकी[1] स्थितिवाले देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुनः मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबन्ध होता रहता है।

इस प्रकार प्रशस्तविहायोगति वगैरहका जघन्य बन्धकाल एक समय[2]

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिसे एक दम ग्रैवेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसङ्ग्रहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियों का निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यञ्च अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक संसारमें भ्रमण करता है।

है और उत्कृष्ट बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है । क्योंकि गाथा ५७में इनकी विपक्षी प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है, अतः इनका बन्धकाल भी उसी क्रमसे उतना ही समझना चाहिये ।।

असु-खगइ-जाइ-आगिइ-संघयणा-हार-नरय-जोयदुगं ।
थिर-सुभ-जस-थावरदस-नपु-इत्थी-दुजुयल-मसायं ॥ ६१ ॥
समयादंतमुहुत्तं मणुदुग-जिण-वइर-उरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमा अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥

अर्थ—अप्रशस्त विहायोगति, अशुभजाति अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, अशुभ संहनन अर्थात् ऋषभनाराच आदि अन्तके पाँच संहनन, अशुभ आकृति अर्थात् न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान वगैरह अन्तके पाँच संस्थान, आहारकद्विक,नरकद्विक,उद्योतद्विक,स्थिर,शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर आदि दस, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद,दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, तथा असातवेदनीय, इन इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त है । मनुष्यद्विक, तीर्थङ्कर नाम, वज्रऋषभनाराच संहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट बन्धकाल ३३ सागर है । तथा, आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त है ।

भावार्थ—अप्रशस्त विहायोगति आदि इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है । ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं अतः अपनी अपनी विरोधी प्रकृतिके बन्धकी सामग्रीके होनेपर अन्तर्मुहूर्तके बाद इनका बन्ध रुक जाता है। इनमेंसे सात वेदनीय,रति,हास्य,स्थिर, शुभ और यशःकीर्तिकी विरोधिनी असात वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिका बन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक तो इनका निरन्तरबन्ध अन्त-

मुहूर्त तक होता ही है। किन्तु उसके बादके गुणस्थानोंमें भी उनका बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है, क्योंकि उन गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त ही है।

मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, तीर्थङ्करनाम, वज्रऋषभनाराचसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका निरन्तर बन्धकाल अधिकसे अधिक तेतीस सागर बतलाया है; क्योंकि अनुत्तरवासी देवके मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है, अत: वह अपने जन्म समयसे लेकर तेतीस सागरकी आयु तक उक्त प्रकृतियोंके विरोधी नरकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, देव-द्विक, वैक्रियद्विक और पाँच अशुभ संहननोंका बन्ध नहीं करता। तथा तीर्थ-ङ्कर प्रकृतिकी कोई विरोधिनी प्रकृति नहीं है, इसलिये वह भी तेतीस सागर तक बराबर बंधती रहती है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन पाँच प्रकृतियोंमेंसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवाय शेष चार प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है क्योंकि उन प्रकृतियोंकी विरोधिनी प्रकृतियाँ भी हैं।

ऊपर बताया गया है कि अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है। इस परसे यह आशङ्का हो सकती है कि क्या सभी अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है? उसका समाधान करनेके लिये ग्रन्थकारने लिखा है कि चारों आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति वगैरह इकतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बन्धकाल ही अन्तर्मुहूर्त नहीं है किन्तु आयु वगैरहका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार अध्रुवबन्धिनी होने पर भी इनके जघन्य बन्धकालमें अन्तर है। आयुकर्मके बन्धकालके बारेमें तो पहले ही लिख आये हैं कि एक भवमें केवल एक बार ही आयुका बन्ध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्तके लिये ही होता है। तीर्थङ्कर प्रकृति का जघन्य बन्धकाल इस प्रकार घटित होता है—कोई जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके उपशमश्रेणि चढ़ा। वहाँ नववें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानमें उसने तीर्थङ्करका बन्ध नहीं किया, क्योंकि तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका निरोध

आठवें गुणस्थानके छठे भागमें ही हो जाता है। उपशमश्रेणिसे गिरकर, अन्तर्मुहूर्त तक तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके, वह जीव पुनः उपशमश्रेणि चढ़ा और वहाँ उसका अबन्धक हुआ। उस समय तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त घटित होता है। इस प्रकार अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका निरन्तर[1] बन्धकाल समझना चाहिये।
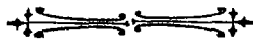
१९. रसबन्धद्वार

बन्धके पूर्वोक्त चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबन्ध और स्थितिबन्धका वर्णन करके अब तीसरे रसबन्ध अथवा अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं। बन्धको प्राप्त कर्मपुद्गलोंमें फल देनेकी जो शक्ति होती है उसे रसबन्ध कहते हैं। आशय यह है कि जीवके साथ बंधनेसे पहले कर्मपरमाणुओंमें उस प्रकारका विशिष्ट रस नहीं रहता, उस समय वे प्रायः नीरस और एकरूप रहते हैं। किन्तु जब वे जीवके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब ग्रहण करनेके समयमें ही जीवके कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर उनमें अनन्तगुणा रस पड़ जाता है, जो जीवके गुणोंका घात वगैरह करता है, उसे ही रसबन्ध कहते हैं। जैसे सूखे तृण नीरस होते हैं, किन्तु ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरीके पेटमें जाकर वे क्षीर आदि रसरूप परिणत होते हैं, तथा उनके रसमें चिकनाईकी

---

१ कर्मकाण्डमें अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका केवल जघन्य बन्धकाल ही बतलाया है, जो इस प्रकार है–

'अवरो भिण्णमुहूत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊण।
समओ छावट्ठीणं बन्धो तम्हा दुधा सेसा॥ १२६॥'

अर्थात्–तीर्थङ्कर, आहारकद्विक और चारों आयुकर्मोंके निरन्तर बन्ध होनेका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष छियासठ प्रकृतियोंके निरन्तर बन्धका जघन्य काल एक समय है। आदि,

हीनाधिकता देखी जाती है । अर्थात् उन्हीं सूखे तृणोंको खाकर ऊंटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाई बहुत अधिक रहती है। भैंसके दूधमें उससे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है । गायके दूधमें उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है और बकरीके दूधमें सबसे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकारके तृण घास वगैरह भिन्न भिन्न पशुओंके पेटमें जाकर भिन्न भिन्न रसरूप परिणत होते हैं, उसी प्रकार एक ही प्रकारके कर्मपरमाणु भिन्न भिन्न जीवोंके भिन्न भिन्न कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर भिन्न भिन्न रसवाले हो जाते हैं। इसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं । जैसे भैंसके दूधमें अधिक शक्ति होती है और बकरीके दूधमें कम, उसी तरह शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारकी प्रकृतियोंका अनुभाग तीव्र भी होता है और मन्द भी होता है। अर्थात् अनुभागबन्धके दो प्रकार हैं—एक तीव्र अनुभागबन्ध और दूसरा मन्द अनुभागबन्ध, और ये दोनों ही तरहके अनुभागबन्ध शुभ प्रकृतियोंमें भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियोंमें भी होते हैं । अतः अनुभागबन्ध द्वारका उद्घाटन करते हुए ग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके तीव्र और मन्द अनुभाग बन्धका कारण बतलाते हैं—

तिव्वो असुहसुहाणं संकेसविसोहिउ विवज्जयउ ।
मंदरसो

अर्थ—संक्लेशपरिणामोंसे अशुभप्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है और विशुद्ध भावोंसे शुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है । तथा, विपरीत भावोंसे उनमें मन्द अनुभागबन्ध होता है । अर्थात् विशुद्धभावोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है और संक्लेश भावोंसे शुभ प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है ।

भावार्थ—रस या अनुभाग दो प्रकारका होता है—तीव्र और मन्द ।

और ये दोनों ही प्रकारका अनुभाग अशुभ प्रकृतियोंमें भी होता है और शुभप्रकृतियोंमें भी होता है। अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागको नीम वगैरह वनस्पतियोंके कडुवे रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे नीमका रस कटुक होता है, उसी तरह अशुभ प्रकृतियोंका रस भी बुरा समझा जाता है, क्योंकि अशुभ प्रकृतियां अशुभ ही फलदेती हैं। तथा शुभ प्रकृतियोंके रस को ईखके रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे ईखका रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंका रस सुखदायक होता है। इन दोनोंही प्रकारकी प्रकृतियोंके तीव्र और मन्दरसकी चार चार अवस्थाएँ होती हैं। जैसे, नीमसे तुरन्त निकाला हुआ रस स्वभावसे ही कटुक होता है। उस रसको अग्निपर पकानेसे जब वह सेरका आधसेर रहजाता है तो कटुकतर होजाता है, सेरका तिहाई रहनेपर कटुकतम होजाता है और सेरका पावसेर रहनेपर अत्यन्त कटुक होजाता है। तथा, ईखको पेरनेसे जो रस निकलता है वह स्वभावसे ही मधुर होता है। उस रसको आगपर पकानेसे जब वह सेरका आधसेर रहजाता है तो मधुरतर होजाता है, सेरका तिहाई रहनेपर मधुरतम होजाता है और सेरका पावसेर रहनेपर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इसीप्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका तीव्र रस भी चार प्रकारका होता है—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। तथा जैसे उस कटुक या मधुर रसमें एक चुल्लु पानी डालदेनेसे वह मन्द हो-जाता है, एक गिलास पानी डालदेनेसे वह मन्दतर होजाता है, एक लोटा पानी डालदेनेसे वह मन्दतम होजाता है और एक घड़ा पानी डालदेनेसे वह अत्यन्त मन्द होजाता है। उसीप्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका मन्द रस भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम और अत्यन्त मंद, इस तरह चार प्रकार का होता है। इस तीव्रता और मन्दताका कारण कषायकी तीव्रता और मन्दता है। तीव्र कषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र और शुभ प्रकृतियोंमें मंद अनुभागबन्ध होता है, तथा, मन्दकषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें मन्द और शुभ

प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है । इसी बातको दूसरी रीतिसे यदि और भी स्पष्टकरके कहा जाये तो कहना होगा कि संक्लेश परिणामोंको वृद्धि और विशुद्ध परिणामोंकी हानि होनेसे बयासी अशुभ प्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभाग बन्ध होता है, और बयालीस शुभ प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है। तथा, संक्लेश परिणामोंकी मन्दता और विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धि होनेसे बयालीस पुण्यप्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभागबन्ध होता है, और बयासी पाप प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है । इन चारों प्रकारोंको क्रमश: एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक कहा जाता है। अर्थात् एकस्थानिकसे तीव्र द्विस्थानिकसे तीव्रतर त्रिस्थानिकसे तीव्रतम और चतु:स्थानिकसे अत्यन्ततीव्रका ग्रहण किया जाता है। सारांश यह है कि रसके असंख्य प्रकार हैं और उन सबका समावेश उक्त चार प्रकारोंमें होजाता है। अर्थात् एक एकमें असंख्य असंख्य प्रकार जानने चाहियें।

अब तीव्र और मन्द अनुभागबन्धके उक्त चार चार भेद जिन कारणों से होते हैं, उन कारणोंका निर्देश करते हैं–

गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥ ६३ ॥

चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइआवरणा ।

पुंमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

१–सरिक–ख० पु० । २–देसआव–ख० पु० ।

३ 'आवरणमसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ ।
चउठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥१४८॥' पञ्चसं०

अर्थ–ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी देशघाती प्रकृतियां, पुरुषवेद,

अर्थ—अशुभ प्रकृतियोंमें पर्वतकी रेखाके समान अनन्तानुबन्धी कषाय से चतुःस्थानिक अनुभागबन्ध होता है, पृथ्वीकी रेखाके समान अप्रत्याख्यानावरण कषायसे त्रिस्थानिक अनुभागबन्ध होता है, बालुकाकी रेखाके समान प्रत्याख्यानावरण कषायसे द्विस्थानिक अनुभागबन्ध होता है, और जलकी रेखाके समान संज्वलनकषायसे एकस्थानिक अनुभागबन्ध होता है। शुभ प्रकृतियोंमें इससे विपरीत जानना चाहिये। अर्थात् बालुकाकी रेखा और जलकी रेखाके सदृश कषायोंसे चतुःस्थानिक अनुभागबन्ध होता है। पृथ्वीकी रेखाके सदृश कषायसे त्रिस्थानिक अनुभागबन्ध होता है। और पर्वतकी रेखाके सदृश कषायसे द्विस्थानिक अनुभागबन्ध होता है।

पांच अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी सात देशघातिप्रकृतियां, पुरुषवेद, और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सतरह प्रकृतियोंमें चारों ही प्रकारका अनुभागबन्ध होता है। शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त ही अनुभागबन्ध होता है, एक स्थानरूप अनुभागबन्ध नहीं होता।

भावार्थ—अनुभागबन्धका कारण बतलाते हुए तीव्र और मन्द अनुभागके चार चार प्रकार बतलाये थे। यहां उनका कारण बतलाया है। अनुभागबन्धका कारण कषाय है और तीव्र तीव्रतरादि तथा मन्द मन्दतरादि भेद अनुभागबन्धके ही हैं, अतः उन भेदोंका कारण भी कषायके ही भेद हैं। कषायके चार भेद प्रसिद्ध हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमेंसे प्रत्येककी चार चार अवस्थाएं होती हैं। अर्थात् क्रोध कषायकी चार अवस्थाएँ होती हैं, मानकषायकी चार अवस्थाएँ होती हैं और माया तथा लोभ कषायकी भी चार चार अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओंका नाम

संज्वलन, और अन्तरायकी पाँच प्रकृतियाँ, इनमें चारोंही प्रकारका परिणमन होता है और शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक परिणमन होता है।

क्रमशः अनन्तानुबन्धीकषाय, अप्रत्याख्यानावरणकषाय, प्रत्याख्यानावरण-कषाय और संज्वलनकषाय है। शास्त्रकारोंने इन चारों कषायोंकी चार उपमाएँ दी हैं। अनन्तानुबन्धी कषायकी उपमा पर्वतकी रेखासे दी जाती है। जैसे, पर्वतमें जो दरार पड़ जाती है वह सैकड़ों वर्ष बीतजानेपर भी नहीं मिटती, वैसे ही अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना भी असंख्य भवोंतक बनी रहती है। इस कषायका उदय होनेसे जीवके परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट होते हैं, और वह पापप्रकृतियोंका अत्यन्त कटुकरूप चतुःस्थानिक रसबन्ध करता है, किन्तु शुभ प्रकृतियोंमें केवल मधुरतररूप द्विस्थानिक ही रसबन्ध करता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता।

अप्रत्याख्यानावरण कषायको पृथ्वीकी रेखाकी उपमा दी जाती है। अर्थात् तालाबमें पानीके सूखजानेपर जमीनमें जो दरारें पड़ जाती है, उनके समान अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है। जैसे वे दरारें समय पाकर पुर जाती हैं, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषायकी वासना भी अपने समयपर शान्त होजाती है। इस कषायका उदय होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें भी त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है और शुभप्रकृतियोंमें भी त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है। अर्थात् कटुकतम और मधुरतम ही अनु-भागबन्ध होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषायको बालू या धूलिकी लकीरकी उपमा दी जाती है। जैसे बालूमें की लकीर स्थायी नहीं होती, जल्दी ही पुर जाती है उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कषायकी वासना भी अधिक समय तक नहीं रहती है। इस कषायका उदय होनेपर पाप प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक अर्थात् कटुकतर तथा पुण्यप्रकृतियोंमें चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है।

संज्वलन कषायकी उपमा जलकी रेखासे दी जाती है। जैसे जलमें इधर रेखा खींची जाती है तो उधर हाथके हाथ ही वह स्वयं मिटती जाती है। उसी प्रकार संज्वलन कषायकी वासना अन्तर्मुहूर्तमें ही नष्ट हो जाती

है । इस कषायका उदय होनेपर पुण्यप्रकृतियोंमें चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है और पापप्रकृतियोंमें केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुकरूप ही रस-बन्ध होता है । इस प्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्या-नावरण और संज्वलन कषायसे अशुभ प्रकृतियोंमें क्रमशः चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबन्ध होता है, तथा शुभ प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है । इस प्रकार अनुभागबन्धके चारों प्रकारोंका कारण चारों कषायोंको बतला-कर, किस प्रकृतिमें कितने प्रकारका रसबन्ध होता है यह बतलाते हैं ।

पांच अन्तराय आदि सतरह प्रकृतियोंमें एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक, इसप्रकार चारों ही प्रकारका रसबन्ध होता है । इनमेंसे इनका एकस्थानिक रस तो नवें गुणस्थानके संख्यात भाग बीतजानेपर बंधता है । और उससे नीचेके गुणस्थानोंमें द्विस्थानिक, त्रि-स्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है । इन सतरहके सिवाय शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है, किन्तु एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता । इसका कारण यह है कि शेष प्रकृ-तियोंमें ६५ पाप प्रकृतियां हैं, और नवें गुणस्थानके संख्यातभाग बीतजाने-पर उनका बन्ध नहीं होता है । अतः उनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है क्योंकि अशुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नवें गुणस्थानके संख्यात भाग बीतजानेपर ही होता है । यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि उक्त ६५ अशुभप्रकृतियोंमें से यद्यपि केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शा-नावरणका बन्ध दसवें गुणस्थानतक होता है किन्तु ये दोनों प्रकृतियां सर्व-घातिनी हैं, अतः उनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है ।

शेष ४२ पुण्यप्रकृतियोंमें भी एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—जैसे महलके ऊपर पहुँचनेके लिये जितनी सीढ़ियाँ चढ़ना पड़ती हैं, उसपरसे उतरते समय उतनी ही सीढ़ियां उतरनी होती

है। उसी तरह संक्लिष्टपरिणामी जीव जितने संक्लेशके स्थानोंपर चढ़ता है, विशुद्ध भावोंके होनेपर उतनेही स्थानोंसे उतरता भी है। तथा, उपशमश्रेणि चढ़ते समय जितने विशुद्धिस्थानोंपर चढ़ता है, गिरते समय उतने ही संक्लेश स्थानोंपर चढ़ता है। अत: इस दृष्टिसे तो जितने संक्लेश के स्थान हैं, उतने विशुद्धिके स्थान हैं ही, क्योंकि चढ़ते समय जितने विशुद्धि स्थान होते हैं उतरते समय उतने ही संक्लेशस्थान होते हैं। किन्तु विशुद्धिके स्थान संक्लेशके स्थानोंसे अधिक हैं, क्योंकि क्षपकश्रेणि चढ़ने वाला जीव जिन विशुद्धि स्थानों पर चढ़ता है, उन पर से फिर नीचे नहीं उतरता। यदि उन विशुद्धि स्थानोंकी बराबरीके संक्लेश स्थान भी होते तो उपशमश्रेणिकी तरह क्षपकश्रेणिमें भी जीवका पतन अवश्य होता। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्षपकश्रेणि पर आरोहण करनेके बाद जीव नीचे नहीं आता, अत: यही निष्कर्ष निकलता है कि उनके बराबर संक्लेशस्थान नही हैं। अत: संक्लेश स्थानोंसे विशुद्धिस्थानोंकी संख्या अधिक है और क्षपकश्रेणिमें विशुद्धिस्थान ही होते हैं। इन अत्यन्त विशुद्धिस्थानोंके रहते हुए शुभ प्रकृतियोंका केवल चतु:स्थानिक ही रसबन्ध होता है। तथा, अत्यन्त संक्लेशस्थानोंके रहते हुए शुभ प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं होता है। अत्यन्त संक्लेशके समय भी यद्यपि कोई कोई जीव नरक गतिके योग्य वैक्रियशरीर वगैरह शुभ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, किन्तु उस समय भी उनमें जीवस्वभावसे द्विस्थानिक ही रसबन्ध होता है। तथा, जिन मध्यम परिणामोंसे शुभ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, उनसे भी उनका द्विस्थानिक ही रसबन्ध होता है। अत: शुभ प्रकृतियोंमें कहीं पर भी एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता। इस प्रकार अनुभागबन्धके स्थानोंके कारण कषायके ही स्थान हैं।

चारों ही प्रकारके रसका कारण बतलाकर, अब शुभ और अशुभ रसका ही विशेष स्वरूप कहते हैं—

निंबुच्छुरसो सहजो दुतिचउभाग कड्ढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैसे नीमका रस कडुआ और ईखका रस मीठा होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियोंका रस अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका रस शुभ होता है। तथा, जैसे नीम और ईखके रसमें स्वाभाविक रीतिसे एकस्थानिक ही रस रहता है, अर्थात् उनमें नम्बर एक की ही कटुकता और मधुरता रहती है किन्तु आग पर रख कर उसका क्वाथ करने पर उनमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस हो जाता है, अर्थात् पहलेसे दुगुना, तिगुना और चौगुना कडुवापन और मिठास आ जाता है। उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंमें संक्लेश के बढ़नेसे अशुभ, अशुभतर, अशुभतम और अत्यन्त अशुभ, तथा शुभ प्रकृतियोंमें विशुद्धिके बढ़नेसे शुभ, शुभतर, शुभतम और अत्यन्तशुभ रस पाया जाता है।

भावार्थ—पहले जो अनुभागबन्धके एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये थे, इस गाथामें उन्हींका स्पष्टीकरण किया है, और उन्हें समझानेके लिये अशुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा नीमके रससे और शुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा ईखके रससे दी है। जैसे नीमका रस कडुआ होता है और पीनेवालेके मुखको एकदम कडुआ कर देता है, उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंका रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक होता है। तथा, जैसे ईखका रस मीठा और आनन्ददायक होता है उसी तरह शुभ प्रकृ-

---

१ 'घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो अणंतगुणिया कमेणियरे ॥१५०॥' पञ्चसं० ।

अर्थ–'अशुभ प्रकृतियोंके एकस्थानिक रसको घोषातकी नीम वगैरहकी उपमा दी जाती है और शुभ प्रकृतियोंके रसको क्षीर खांड वगैरहकी उपमा दी जाती है। बाकीके द्विस्थानिक त्रिस्थानिक वगैरह स्पर्द्धक क्रमसे अनन्तगुणे रस वाले होते हैं।'

तियोंका रस भी जीवको आनन्ददायक होता है।

नीम और ईखको पेरने पर उनमें से जो स्वाभाविक रस निकलता है वह स्वभावसे ही कड़ुआ और मीठा होता है। उस कड़ुवाहट और मीठेपनको एकस्थानिक रस समझना चाहिये। नीम और ईखका एक एक सेर रस लेकर उन्हें यदि आग पर पकाया जाये और जलकर वह आध आध सेर रह जाये तो उसे द्विस्थानिक रस समझना चाहिये; क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उस पके हुए रसमें दूनी कड़ुवाहट और दूनी मधुरता हो जाती है। वही रस पक कर जब एक सेरका तिहाई शेष रह जाता है तो उसे त्रिस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि उसमें पहलेके स्वाभाविक रससे तिगुनी कड़ुवाहट और तिगुना मीठापन पाया जाता है। तथा वही रस पकते पकते जब एक सेरका एक पाव शेष रह जाता है, तो उसे चतुःस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उसमें चौगुनी कड़ुवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है। उसी प्रकार कषायकी तीव्रताके बढ़नेसे अशुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है। और कषायकी मन्दताके बढ़नेसे शुभ प्रकृतियोंमें द्विस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्धका निषेध कर आये हैं।

जैसे नीमके एकस्थानिक रससे द्विस्थानिक रसमें दूनी कड़ुआहट होती है, और त्रिस्थानिकमें तिगुनी कड़ुआहट होती है। उसी प्रकार अशुभप्रकृतियोंके जो स्पर्द्धक सबसे जघन्य रसवाले होते हैं, वे एकस्थानिक रस वाले कहे जाते हैं उनसे द्विस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्द्धकोंमें अनन्तगुणा रस होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंमें भी समझ लेना चाहिये।

घातिकर्मोंकी जो प्रकृतियां सर्वघातिनी हैं उनके सभी स्पर्द्धक सर्व-

घाती हैं। किन्तु देशघातिप्रकृतियोंके कुछ स्पर्द्धक सर्वघाती होते हैं और कुछ स्पर्द्धक देशघाती होते हैं। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि जो स्पर्द्धक[1] त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसवाले होते हैं वे नियमसे सर्वघाती होते हैं, जो स्पर्द्धक द्विस्थानिक रसवाले होते हैं वे देशघाती[2] भी होते हैं, और सर्वघाती भी होते हैं, किन्तु एकस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक देशघाती

---

१ 'चउतिट्ठाणरसाइं सव्वविघाइणि होंति फड्डाइं।
दुट्ठाणियाणि मीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥१४६॥' पञ्चसं०।

अर्थात्–'चतुःस्थानिक और त्रिस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक सर्वघाती होते हैं। द्विस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक सर्वघाती भी होते हैं और देशघाती भी होते हैं। तथा शेष एकस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक देशघाती ही होते हैं।'

२ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें अनुभागबन्धका वर्णन करते हुए घातिकर्मोंकी शक्तिके चार विभाग किये हैं–लता, दारु, अस्थि और पत्थर। जैसे ये चारों पदार्थ उत्तरोत्तर अधिक अधिक कठोर होते हैं उसी प्रकार कर्मोंकी शक्ति भी समझनी चाहिये। इन चारों विभागोंको कर्मग्रन्थके अनुसार क्रमशः एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि नाम दिये जा सकते हैं। इनमेंसे लताभाग तो देशघाती ही है। दारुभागका अनन्तवां भाग देशघाती है और शेष बहुभाग सर्वघाती है। तथा, अस्थि और पत्थर भाग सर्वघाती ही है। यह तो हुआ घातिकर्मोंकी शक्तिका विभाजन। अघातिकर्मोंके पुण्य और पापरूप दो विभाग करके पुण्य प्रकृतियोंमें गुड़, खांड, शक्कर और अमृत रूप चार विभाग किये हैं, और पापप्रकृतियोंमें नीम, कंजीर, विष और हालाहल, इस तरह चार विभाग किये हैं। इन विभागोंको भी क्रमशः एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि नाम दिया जा सकता है। पञ्च० कर्मग्रन्थकी ६४ वीं गाथाही की तरह कर्मकाण्ड (गा० १८२) में भी सत्तरह प्रकृतियोंमें चारों प्रकारका और शेष प्रकृतियोंमें तीन ही प्रकारका परिणमन बतलाया है।

ही होते हैं।

अनुभागबन्धका वर्णन करके, अब उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिगं।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया॥ ६६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। विकलत्रय, सूक्ष्म आदि तीन, नरकत्रिक तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। तथा, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, और सेवार्त संहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं।

भावार्थ—अनुभागबन्धका स्वरूप समझाकर अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं। एकेन्द्रिय जाति आदि तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं, ऐसा गाथामें लिखा है। किन्तु यहां ईशान स्वर्गतकके देवोंका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ईशान स्वर्गतकके ही देव मरकर एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्म लेसकते हैं, उससे ऊपरके देव एकेन्द्रिय पर्याय धारण नहीं कर सकते।

शङ्का—मिथ्यादृष्टि देव ही इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्यों करते हैं?

उत्तर—नारक तो मरकर एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्म ही नहीं लेते, अतः उनके उक्त प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं होता है। तथा, आतप प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके लिये जितनी विशुद्धिकी आवश्यकता है, उतनी विशुद्धिके होनेपर मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चमें जन्म लेनेके योग्य अन्य शुभ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, और एकेन्द्रिय तथा स्थावर प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके लिये जितने संक्लेशभावोंकी आवश्यकता है, उतने संक्लेशके होनेपर वे नरकगतिके योग्य अशुभ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। किन्तु देवगतिमें उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर भी नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका

बन्ध जन्मसे ही नहीं होता। अतः नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च उक्त तीनों प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं करते, किन्तु ईशान स्वर्गतकके मिथ्यादृष्टि देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं।

विकलत्रय आदि ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होता है; क्योंकि तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुके सिवाय शेष नौ प्रकृतियोंको नारक और देव तो जन्मसे ही, नहीं बांधते हैं। तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध वे ही जीव करते हैं जो मरकर भोगभूमिमें जन्म लेते हैं, अतः देव और नारक इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं कर सकते। किन्तु मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं। इसीप्रकार शेष प्रकृतियों-का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी अपने अपने योग्य संक्लेश परिणामोंके धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च ही करते हैं, अतः उक्त ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उन्हींके होता है।

तथा, तिर्यञ्चद्विक और सेवार्तसंहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देवों और नारकोंके होता हैं; क्योंकि यदि तिर्यञ्चों और मनुष्योंके उतने संक्लिष्ट परिणाम हों तो उनके नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है। किन्तु देव और नारक अतिसंक्लिष्ट परिणाम होनेपर भी तिर्यञ्चगति के योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। अतः उक्त तीन प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी देवों और नारकोंको ही बतलाया है। यहां इतना विशेष वक्तव्य है कि देवगतिमें सेवार्तसंहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं, ईशान स्वर्गतकके देव उसका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं करते, क्योंकि ईशान स्वर्गतकके देव अति-संक्लिष्ट परिणामोंके होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। किन्तु सेवार्तसंहनन एकेन्द्रियके योग्य नहीं है; क्योंकि एकेन्द्रियोंके संहनन नहीं होता है॥

विउव्वि-सुरा-हारदुगं सुखगइ-वन्नचउ-तेय-जिण-सायं ।
समचउ-परघा-तसदस-पणिंदि-सासु-च्च खवगाउ ॥६७॥

अर्थ—वैक्रियद्विक, सुरद्विक, आहारकद्विक, प्रशस्त विहायोगति, वर्ण-चतुष्क, तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु और निर्माण), तीर्थङ्कर, सातवेदनीय, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, त्रसनाम आदि दस, पञ्चेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, और उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्योंके होता है ।

भावार्थ—इस गाथामें वैक्रियद्विक आदि बत्तीस प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्योंको बतलाया है। उनमें से सातवेदनीय, उच्चगोत्र और त्रसदशकमेंसे यशःकीर्तिका उत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है, क्योंकि इन तीनों प्रकृतियोंके बन्धकोंमें वही सबसे विशुद्ध है और पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट रसबन्ध अति विशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। इन तीनके सिवाय शेष उनतीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट रसबन्ध अपूर्वकरण गुणस्थानके छट्ठे भागमें देव-गतिके योग्य प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्तिके समयमें होता है। क्योंकि इन प्रकृति-योंके बान्धनेवालोंमें अपूर्वकरण क्षपक ही अति विशुद्ध होता है। इसप्रकार इन बत्तीस प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी क्षपक मनुष्य ही होता है।।

तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुय-उरलदुग-वइरं ।
अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥

अर्थ—सातवें नरकके नारक उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं। मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि देव करते हैं। देवायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अप्र-मत्तसंयत मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका तीव्र अनुभागबन्ध चारों ही गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—गाथामें उद्योत प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी सातवें नरकके नारकोंको बतलाया है। उसका विशेष खुलासा इसप्रकार है—सातवें नरकका कोई नारक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करते समय अनिवृत्तिकरणमें मिथ्यात्वका अन्तरकरण करता है। उसके करनेपर मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग हो जाते हैं, एक अन्तर-करणसे नीचेकी स्थिति; जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और जिसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और दूसरी उससे ऊपरकी स्थिति, जिसे द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्वको अन्तर्मुहूर्तप्रमाण नीचेकी स्थितिके अन्तिम समयमें, अर्थात् जिससे आगेके समयमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उस समयमें, उस जीवके उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः विशुद्ध परिणामोंसे ही उसका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। तथा, उसके बांधनेवालोंमें सातवें नरकका उक्त नारक ही अति-विशुद्ध परिणामवाला है; क्योंकि अन्यगतिमें इतनी विशुद्धिके होनेपर मनुष्य-गति अथवा देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही उत्कृष्ट रसबन्ध होता है। किन्तु उद्योत प्रकृति तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंमेंसे है, और सातवें नरक-का नारक मरकर नियमसे तिर्यञ्चगतिमें जन्मलेता है, अतः सातवें नरक-का नारक मिथ्यात्व में प्रतिसमय तिर्यञ्चगतिके योग्य कर्मोंका बन्ध करता है, अतः उसका ही ग्रहण किया है।

मनुष्यद्विक आदि पांच प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी सम्यग्दृष्टी देवोंको बतलाया है। यद्यपि विशुद्ध नारक भी इन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध कर सकते हैं, किन्तु वे सर्वदा नरकके कष्टोंसे पीड़ित रहते हैं, तथा उन्हें देवोंकी तरह तीर्थङ्करोंकी विभूतिके दर्शन, उनके दिव्य उपदेशका श्रवण, नन्दीश्वरद्वीपके चैत्यालयोंका बन्दन आदि परिणामोंको विशुद्ध करनेवाली सामग्री नहीं मिलती है, अतः उनका ग्रहण नहीं किया है। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्य अति विशुद्ध परिणामोंके होनेपर देवगतिके

योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। किन्तु प्रकृत प्रकृतियां देवगतिके योग्य नहीं हैं अतः सबको छोड़कर देवोंके ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध बतलाया है। देवायुके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका स्वामी अप्रमत्तमुनिको बतलाया है क्योंकि देवायुका बन्धकरनेवाले मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत वगैरहसे वही अतिविशुद्ध होते हैं।

इसप्रकार ४२ पुण्य प्रकृतियोंके और चौदह पाप प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर शेष ६८ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभाग बन्धका स्वामी चारों गतिके संक्लिष्टपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब उनके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंका विचार करते हैं—

थीणतिगं अण मिच्छं मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए॥ ६९॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धि त्रिक, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, इन आठ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख देशविरत गुणस्थानवाला जीव करता है। अरति और शोकका जघन्य अनुभागबन्ध संयमके अभिमुख प्रमत्तमुनि करता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर इस गाथासे जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। पहले बतलाया था कि

---

१ कर्मकाण्ड गा० १६५–१६९ में उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंका निरूपण किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

अशुभप्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे होता है और शुभप्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेश परिणामोंसे होता है। इस गाथामें जिन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध बतलाया है वे सब अशुभ-प्रकृतियां हैं, अतः उनका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे होता है। इसीसे उनके बन्ध करनेवालोंको 'संयमके अभिमुख' बतलाया है। यद्यपि गाथामें **'संजमुम्मुहो'** पद दिया है, जो प्रत्येकके साथ लगाया जाता है और जिसका शब्दार्थ 'संयम अर्थात् संयम धारण करनेके उन्मुख' होता है। अर्थात् जो जीव दूसरे समयमें ही संयम धारण कर लेगा, उसके अपने अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें उक्त प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। तथापि यहां संयमका अर्थ प्रत्येक गुणस्थानवाले के लिये पृथक् पृथक् लिया गया है। जो इस प्रकार है—स्त्यानर्द्धित्रिक[1]

---

१ पञ्चम कर्मग्रन्थकी टीकामें लिखा है-'संजमुम्मुहु'त्ति सम्यक्त्व-संयमाभिमुखः सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सुः......। अप्रत्याख्यानावरण लक्षणस्य...अविरतसम्यग्दृष्टिः...संयमाभिमुखः-देशविरतिसामयिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति। तथा तृतीयकषायचतुष्टयस्य...देशविरतः...संयमोन्मुखः-सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति। तथा...प्रमत्तयतिः संयमोन्मुखः-अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सुः......।' पृ० ७१।

जैन श्रेयस्कर मण्डल म्हेसाणाकी ओर से पञ्चमकर्मग्रन्थका जो गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है, उसमें भी ऐसाही अर्थ किया है। यथा—'ऐ आठ प्रकृति सम्यक्त्व चारित्र पामवाने सन्मुख अेवो मिथ्यात्वी जीव मंदरसे बांधे। ... बीजा अप्रत्याख्यानीयकषाय अविरतसम्यग्दृष्टि पोताना गुणठाणाने अन्त्य समये देशविरति पामवाने सन्मुख थको मंदरसे बांधे। तथा त्रीजा प्रत्याख्यानीय चार कषायनो मंदरस ते देशविरति पोताना गुणठाणाने अंत्य समय वर्तती सर्वविरति पामवाने सन्मुख थको

आदि आठ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यक्त्व संयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयम अर्थात् देशविरत संयमके अभिमुख अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयम अर्थात् महाव्रत धारण करनेके सन्मुख देशविरत गुणस्थानवाला जीव अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। और अरति तथा शोकका जघन्य अनुभाग बन्ध संयम अर्थात् अप्रमत्त संयमके अभिमुख प्रमत्तमुनि अपने गुणस्थानके अन्तमें करता है। सारांश यह है कि जब पहले गुणस्थानवाला जीव चौथे गुणस्थानमें जाता है, चौथे गुणस्थानवाला पांचवें गुणस्थानमें जाता है, पांचवे गुणस्थानवाला और छट्ठे गुणस्थानवाला सातवें गुणस्थानमें जाता है, तो आगे आगेका गुणस्थान प्राप्त करनेके पहले समयमें उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। यहां इतना और भी समझ लेना चाहिये, कि यदि पहले गुणस्थानसे जीव चौथे गुणस्थानमें न जाकर पांचवे या

बांधे। तथा अरति...मन्दरस प्रमत्तसाधु अप्रमत्तपणानी सन्मुख थको बांधे।' पृ० १०९।

इससे स्पष्ट है कि कर्मग्रन्थके टीकाकार ने 'संजमुम्मुहो' का अर्थ प्रत्येकके लिये अलग अलग लिया है। किन्तु कर्मप्रकृति पृ० १९० तथा पञ्चसङ्ग्रह प्रथ० भा०, पृ० २४५ में संयमका अर्थ संयम ही किया है। यथा–'अष्टानां कर्मणां सम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्तुकामो मिथ्यादृष्टिश्चरमसमये जघन्यानुभागबन्धस्वामी, अप्रत्याख्यानावरणकषायाणामविरतसम्यग्दृष्टिः संयमं प्रतिपत्तुकामः, प्रत्याख्यानावरणानां देशविरतः सर्वविरतिप्रतिपित्सुर्जघन्यानुभागबन्धं करोति।'

कर्मकाण्ड गा० १७१ में भी 'संजमुम्मुहो' पद आया है। किन्तु टीकाकार ने संयमका अर्थ संयम ही किया है।

सातवें गुणस्थानमें जावे, इसीतरह चौथे गुणस्थानसे पांचवेमें न जाकर यदि सातवें गुणस्थानमें जावे तो क्या उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होगा ? अवश्य होगा, क्योंकि उक्त प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके लिये विशुद्ध परिणामोंकी आवश्यकता है और उक्त दशामें तो पहलेसे भी अधिक विशुद्ध परिणाम होते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने गाथामें **'संजमुम्मुहो'** पाठ दिया है, जो बतलाता है कि अमुक अमुक गुणस्थानवाले जीव जब संयमके, वह संयम कोईसा भी हो, अभिमुख होते हैं तो उनके उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है ॥

अपमाइ हारगदुगं दुनिद्-असुवन्न-हास-रइ-कुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिस-संजलणे ॥ ७० ॥

अर्थ—आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध अप्रमत्तमुनि करते हैं। दो निद्रा अर्थात् निद्रा और प्रचला, अशुभवर्ण, अशुभगन्ध, अशुभरस, अशुभस्पर्श, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात, इन ग्यारह प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध अपूर्वकरण गुणस्थानवाले जीव करते हैं। तथा, पुरुषवेद और संज्वलन कषायका जघन्य अनुभागबन्ध अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीव करते हैं।

भावार्थ—आहारकद्विक प्रशस्त है, अतः उनका जघन्य अनुभागबन्ध अप्रमत्तमुनि उस समय करते हैं जब वे प्रमत्तगुण स्थानके अभिमुख होते हैं। क्योंकि प्रशस्त प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके लिये संक्लिष्ट परिणामोंका होना आवश्यक है, और अप्रमत्तमुनि जब प्रमत्तदशाके अभिमुख होते हैं तो उस समय उनके परिणाम संक्लिष्ट होते हैं। निद्रा वगैरहका जघन्य अनुभागबन्ध अपूर्वकरणमें और पुरुषवेद वगैरहका जघन्य अनुभागबन्ध अनिवृत्तिकरणमें बतलाया है। ये दोनों गुणस्थान क्षपकश्रेणिके ही लेने चाहियें; क्योंकि निद्रा वगैरह अशुभ प्रकृतियां है और अशुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। तथा उनके बन्धकोंमें क्षपक

अपूर्वकरण और क्षपक अनिवृत्तिकरण वाले जीव ही विशेष विशुद्ध होते हैं। ये जघन्यबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छितिके समयमें ही होते हैं।

विग्घावरणे सुहुमो मणुतिरिया सुहुम-विगलतिग-आऊ।
वेगुव्विछक्कममरा निरया उज्जोय-उरलदुगं ॥ ७१ ॥

अर्थ—पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरणका जघन्य अनुभागबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है। सूक्ष्म आदि तीन, विकलत्रय, चारों आयु और वैक्रियषट्क (वैक्रियशरीर, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी) का जघन्य अनुभागबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। तथा, उद्योत और औदारिकद्विकका जघन्य अनुभागबन्ध देव और नारक करते हैं।

भावार्थ—अन्तराय वगैरहका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्परायनामक दसवें गुणस्थानमें होता है, क्योंकि उनके बन्धकोंमें यही सबसे विशुद्ध है। सूक्ष्मत्रिक आदि सोलह प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी मनुष्य और तिर्यञ्चको बतलाया है। उनमेंसे तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुके सिवाय शेष चौदह प्रकृतियोंको देव और नारक जन्मसे ही नहीं बांधते हैं। तथा, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका जघन्य अनुभागबन्ध जघन्य स्थितिबन्धके साथ ही साथ होता है अर्थात् जो इन दोनों आयुओंका जघन्य स्थितिबन्ध करता है, वही उनका जघन्य अनुभागबन्ध भी करता है। क्योंकि ये दोनों प्रशस्तप्रकृतियां है अतः इनका जघन्य अनुभागबन्ध तो संक्लेश परिणामोंसे होता ही है किन्तु जघन्य स्थितिबन्ध भी संक्लेश परिणामोंसे ही होता है। अतः देव और नारक इनका जघन्यबन्ध नहीं करते, क्योंकि वे जघन्यस्थितिवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न नहीं होते। अतः सोलह प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी मनुष्य और तिर्यञ्चों को बतलाया है।

औदारिकद्विक और उद्योत प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध देव और नारक

करते हैं। किन्तु औदारिक अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्गतकके देव उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, और एकेन्द्रियोंके अङ्गोपाङ्ग नहीं होता है। अतः ईशान स्वर्गतकके देवों के अङ्गोपाङ्ग नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है।

शङ्का–ईशान स्वर्गतकके देव अङ्गोपाङ्गका जघन्य अनुभागबन्ध न करे, तो न करे, किन्तु मनुष्य और तिर्यञ्च इन तीनों प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध क्यों नहीं करते ?

उत्तर–तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंके बन्धके साथ ही इन तीनों प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अर्थात् जो जीव तिर्यञ्चगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करता है वही इनका जघन्य अनुभागबन्ध भी करता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्योंके उतने संक्लिष्ट परिणाम हों, जितने इन प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके लिये आवश्यक हैं, तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। अतः उनके इन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं बतलाया है ॥

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरय-विणिग-थावरयं।
आसुहुमायव संमो व साय-थिर-सुभ-जसा सिअरा ॥७२॥

अर्थ–तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और नीचगोत्रका जघन्य अनुभागबन्ध सातवें नरकके नारक करते हैं। तीर्थंकरनाम कर्मका जघन्यअनुभागबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगतिके सिवाय शेष तीनों गतिके जीव करते हैं। आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध सौधर्म स्वर्ग तकके देव करते हैं। सातवेदनीय, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, और उनके प्रतिपक्षी–असातवेदनीय, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—तिर्यञ्चगति आदि तीन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध सामान्यसे सातवें नरकमें बतलाया है। विशेष से, सातवें नरकका कोई नारक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जब यथाप्रवृत्त आदि तीन कारणोंको करता हुआ अन्तके अनिवृत्तिकरणको करता है; तो वहाँ अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें उक्त तीनों प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करता है। ये तीनों प्रकृतियां अशुभ हैं अत: सर्वविशुद्ध जीव ही उनका जघन्य अनुभागबन्ध करता है। और उनके बन्धकोंमें सातवें नरकका उक्त नारक ही विशेष विशुद्ध है। इस प्रकारकी विशुद्धिके होनेपर दूसरे जीव मनुष्यद्विक वगैरह और उच्चगोत्रका ही बन्ध करते हैं, अत: यहाँ सप्तम पृथिवीके नारकका ही ग्रहण किया है।

तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध सामान्यसे अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके बतलाया है। विशेष से, बद्धनरकायु अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक में उत्पन्न होनेके लिये जब मिथ्यात्वके अभिमुख होता है, तब वह तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध करता है; क्योंकि यह प्रकृति शुभ है। सारांश यह है कि तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। किन्तु शुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेशसे होता है और वह संक्लेश तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धकोंमें मिथ्यात्वके अभिमुख अविरतसम्यग्दृष्टिके ही होता है, अत: उसीका ग्रहण किया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता, अत: यहां मनुष्यका ग्रहण किया है। जिस मनुष्यने तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करनेसे पहले नरककी आयु नहीं बांधी है, वह मरकर नरकमें नहीं जाता, अत: बद्धनरकायुका ग्रहण किया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणिक राजाकी तरह सम्यक्त्वसहित मरकर नरकमें उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु वे विशुद्ध होते हैं अत: तीर्थङ्कर-प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं कर सकते। इसलिये उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगति-के सिवाय शेष तीन गतियोंके परावर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव करते हैं। ये दोनों प्रकृतियां अशुभ हैं, अतः अतिसंक्लिष्ट जीव उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, और अतिविशुद्ध जीव इनको छोड़कर पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामकर्मका बन्ध करता है। इसलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें एकेन्द्रियजाति और स्थावर नाम-का बंध करके जब दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें भी उन्हीं प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब भी यह मध्यम परिणाम रहता है। किन्तु उस समय उस अवस्थित परिणाममें उतनी विशुद्धि नहीं रहती है, अतः परावर्तमान मध्यम परिणाम-का ग्रहण किया है। सारांश यह है कि जब एकेन्द्रिय जाति और स्थावर-नामका बन्ध करके पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामका बन्ध करता है और उनका बन्ध करके पुनः एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामका बन्ध करता है, तब इसप्रकारका परिवर्तन करके बन्ध करनेवाला परावर्तमान मध्यमपरिणा-मवाला जीव अपने योग्य विशुद्धिके होनेपर उक्त दो प्रकृतियोंका जघन्य अनुभाग बन्ध करता है।

आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गतकके देवोंके बत-लाया है। गाथामें यद्यपि **'आसुहुम'** पाठ है और उसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्गतक' होता है, तथापि सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणीमें वर्तमान हैं अतः सौधर्मके ग्रहणसे ईशानका भी ग्रहण किया गया है। क्योंकि भवन-पतिसे लेकर ईशान स्वर्गतकके देव आतपप्रकृतिके बन्धकोंमें विशेष संक्लिष्ट होते हैं, अतः एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते समय वे आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः संक्लिष्ट जीवोंके ही उसका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। तथा, इतने संक्लिष्ट परिणाम यदि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होते हैं तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। और नारक तथा सानत्कुमार आदि

स्वर्गोंके देव जन्मसे ही इस प्रकृतिका बन्ध नहीं करते हैं। अतः सबको छोड़कर ईशान स्वर्गतकके देवोंको ही उसका बन्धक बतलाया है।

सातवेदनीय आदि आठ प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होते हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है—प्रमत्तमुनि एक अन्तर्मुहूर्ततक असातवेदनीयकी अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद वह सातवेदनीयका बन्ध करता है, पुनः असातवेदनीयका बन्ध करता है। इसीप्रकार देशविरत,अविरतसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सास्वादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साता का बन्ध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साताका बन्ध तबतक करता है, जबतक सातवेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागर होती है। उसके बाद और भी संक्लिष्ट परिणाम होनेपर केवल असाताका ही तब तक बन्ध करता है जबतक उसकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रमत्तसे ऊपर अप्रमत्त आदि गुणस्थानवाले जीव केवल सातवेदनीयका ही बन्ध करते हैं। इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि सातवेदनीयके जघन्य अनुभागबन्धके योग्य परावर्तमान मध्यमपरिणाम सातवेदनीयकी पन्द्रह कोटीकोटी सागर स्थितिबन्धसे लेकर छट्ठे गुणस्थानमें असातवेदनीयके अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध तक पाये जाते हैं। सारांश यह है कि परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते हैं जबतक प्रतिपक्षी प्रकृतिका बन्ध होता है। अतः जबतक साताके साथ असाताका भी बन्ध संभव है तभीतक परावर्तमान परिणाम होते हैं। किन्तु सातवेद-नीयके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर आगे जो परिणाम होते हैं वे इतने संक्लिष्ट होते हैं कि उनसे असातवेदनीयका ही बन्ध हो सकता है। तथा छट्ठे गुणस्थानके अन्तमें असातवेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेके

कारण उसके आगे विशुद्धिसे केवल सातवेदनीयका ही बन्ध होता है। अतः दोनोंके बीचमें ही इसप्रकारके परिणाम होते हैं जिनसे उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। इसीलिये सातवेदनीय और असातवेदनीयके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और स्थिर, शुभ और यशःकीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोटीकोटी सागर बतलाई है। प्रमत्तमुनि अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिकी अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिको बांधता है। फिर विशुद्धिकी वजहसे उनकी प्रतिपक्षी स्थिरादिक प्रकृतियोंका बन्ध करता है। उसके बाद पुनः अस्थिरादिकका बन्ध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिथ्यादृष्टि जीव स्थिरादिकके बाद अस्थिरादिकका और अस्थिरादिकके बाद स्थिरादिकका बंध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियोंका उक्त प्रकारसे तबतक बंध करता है जबतक स्थिरादिकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके योग्य इन स्थितिबन्धोंमें ही उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें स्थिरादिकके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके पश्चात् तो अस्थिरादिकका ही बन्ध होता है और अप्रमत्तादिक गुणस्थानोंमें स्थिरादिकका ही बन्ध होता है। पहलेमें संक्लेश परिणामोंकी अधिकता है और दूसरेमें विशुद्ध परिणामोंकी अधिकता है। अतः दोनों हीमें रसबन्ध अधिक मात्रामें होता है। इसलिये इन दोनोंके सिवाय ऊपर बतलाये गये शेष स्थानोंमें ही उक्त प्रकृतियों का जघन्य रसबन्ध होता है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंका विवरण जानना चाहिये।

तस-वन्न-तेयचउ-मणु-खगइदुग-पणिंदि-सास-परघु-च्चं ।
संघयणा-गिइ-नपु-त्थी-सुभगियरति मिच्छ चउगइया॥७३॥

अर्थ—त्रस आदिक चार, वर्ण आदिक चार, तैजस आदि चार, मनुष्यद्विक, दोनों विहायोगति, पञ्चेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, छह संहनन, छह संस्थान, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सुभग आदि तीन और उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदि तीन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध चारोंगतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें त्रसचतुष्क आदि बयालीस प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है। जिनमेंसे त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभवर्ण, शुभरस, शुभगन्ध, शुभ-स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, पञ्चेन्द्रियजाति, उच्छ्वास और पराघात, इन पन्द्रह प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध चारों गतिके उत्कृष्ट संक्लेशवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। ये प्रकृतियां शुभ हैं अतः उत्कृष्ट संक्लेशसे उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। चारों गतिके मिथ्या-दृष्टियोंमेंसे तिर्यञ्च और मनुष्य उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर नरकगतिके साथ उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। अर्थात् जिस समय उनके इतने संक्लिष्ट परिणाम होते हैं कि उनकी वजहसे वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं उसी समय उनके उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। नारक और ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव संक्लेशके होनेपर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्यायके योग्य उक्त प्रकृतियोंको बांधते हुए उनका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं, और ईशान स्वर्गतकके देव पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसको छोड़कर शेष तेरह प्रकृतियोंको एकेन्द्रिय जीवके योग्य बांधते हुए उनका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। अर्थात् नारक और ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चकायमें जन्म लेनेके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हुए उसके ही योग्य उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं, और ईशान स्वर्गतकके देव एकेन्द्रिय पर्यायमें

जन्म लेनेके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हुए उसके ही योग्य उक्त प्रकृतियों-का जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनाम कर्मका बन्ध ईशान स्वर्गतकके देवोंके विशुद्ध दशामें ही होता है, अतः उनके इन दोनों प्रकृतियोंका जघन्य रसबन्ध नहीं होता। इसीसे इन दोनोंको छोड़ दिया है।

स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि ये प्रकृतियां अशुभ हैं। मनुष्यद्विक, छह संहनन, छह संस्थान, विहायोगतिका युगल, सुभग, सुस्वर, आदेय, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और उच्चगोत्रका जघन्य अनुभागबन्ध चारों गतिके मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके इनका जघन्य अनुभागबन्ध नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च और सम्यग्दृष्टि-मनुष्य देवद्विकका ही बन्ध करते हैं—मनुष्यादिद्विकका बन्ध नहीं करते, संस्थानोंमेंसे समचतुरस्र संस्थानका ही बन्ध करते हैं। संहननका बन्ध ही नहीं करते हैं। तथा शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्चगोत्र का ही बन्ध करते हैं, उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदिका बन्ध नहीं करते। और सम्यग्दृष्टि देव और सम्यग्दृष्टि नारक भी मनुष्यद्विकका ही बन्ध करते हैं—तिर्यञ्चद्विक वगैरहका बन्ध नहीं करते। संस्थानोंमेंसे समचतुरस्र संस्थान का और संहननोंमेंसे वज्रऋषभनाराचसंहननका बन्ध करते हैं। विहायो-गति वगैरह भी शुभ ही बांधते हैं। अतः उनके प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। और उनका बन्ध न होनेसे परिणामोंमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन न होनेसे परिणाम विशुद्ध बने रहते हैं अतः प्रशस्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबंध नहीं होता है। इसीसे सम्यग्दृष्टिका ग्रहण न करके मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई बयालीस प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबंधके स्वामियोंको जानना चाहिये।[1]

---

१ कर्मकाण्डमें गा० १७० से १७७ तक जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियों को गिनाया है। जिसमें कर्मग्रन्थसे कोई अन्तर नहीं है।

जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें अनुभागबन्धके भङ्गोंका विचार करते हैं—

[1]चउतेय-वन्न-वेयणिय-नामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥
सेसंमि दुहा

अर्थ—तैजस आदि चार, वर्ण आदि चार, वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकारका होता है। शेष ध्रुवबन्धी प्रकृतियोंका और घातिकर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध भी सादि आदि चार प्रकारका होता है। गोत्रकर्मका अनुत्कृष्ट और अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेषबन्ध और शेषप्रकृतियोंके सभी बन्ध दो ही प्रकारके होते हैं।

भावार्थ—कर्मोंकी सबसे कम अनुभाग शक्तिको सर्वजघन्य कहते हैं, और सर्वजघन्य अनुभागशक्तिसे ऊपरके एक अविभागी अंशको आदि लेकर सबसे उत्कृष्ट अनुभाग तकके भेदोंको अजघन्य कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदमें अनुभागके अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं। तथा, सबसे अधिक अनुभाग शक्तिको उत्कृष्ट कहते हैं। और उसमेंसे एक अविभागी अंश कम शक्तिसे लेकर सर्वजघन्य अनुभाग तकके भेदोंको अनुत्कृष्ट कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदमें भी अनुभाग शक्तिके समस्त भेद गर्भित होजाते हैं। उदाहरणके लिये, यदि सर्वजघन्य अनुभागका प्रमाण ८ और सबसे उत्कृष्ट अनुभागका प्रमाण १६ कल्पना किया जाये, तो ८ को सर्वजघन्य कहेंगे और आठसे ऊपर नौसे लेकर १६ तकके भेदोंको अजघन्य कहेंगे। इसी तरह १६ को उत्कृष्ट कहेंगे और १६

---

१ पञ्चसङ्ग्रह गा० २७२-२७३ में भी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्धोंके विकल्प इसी प्रकार बताए हैं।

से एक कम १५ से लेकर ८ तकके भेदोंको अनुत्कृष्ट कहेंगे।

इस गाथामें मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें इन भेदोंका विचार उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भङ्गोंके साथ किया है। एकही गाथामें मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें विचार किया है, जो अक्रमबद्धसा जान पड़ता है। किन्तु संक्षेपमें वर्णन करनेके विचारसे ही ऐसा किया गया है। गाथामें बतलाये गये भेदोंका खुलासा निम्नप्रकार है—तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस और शुभस्पर्श, इन आठ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य तीस प्रकृतियोंके बन्धविच्छेदके समय होता है। इसके सिवाय अन्य स्थानोंमें, यहांतक कि उपशमश्रेणिमें भी, उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध ही होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध बिल्कुल नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर जब कोई जीव उक्त प्रकृतियोंका पुनः अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहा जाता है। इस अवस्थाको प्राप्त होनेसे पहले उनका बन्ध अनादि कहाता है, क्योंकि उस जीवके वह बन्ध अनादिकालसे होता चला आता है। भव्य जीवका बन्ध अध्रुव और अभव्य जीवका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्कका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थानमें बतला आये हैं। वह बन्ध इससे पहले नहीं होता है, अतः सादि है, और एक समयतक होकर आगे नहीं होता है, अतः अध्रुव है। ये प्रकृतियां शुभ हैं अतः इनका जघन्य अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवही करता है। और कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक दो समयके बाद वही जीव उनका अजघन्य अनुभागबन्ध करता

है। कालान्तरमें उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर वह उनका पुनः जघन्य अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध भी सादि और अध्रुव ही होते हैं।

वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी चार प्रकारका होता है, जो इस प्रकार है—वेदनीय कर्मकी साता और नामकर्मकी यशःकीर्ति प्रकृतिकी अपेक्षासे इन दोनों कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है; क्योंकि इस गुणस्थानमें उक्त दोनों कर्मोंकी उक्त दो ही प्रकृतियाँ बंधती हैं। इसके सिवाय अन्य सभी स्थानोंमें वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, वह सादि है। उससे पहले वह अनादि है। भव्य जीवका बन्ध अध्रुव और अभव्य जीवका बन्ध ध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नामकर्मके अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके चार भङ्ग होते हैं। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बन्धके दो ही विकल्प होते हैं; क्योंकि वेदनीय और नामकर्मका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें बतला आये हैं। इससे पहले किसी भी गुणस्थानमें वह बन्ध नहीं होता है, अतः सादि है। और बारहवें आदि गुणस्थानोंमें तो नियमसे नहीं होता है अतः अध्रुव है। तथा, इन कर्मोंका जघन्य अनुभागबन्ध मध्यम परिणामवाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह जघन्य अनुभागबन्ध अजघन्यबन्धके बाद होता है, अतः सादि है। तथा कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक चार समय तक जघन्यबन्ध होनेके पश्चात पुनः अजघन्य बन्ध होता है, अतः जघन्य बन्ध अध्रुव है और अजघन्यबन्ध सादि है। उसके बाद उसी भवमें या किसी दूसरे भवमें पुनः जघन्यबन्धके होनेपर अजघन्यबन्ध अध्रुव होता है इस प्रकार शेष तीनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं।

तैजस चतुष्कके सिवाय शेष ध्रुवबन्धि प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। जो इस प्रकार है—पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायका जघन्य अनुभागबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें होता है। अन्य स्थानोंमें उनका अजघन्य अनुभागबन्ध ही होता है क्योंकि ये प्रकृतियां अशुभ हैं। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका बन्ध ही नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर जो अनुभागबन्ध होता है वह सादि है, उससे पहले वह बन्ध अनादि है, भव्यका बन्ध अध्रुव है और अभव्यका बन्ध ध्रुव है। संज्वलन चतुष्कका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समय होता है; क्योंकि यह अशुभ प्रकृति है। इसके सिवा अन्य सब जगह अजघन्यबन्ध होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता है, अतः वहाँ से च्युत होकर जो अजघन्यबन्ध होता है वह सादि है, इससे पहले अनादि है, भव्यका बन्ध अध्रुव है और अभव्यका बन्ध ध्रुव है।

निद्रा, प्रचला अशुभवर्ण, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श, उपघात, भय और जुगुप्साका क्षपक अपूर्वकरणमें अपने अपने बन्धविच्छेदके समयमें एक एक समय तक जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अन्य सब स्थानोंमें उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। उपशम श्रेणिमें बन्धव्युच्छित्ति करके वहाँ से गिरकर जब पुनः उन्हींका अजघन्य बन्ध होता है तो वह बन्ध सादि है। बन्धव्युच्छित्तिसे पहले उनका वह बन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयमकी प्राप्तिके अभिमुख देशविरत अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। उससे पहले उसका जो बन्ध होता है वह अजघन्यबन्ध है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध क्षायिक सम्यक्त्व और संयमको एकसाथ प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्त विशुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थानके

अन्त समयमें करता है। इसके सिवाय शेष सर्वत्र उसका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। स्त्यानर्द्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यक्त्व और संयमको एकसाथ प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्तविशुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें करता है। इसके सिवाय शेष सर्वत्र उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ये देशविरत वगैरह अपनी अपनी उक्त प्रकृतियोंके बन्धकोंमें अत्यन्तविशुद्ध होते हैं, इसलिये उन उन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। उसके बाद संयम वगैरहको प्राप्त करके, वहाँसे गिरकर जब पुनः उनका अजघन्यानुभागबन्ध करते हैं तब यह बन्ध सादि होता है। उससे पहलेका अजघन्यबन्ध अनादि होता है। अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है और भव्यका बन्ध अध्रुव होता है। इस प्रकार तेतालीस ध्रुव प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके दो दो ही प्रकार होते हैं। जो इस प्रकार हैं—४३ प्रकृतियोंके अजघन्य अनुभागबन्धका विचार करते समय सूक्ष्मसाम्पराय आदि गुणस्थानोंमें उनका जघन्य अनुभागबन्ध बतला आये हैं। वह जघन्य अनुभागबन्ध उन उन गुणस्थानोंमें पहली बार होता है अतः सादि है। बारहवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होता है अतः अध्रुव है। तथा, इन तेंतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव एक अथवा दो समयतक करता है। उसके बाद पुनः अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। कालान्तरमें उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर पुनः उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धमें सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। इस प्रकार ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंके अजघन्य आदि चारों भेदोंमें सादि वगैरह भङ्गों का विचार जानना चाहिये।

शेष ७३ अध्रुवबन्धिप्रकृतियोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि अध्रुव-बन्धी होनेके कारण इन प्रकृतियोंका बन्ध सादि और अध्रुव ही होता है, अतः उनका जघन्यादिरूप अनुभागबन्ध भी सादि और अध्रुव ही होता है।

घातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। जो इस प्रकार है—अशुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध वही जीव करता है जो उनके बन्धकोंमें सबसे विशुद्ध होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय अशुभ हैं, अतः उनका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्त समयमें होता है। मोहनीयकर्मका बन्ध नवें गुणस्थान तक होता है, अतः क्षपक अनिवृत्ति-बादर गुणस्थानके अन्तमें उसका जघन्य अनुभागबन्ध होता है, क्योंकि मोहनीयके बन्धकोंमें यही सबसे विशुद्ध स्थान है। इन गुणस्थानोंके सिवाय शेष सभी स्थानोंमें उक्त चारों कर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ग्यारहवें और दसवें गुणस्थानमें उक्त चारों कर्मोंका बन्ध न करके, वहाँसे गिरकर जब पुनः उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है, तब वह बन्ध सादि है। जो जीव नवें दसवें आदि गुणस्थानोंमें कभी नहीं आये हैं, उनका अजघन्य बन्ध अनादि है, क्योंकि अनादिकालसे उसका विच्छेद नहीं हुआ है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है। इस प्रकार घातिकर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है, और शेष तीन-जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं, जो इसप्रकार हैं—

पहले बतला आये हैं कि मोहनीयका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें होता है और शेष तीन कर्मोंका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है।

यह बन्ध इससे पहले नहीं होता है अर्थात् प्रथम बार होता है, अतःसादि है। और बारहवें आदि गुणस्थानोंमें जानेपर नियमसे नहीं होता है, अतः अध्रुव है। यह बन्ध अनादि नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त गुणस्थानोंमें आनेसे पहले कभी भी नहीं होता है। और अभव्यके नहीं होता है, अतः ध्रुव भी नहीं है। तथा, प्रस्तुत कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश-वाला पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव एक अथवा दो समय तक करता है। अनुत्कृष्टबन्धके बाद उत्कृष्टबन्ध होता है, अतः वह सादि है। उसके एक अथवा दो समयके बाद पुनः अनुत्कृष्टबन्ध होता है, अतः उत्कृष्ट बन्ध अध्रुव है और अनुत्कृष्टबन्ध सादि है। तथा, कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बाद उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर पुनः उत्कृष्टबन्ध होता है, अतः अनुत्कृष्टबन्ध अध्रुव है। इसप्रकार जीवके उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध बदलते रहते हैं अतः दोनों सादि और अध्रुव होते हैं।

गोत्रकर्ममें अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, जघन्य और उत्कृष्ट अनुभागबन्ध दो प्रकारका होता है। उनमें से उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके प्रकार वेदनीय और नामकर्मके प्रकारोंकी तरह समझ लेने चाहियें। यहां जघन्य और अजघन्य बन्धका विचार करते हैं। सातवें नरकका कोई नारक, सम्यक्त्वके अभिमुख होता हुआ, यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करता है। उनमेंसे अन्तके अनिवृत्तिकरणमें वह मिथ्यात्वका अन्तरकरण करता है। उस अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग हो जाते हैं—एक नीचेकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति और दूसरा शेष ऊपरको स्थिति। नीचेकी स्थितिका अनुभवन करते हुए अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिके अन्तिम समयमें नीचगोत्रकी अपेक्षा से गोत्रकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अन्य स्थानमें यदि इतनी विशुद्धि होती तो उससे उच्चगोत्रका अजघन्य अनुभागबन्ध होता।

इसकारणसे सप्तम नरकके नारकका ही ग्रहण किया है, क्योंकि सातवें नरकमें मिथ्यात्वदशामें नीचगोत्रका ही बन्ध बतलाया है। तथा, जो नारक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वके अभिमुख नहीं हैं उसके नीचगोत्रका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उच्चगोत्रका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। अतः सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। नीचगोत्रका यह जघन्य अनुभागबन्ध अन्यत्र संभव नहीं है और उसी अवस्थामें पहले पहल होता है, अतः सादि है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर वही जीव उच्चगोत्रकी अपेक्षासे गोत्रकर्मका अजघन्य अनुभागबन्ध करता है, अतः जघन्य अनुभागबन्ध अध्रुव है और अजघन्य अनुभागबन्ध सादि है। इससे पहले जो अजघन्य अनुभागबन्ध होता है वह अनादि है। अभव्यका अजघन्यबन्ध ध्रुव है और भव्यका अजघन्यबन्ध अध्रुव है। इसप्रकार गोत्रकर्मके जघन्य अनुभागबन्धके दो और अजघन्य अनुभागबन्धके चार विकल्प होते हैं।

तथा, अवशिष्ट आयुकर्मके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनु-[1] भागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं; क्योंकि भुज्यमान आयुके त्रिभाग वगैरह नियतकालमें ही आयुकर्मका बन्ध होता है अतः उसका जघन्यादि रूप अनुभागबन्ध भी सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद वह बंध अवश्य रुक जाता है, अतः बंधके अध्रुव होनेके कारण उसका

---

१ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें अनुभागबन्धके जघन्य अजघन्य आदि प्रकारोंमें सादि वगैरहका विचार दो गाथाओंमें किया है–एकमें मूलप्रकृतियों की अपेक्षासे और दूसरीमें उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षासे। किन्तु कर्मग्रन्थसे उसमें कोई अन्तर नहीं है। देखो–गा० १७८-१७९।

कर्मप्रकृतिके बन्धप्ररूपणा नामक अधिकारकी ६७ वीं गाथाकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीकामें भी अनुभागबन्धमें सादि-अनादि भंगोका विवेचन किया है, जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

जघन्यादिरूप अनुभागबन्ध भी अध्रुव ही होता है। सारांश यह है कि जब आयुकर्मका बंध ही सादि और अध्रुव होता है,तब उसीके भेद जघन्यादि अनुभागबन्ध तो सादि और अध्रुव होने ही चाहियें। इसप्रकार अनुभागबन्धकी अपेक्षासे मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतियोंमें भङ्गोंका विचार जानना चाहिये।
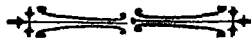
२०. प्रदेशबन्धद्वार

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हैं। पुद्गलके एक परमाणुको एक प्रदेश कहते हैं। अत: जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, परमाणुके द्वारा उन पुद्गलस्कन्धोंका परिमाण आँका जाता है कि अमुक समयमें इतने परमाणुवाले पुद्गलस्कन्ध अमुक जीवके कर्मरूप परिणत हुए हैं, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं, उन्हें कर्मवर्गणास्कन्ध कहते हैं। बात यह है कि यह लोक पुद्गलकायसे खूब ठसाठस भरा हुआ है, और वह पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है। उन्हीं अनेक वर्गणाओंमेंसे एक कर्मवर्गणा भी है। ये कर्मवर्गणाएँ ही जीवके योग और कषायरूप भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती हैं। अत: प्रदेशबन्धका स्वरूप समझानेके लिये कर्मवर्गणाका स्वरूप बतलाना आवश्यक है। किन्तु कर्मवर्गणाका स्वरूप तभी जाना जासकता है जब उसके पूर्वकी औदारिक आदि वर्गणाओंका भी स्वरूप बतलाया जावे, अत: बाकीकी वर्गणाओंका स्वरूप भी कहना ही चाहिये। वे शेष औदारिक आदि वर्गणाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक ग्रहणयोग्य और एक अग्रहणयोग्य। अत: अग्रहण वर्गणाको आदि लेकर कर्मवर्गणा पर्यन्त वर्गणाओंका निरूपण करते हैं—

..........इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥

अर्थ—एकाणुक, द्व्यणुक आदिको लेकर एक एक परमाणुकी वृद्धि होते होते अभव्यराशिसे अनन्तगुणे परमाणुओंसे जो स्कन्ध तैयार होते हैं, वे औदारिक शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणाएँ होती हैं। उन ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ निष्पन्न होती हैं। ग्रहणवर्गणा अग्रहणवर्गणासे अन्तरित है। अर्थात् ग्रहणवर्गणाके बाद अग्रहणवर्गणा और अग्रहण वर्गणाके बाद ग्रहणवर्गणा आती है।

भावार्थ—समानजातीय पुद्गलोंके समूहको वर्गणा[1] कहते हैं। जैसे समस्त लोकाकाशमें जो कुछ एकाकी परमाणु पाये जाते हैं उन्हें पहली वर्गणा कहते हैं। दो परमाणुओंके मेलसे जो स्कन्ध बनते हैं, उन्हें दूसरी वर्गणा कहते हैं। तीन परमाणुओंके मेलसे जो स्कन्ध बनते हैं, उन्हें तीसरी वर्गणा कहते हैं। इसप्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते संख्यातप्रदेशी स्कन्धोंको संख्याताणु वर्गणा, असंख्यातप्रदेशी स्कन्धोंको असंख्याताणु-वर्गणा, अनन्तप्रदेशी स्कन्धोंको अनन्ताणुवर्गणा, अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्धों को अनन्तानन्ताणुवर्गणा जानना चाहिये। ये सभी वर्गणाएँ अल्प परमाणु-वाली होनेके कारण जीवके द्वारा ग्रहण नहीं कीजातीं, इसलिये इन्हें अग्रहण

---

१ "एगा परमाणूणं एगुत्तरवड्ढिया तओ कमसो ।
संखेज्जपएसाणं संखेज्जा वग्गणा होंति ॥ ६३६ ॥
तत्तो संखाईआ संखाइयप्पएसमाणाणं ।
तत्तो पुणो अणंताणंतपएसाण गंतूणं ॥ ६३७ ॥
ओरालियस्स गहणप्पाओग्गा वग्गणा अणंताओ ।
अग्गहणप्पाओग्गा तस्सेव तओ अणंताओ ॥ ६३८ ॥
एवमजोग्गा जोग्गा पुणो अजोग्गा य वग्गणाणंता ।" विशे० भा० ।

वर्गणा कहते हैं। किन्तु अभव्यजीवोंकी राशिसे अनन्तगुणे और सिद्ध जीवोंकी राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओंसे जो स्कन्ध बनते हैं, अर्थात् जिन स्कन्धोंमें इतने इतने परमाणु होते हैं, वे स्कन्ध जीवके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके अपने औदारिक शरीर-रूप परिणमाता है। इसलिये उन स्कन्धोंको औदारिक वर्गणा कहते हैं। किन्तु औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणाओंमें यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, इसके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं आदि अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक परमाणुवाली औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस अनन्तवें भागमें अनन्त परमाणु होते हैं, अतः जघन्य वर्गणासे लेकर उत्कृष्ट वर्गणापर्यन्त अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जाननी चाहियें।

औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणासे ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी जो वर्गणाएं होती हैं, वे वर्गणाएं एक तो औदारिक शरीरकी अपेक्षासे अधिक प्रदेशवाली होती है, दूसरे सूक्ष्म भी होती हैं, अतः औदारिकके ग्रहण योग्य नहीं होतीं। तथा जिन स्कन्धोंसे वैक्रिय शरीर बनता है उन स्कन्धोंकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल होती हैं, अतः वैक्रिय-शरीरके भी ग्रहणयोग्य नहीं होतीं। इसप्रकार औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणाके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएं अग्रहण योग्य होती हैं। जैसे, औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे उसीकी उत्कृष्टवर्गणा अनन्तवें भाग अधिक है। उसीप्रकार अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणासे अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी (अनन्तगुणे अधिक परमाणुवाली) जाननी चाहिये। इस गुणाकारका प्रमाण अभव्यराशिसे अनन्तगुणा और सिद्धराशिका अनन्तवांभाग है। इस उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य

वर्गणासे ऊपर पुनः ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है जिसका वर्णन आगेकी गाथामें किया जायेगा। इसप्रकार ग्रहणयोग्य वर्गणाएं अग्रहणयोग्य वर्गणाओंसे अन्तरित हैं। अर्थात् ग्रहणयोग्य वर्गणाके बाद अग्रहणयोग्य वर्गणा और अग्रहणयोग्य वर्गणाके बाद ग्रहणयोग्य वर्गणा आती है।

एमेव विउव्वा-हार-तेय-भासा-णुपाण-मण-कम्मे।[1]
सुहुमा कमावगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

अर्थ—औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा और अग्रहणयोग्य वर्गणा की ही तरह वैक्रिय शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक-शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसशरीरके ग्रहण योग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषा प्रायोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, श्वासोच्छ्वास ग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा, अग्रहणयोग्य वर्गणा, और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा होती हैं। ये वर्गणाएं क्रमसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून न्यून अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ—इससे पहली गाथामें औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा का और उसके अग्रहणयोग्य वर्गणाका स्वरूप बतला आये हैं। यहां उसके बादकी कुछ वर्गणाओंका निर्देश करके उनका स्वरूप भी पूर्व वर्गणाओंकी ही तरह बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

औदारिक शरीरके अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे एक अधिक परमाणु जिन स्कन्धोंमें पाये जाते हैं उन

१ **पञ्चसंग्रह** की निम्नगाथासे तुलना कीजिये—
ओरालविउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे।
अह दव्ववग्गणाणं कमो विवज्जासओ खेत्ते ॥१५॥ (बन्धन करण)
आवश्यकनिर्युक्तिमें भी यह गाथा मौजूद है, गा० नं० ३९ है।

स्कन्धोंका समूहरूप वर्गणा वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंसे एक अधिक प्रदेश जिस जिस स्कन्धमें पाया जाता है उनका समूहरूप दूसरी वर्गणा वैक्रियशरीरके ग्रहण-योग्य वर्गणा होती है। इसीप्रकार एक एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएं वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे उसके अनन्तवेंभाग अधिक वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। वैक्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा-से एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है, वह वैक्रियशरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती है, और आहारकशरीरकी अपेक्षासे कम प्रदेशवाली और स्थूल होती है। अतः वह न तो वैक्रियशरीर-के कामकी होती है और न आहारक शरीरके कामकी होती है, इसलिये उसे अग्रहणयोग्य वर्गणा कहते हैं। यह जघन्य वर्गणा है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते स्कन्धोंकी अनंत वर्गणाएँ अग्रहणयोग्य हैं। अग्रहण-योग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है, वह आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धों-की अग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशोंकी वृद्धि होनेपर अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार वे अनन्तवर्गणाएँ आहारक शरीरकी अपेक्षासे बहुप्रदेशवाली और सूक्ष्म हैं, तथा तैजस शरीरकी अपेक्षासे अल्प प्रदेश-वाली और स्थूल हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा तैजस शरीरके प्रायोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते तैजसशरीरप्रायोग्य

जघन्य वर्गणाके अनन्तवेंभाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

तैजस शरीरके ग्रहण योग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणासे अनन्तगुणे अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार ये अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तैजस शरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती हैं और भाषाकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल होती हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी जो वर्गणा होती है वह भाषाप्रायोग्य जघन्यवर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके अनन्तवेंभाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी भाषाप्रायोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। इस प्रकार अनन्त वर्गणाएं भाषाके ग्रहणयोग्य होती हैं।

भाषाके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस वर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य जघन्यवर्गणा होती है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धोंकी श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके स्कन्धोंके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। उस वर्गणाके स्कन्धोंसे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती

है । जघन्य वर्गणाके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंको मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है ।

मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके स्कन्धके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्कन्धोंकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है । इस उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धके प्रदेशों-से एक प्रदेश अधिक स्कन्धोंकी वर्गणा कर्मग्रहणके योग्य जघन्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके अनन्तवें भाग अधिक प्रदेशवाले स्कन्धोंकी कर्मग्रहणके योग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है । सारांश यह है, कि सजातीय पुद्गल स्कन्धोंके समूहको वर्गणा कहते हैं । अतः जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण योग्य वर्गणाके एक स्कन्धमें होते हैं । और जघन्य ग्रहणयोग्य एक वर्गणाके स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनके अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाके स्कन्धोंमें होते हैं ।

इस प्रकार आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहण योग्य होती हैं । इन सोलह वर्गणाओंमेंसे प्रत्येकके जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विकल्प होते हैं, और जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त अनन्त मध्यम विकल्प होते हैं । ग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तवें भाग अधिक होता है और अग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तगुणा होता है । ग्रहण योग्य वर्गणाएं आठ बतलाई हैं—औदारिकके ग्रहणयोग्य, वैक्रियके ग्रहण-योग्य, आहारकके ग्रहणयोग्य, तैजसके ग्रहणयोग्य, भाषाके ग्रहणयोग्य, श्वासोछ्वासके ग्रहणयोग्य, मनके ग्रहणयोग्य और कर्मके ग्रहणयोग्य । मनुष्य और तिर्यञ्चोंके स्थूल शरीरको औदारिक कहते हैं । जिन पुद्गलवर्गणाओं से यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ औदारिकके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं ।

देव और नारकोंके शरीरको वैक्रिय कहते हैं। जिन वर्गणाओंसे यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ वैक्रियके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। जो शरीर चौदह पूर्वके पाठी मुनिके द्वारा ही रचा जा सके, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जो शरीर भोजनके पचानेमें हेतु और दीप्तिका निमित्त हो उसे तैजस शरीर कहते हैं। बातचीतको भाषा कहते हैं। बाहरकी वायुको शरीरके अन्दर ले जाना और अन्दरकी वायु-को बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहाजाता है। विचार करनेके साधनको मन कहते हैं। कर्मोके पिण्डको कर्मशरीर कहते हैं। तत्वार्थसूत्रके द्वितीय अध्यायमें शरीरोंका वर्णन करते हुए उन्हें उत्तरोत्तर सूक्ष्म[1] बतलाया है। अर्थात् औदारिकसे वैक्रिय सूक्ष्म होता है, वैक्रियसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण सूक्ष्म होता है। ये शरीर यद्यपि उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं तथापि उनके निर्माणमें अधिक अधिक परमाणुओंका उपयोग होता है। सारांश यह है कि जैसे रुई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर और लोहा अमुक परिमाणमें लेनेपर भी रुईसे लकड़ीका आकार छोटा होगा, लकड़ीसे मिट्टी का आकार छोटा होगा, मिट्टीसे पत्थरका और पत्थरसे लोहेका। किन्तु आकारमें छोटे होनेपर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती हैं, इसी तरह औदारिक वगैरह शरीरोंके बारेमें भी समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि औदारिक शरीर जिन पुद्गलवर्गणाओंसे बनता है, वे रुई की तरह अल्प परमाणुवाली किन्तु आकारमें स्थूल हैं, और वैक्रियशरीर जिन पुद्गलवर्गणाओंसे बनता है वे लकड़ीकी तरह औदारिक योग्य वर्गणाओंसे अधिक परमाणुवाली किन्तु अल्प परिमाणवाली हैं। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। सारांश यह है कि आगे आगेकी वर्गणाओंमें परमाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है, किन्तु उनका आकार सूक्ष्म सूक्ष्मतर होता जाता है। इसीसे ग्रन्थकारने उक्त गाथाके उत्तरार्धमें लिखा है कि ये वर्ग-

१ "परम्परं सूक्ष्मम्।" २-३८॥

णाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और इनकी अवगाहना अर्थात् लम्बाई चौड़ाई वगैरह सामान्यसे अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, किन्तु वह अंगुलका असंख्यातवाँ भाग उत्तरोत्तर हीन हीन है। आशय यह है कि ज्यों ज्यों अधिक परिमाणुओंका संघात होता है त्यों त्यों उनका सूक्ष्म सूक्ष्मतर रूप परिणाम होता है। अतः औदारिकवर्गणाओंकी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, तथा उसकी अग्रहण वर्गणाओंकी भी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, किन्तु वह अंगुलका असंख्यातवां भाग पहलेसे न्यून है। इसी प्रकार वैक्रियग्रहणवर्गणाओंकी भी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है, किन्तु वह असंख्यातवाँ भाग औदारिककी अग्रहण योग्य वर्गणाओंकी अवगाहनावाले अंगुलके असंख्यातवें भागसे भी न्यून है, इसी प्रकार आगे भी अंगुलका असंख्यातवाँ भाग न्यून न्यून समझना चाहिये। इस न्यूनताकी वजहसे ही अल्प परमाणुवाले औदारिक शरीरके दिखाई देनेपर भी उसके ही साथ बसनेवाले तैजस और कार्मण शरीर उससे कई गुने परमाणुवाले होने पर भी दिखाई नहीं देते।

तैजस और कार्मण शरीरके मध्यमें भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन पड़े हुए हैं। अर्थात् तैजस शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणासे वे वर्गणा अधिक सूक्ष्म हैं जो हमारे बातचीत करते समय शब्दरूप परिणत होती हैं। और उनसे भी वे वर्गणाएँ अधिक सूक्ष्म हैं, जो जीवके श्वासरूप परिणत होती हैं। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कर्मवर्गणाएँ कितनी अधिक सूक्ष्म होती हैं, किन्तु उनमें परमाणुओंकी संख्या कितनी अधिक रहती है। यहां इन वर्गणाओंके[1] कथन करनेका यही उद्देश है कि जो चीज कर्मरूप परि-

---

१ गोमट्टसार जीवकाण्डमें औदारिकवर्गणा, वैक्रियवर्गणा और आहारकवर्गणाके स्थानमें केवल एक आहारवर्गणा ही बतलाई है। तथा श्वासोच्छ्वास वर्गणाका भी ग्रहण नहीं किया है। कर्मप्रकृतिमें भी ऐसा ही मिलता है। किन्तु वहां 'आहारगवग्गणातितणु' लिखकर तीनों शरीरोंका स्पष्ट

णत होती है उसके स्वरूपकी रूपरेखा दृष्टिमें आजाये। इसीसे यहां केवल १६ वर्गणाओंका ही स्वरूप बतलाया है।

उल्लेख करदिया है। तथा मूलमें श्वासोच्छ्वासवर्गणाका ग्रहण नहीं किया है किन्तु चूर्णिकार ने उसका ग्रहण किया है। तुलनाके लिये दोनों ग्रन्थोंके उद्धरण नीचे दिये जाते हैं-

"अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा ॥ ५९३ ॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा।
बादरनिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा ॥ ५९४ ॥"
जीवकाण्ड

"परमाणुसंखऽसंखाऽणंतपएसा अभव्वणंतगुणा।
सिद्धाणणंतभागो आहारगवग्गणा तितणू ॥ १८ ॥
अगहणंतरियाओ तेयगभासामणे य कम्मे य।
धुवअधुवअच्चित्ता सुन्नाचउअंतरेसुप्पि ॥ १९ ॥
पत्तेयगतणुसु बायरसुहुमनिगोए तहा महक्खंधे।
गुणनिप्फन्नसनामा असंखभागंगुलवगाहो ॥ २० ॥"
कर्मप्रकृति (बन्धनकरण)

१ पञ्चसङ्ग्रहमें वर्गणाओंका निरूपण कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है। वहां १६ वर्गणाओंसे आगेकी वर्गणाओंको इसप्रकार बतलाया है--

कम्मोवरिं धुवेयरसुण्णा पत्तेयसुण्णबायरिया।
सुण्णा सुहुमा सुण्णा महखंधो सगुणनामाओ ॥१६॥ बन्धनकरण

अर्थात्-'कर्मवर्गणासे ऊपर ध्रुववर्गणा, अध्रुववर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, शून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा होती हैं।' कर्मप्रकृति और जीवकाण्डमें भी मामूलीसे नाम भेदके साथ यही वर्गणाएं कही हैं।

वर्गणाओंका स्वरूप तथा उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाकर, अब अग्रहण वर्गणाओंके परिमाणका कथन करते हैं—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

अर्थ—उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ होती हैं। उनका परिमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है। और वे औदारिक वैक्रिय आदि वर्गणाओंके मध्यमें पाई जाती हैं। औदारिक आदि सभी वर्गणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने योग्य जघन्यसे अनन्तवें भाग अधिक होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकारने इससे पूर्वकी गाथामें ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके नाम और उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाया था। तथा, यह भी लिखा था कि ग्रहण योग्य वर्गणाएँ अग्रहण वर्गणाओंसे अन्तरित होती हैं। यहां अग्रहण वर्गणाओंका प्रमाण तथा ग्रहण वर्गणाओंके जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंका अन्तर बतलाया है। वर्गणाओंका स्वरूप बतलाते हुए यद्यपि इन सभी बातोंका खुलासा कर दिया गया है, तथापि प्रसङ्गवश यहाँ संक्षेपसे उन्हे पुनः कहते हैं—

पहले लिख आये हैं कि सजातीय पुद्गलस्कन्धोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणाके प्रत्येक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं उनसे एक अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य जघन्य-वर्गणा जानना चाहिये, दो अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य दूसरी वर्गणा जानना चाहिये, तीन अधिक परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहणयोग्य तीसरी वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते स्कन्धोंकी चौथी पांचवी आदि अग्रहण योग्य वर्गणाएँ जाननी चाहियें। अग्रहण योग्य जघन्यवर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु

हों, उनको सिद्धराशिके अनन्तवें भागसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणुवाले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अत: प्रत्येक अग्रहण योग्य वर्गणाकी संख्या सिद्धराशिके अनन्तवें भाग बतलाई है, क्योंकि जघन्य अग्रहण वर्गणाके एक स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं उन्हें सिद्धराशिके अनन्तवें भागसे गुणा करनेपर जितने परमाणु आते हैं, जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त वर्गणाके उतने ही विकल्प होते हैं।

ये अग्रहण[1] वर्गणाएँ ग्रहण वर्गणाओंके मध्यमें होती हैं, अर्थात् अग्रहण वर्गणा, औदारिकवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, वैक्रियवर्गणा इत्यादि। ऊपर जो अग्रहणवर्गणाके अनन्त भेद बतलाये हैं, वे प्रत्येक अग्रहणवर्गणाके जानने चाहियें। अर्थात् यह न समझ लेना चाहिये कि कुल अग्रहणवर्गणाएँ सिद्ध-राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण हैं और उनमें कुछ वर्गणाएँ औदारिक वर्गणा-के पहले होती हैं, कुछ उसके बाद होती हैं, कुछ वैक्रियवर्गणाके बाद होती हैं। किन्तु ग्रहणवर्गणाओंके अन्तरालमें जो सात अग्रहणवर्गणाएँ बत-लाई हैं उनमेंसे प्रत्येकके भेदोंका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है।

जैसे, अग्रहण वर्गणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने जघन्यसे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है, उसी तरह ग्रहणवर्गणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने जघन्यसे अनन्तवें भाग अधिक है। अर्थात् जघन्य ग्रहण योग्य स्कन्धमें जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहण योग्य स्कन्धमें होते हैं।

सारांश यह है कि पहले पहलेकी उत्कृष्ट वर्गणाके स्कन्धोंमें एक एक प्रदेश बढ़नेपर आगे आगेकी जघन्यवर्गणाका प्रमाण आता है। अग्राह्य वर्गणाकी उत्कृष्टवर्गणा अपनी जघन्यवर्गणासे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है। तथा ग्राह्यवर्गणाकी उत्कृष्टवर्गणा अपनी जघन्यवर्गणासे अनन्तवें

---

१ टबेमें लिखा है कि बृहत्शतक की वृत्तिमें अग्रहणवर्गणाओंको नहीं बतलाया है।

भाग अधिक है ।

अब जीव जिस प्रकारके कर्मस्कन्धको ग्रहण करता है उसे बतलाते हैं—

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाढं नियसव्वपएसउ गहेइ जिउ ।

अर्थ—अन्तके चारस्पर्श, दो गन्ध, पाँच वर्ण और पाँच रस वाले, सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक, अनन्त प्रदेशी उन कर्मस्कन्धोंको जीव अपने सर्व प्रदेशोंसे ग्रहण करता है, जो (कर्मस्कन्ध) उन्हीं आकाशके प्रदेशोंमें वर्तमान हैं, जिनमें जीव स्वयं वर्तमान है ।

भावार्थ—कर्मस्कन्धोंके समूहको कर्मवर्गणा कहते हैं । अतः कर्मवर्गणा-का स्वरूप बतला कर ग्रन्थकारने कर्मस्कन्धका स्वरूप बतलाया है । उक्त डेढ़ गाथामेंसे पूरी गाथा तो कर्मस्कन्धका स्वरूप बतलाती है और बादकी आधी गाथा दो प्रश्नोंका उत्तर देती है १—किस क्षेत्रमें रहनेवाले कर्मस्कन्धों को जीव ग्रहण करता है और २—किसके द्वारा ग्रहण करता है ?

वर्गणाओंका निरूपण करते हुए यह बतला आये हैं, कि ये वर्गणाएँ पौद्गलिकी हैं । अर्थात् पुद्गल परमाणुओंका ही समुदाय विशेष है । अतः कर्म वर्गणाएँ भी पौद्गलिकी ही जाननी चाहियें । हम अपनी आँखोंसे जो वस्तुएँ देखते हैं, जिह्वासे जिन वस्तुओंको चखते हैं, नाकसे जिन वस्तुओं-को सूंघते हैं, शरीरसे जिन्हे छूते हैं और कानोंसे जो कुछ सुनते हैं, वे सब और उनके उपादान कारण पौद्गलिक कहे जाते हैं । इसीसे पुद्गल[1] द्रव्य-का लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्श बतलाया है । अर्थात् जिसमें ये चारो गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं । कर्मवर्गणा कर्मस्कन्धोंके समूहका नाम है और कर्मस्कन्ध पुद्गलपरमाणुओंके ही बन्धन विशेषको कहते हैं ।

---

१ **"स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-वन्तः पुद्गलाः ।" ५-२३ तत्त्वार्थसूत्र ।**

अतः उनमें उक्त चारों गुण होते हैं। एक परमाणुमें पाँच प्रकारके रसोंमें से कोई एक रस, पाँच प्रकारके रूपोंमें से कोई एक रूप, दो प्रकारकी गन्धोंमें से कोई एक गन्ध और आठ प्रकारके स्पर्शोंमें से दो अविरुद्ध स्पर्श होते हैं। गुरु, लघु, कोमल, कठोर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, ये आठ स्पर्श होते हैं। इनमें से परमाणुमें शीत और उष्णमें से एक, तथा स्निग्ध और रूक्षमें से एक, इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। परमाणुका स्वरूप बतलाते हुए एक प्राचीन श्लोकमें लिखा है—

"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥"

अर्थात्—परमाणु किसीसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु दूसरी वस्तुओंको उत्पन्न करता है, अतः कारण है। उससे छोटी दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अतः वह अन्त्य है, सूक्ष्म है, नित्य है। एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्शवाला है। तथा, उसका कार्य देखकर उसका अनुमान ही किया जा सकता है—प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इस प्रकार एक परमाणुमें एक रूप, एक रस, एक गन्ध और अन्तके चार स्पर्शोंमें से दो स्पर्श ही होते हैं। किन्तु इन परमाणुओंके समूहसे जो स्कन्ध तैयार होते हैं, उनमें पाँचो वर्ण, पाँचो रस, दोनों गन्ध और चारों स्पर्श हो सकते हैं। क्योंकि उस स्कन्ध में बहुत से परमाणु होते हैं और उन परमाणुओंमें से कोई किसी रूपवाला होता है कोई किसी रूपवाला, कोई किसी रसवाला होता है कोई किसी रसवाला, कोई किसी गन्धवाला होता है कोई किसी गन्धवाला, तथा किसी परमाणु में उक्त चारों स्पर्शोंमें से स्निग्ध और उष्ण स्पर्श पाया जाता है और किसीमें रूक्ष और शीत स्पर्श। अतः स्कन्ध पञ्च वर्ण, पञ्च रस, दो गन्ध और चार स्पर्शवाला कहा

१ यह श्लोक तत्त्वार्थभाष्य पृ० ११६ में तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० २३६ में उद्धृत है। राजवा० में 'तदन्त्यः' पाठ है।

जाता है । इसीसे ग्रन्थकारने कर्मस्कन्ध को अन्तके चार[1] स्पर्श, दो गन्ध, पांच वर्ण और पांच रसवाला बतलाया है ।

---

१ कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है कि बृहत्शतककी टीकामें बतलाया है कि कर्मस्कन्धमें मृदु और लघु स्पर्श तो अवश्य रहते ही हैं इनके सिवाय स्निग्ध, उष्ण, अथवा स्निग्ध, शीत, अथवा रूक्ष, उष्ण, अथवा रूक्ष, शीतमें से दो स्पर्श और रहते हैं । इसप्रकार एक स्कंधमें चार स्पर्श बतलाये हैं ।

'चतुःस्पर्श'के बारेमें एक बात जानने योग्य है । स्पर्शके आठ भेद बतलाये हैं । आहारकशरीरके योग्य ग्रहणवर्गणा पर्यन्तके स्कन्धोंमें तो आठों स्पर्श पाये जाते हैं, किन्तु उससे ऊपर तैजसशरीर आदिके प्रायोग्य वर्गणाओंके स्कन्धोंमें केवल चार ही स्पर्श होते हैं, जैसा कि कर्मग्रन्थ वगैरहमें बतलाया है । पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है-

"पञ्चरसपञ्चवण्णेहिं परिणया अट्ठफास दो गंधा ।
जीवाहारगजोग्गा चउफासविसेसिया उवरिं ॥ ४१० ॥"

अर्थात्-जीवके ग्रहणयोग्य औदारिक आदि वर्गणाएँ पाँच रस, पांच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गन्धवाली होती हैं । किन्तु ऊपरकी अर्थात् तैजसशरीर आदिके योग्य ग्रहण वर्गणाएँ चार स्पर्शवाली होती हैं ।

आवश्यकनिर्युक्तिमें द्रव्यके दो भेद किये हैं-एक गुरुलघु और दूसरा अगुरुलघु । इन दो भेदोंमें वर्गणाओंका बटवारा करते हुए लिखा है-

"ओरालियवेउव्वियआहारयतेय गुरुलहू दव्वा ।
कम्मगमणभासाइं एयाइं अगुरुलहुयाइं ॥ ४१ ॥"

अर्थात्-औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस द्रव्य गुरुलघु हैं और कार्मण, भाषा और मनोद्रव्य अगुरुलघु हैं ।

द्रव्यलोक प्रकाश (सर्ग ११) में अगुरुलघु और गुरुलघुकी पहिचान

जिस तरह पुद्गलद्रव्यके सबसे छोटे अंशको परमाणु कहते हैं, उसी तरह शक्तिके सबसे छोटे अंश को रसाणु कहते हैं। यहां रसका मतलब खट्टे मीठे आदि पांच प्रकारके रससे नहीं है किन्तु अनुभागबन्ध अथवा रसबन्धका वर्णन करते हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलमें जो मधुर और कटुक ऐसा व्यवहार किया था, उस रससे है। यह रस प्रत्येक पुद्गलमें पाया जाता है। जैसे पुद्गलद्रव्यके स्कन्धोंके टुकड़े किये जा सकते हैं, वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणोंके टुकड़े नहीं किये जा सकते। फिर भी हम अपने सामने आने वाली वस्तुओंमें गुणों की हीनाधिकताको सहजमें ही जानलेते हैं। जैसे, यदि हमारे सामने भैंस, गाय और बकरीका दूध रखा जाये तो हम उसकी परीक्षा करके तुरन्त कह देते हैं कि इस दूधमें चिकनाई अधिक है और इसमें कम है। चिकनाई के टुकड़े नहीं किये जा सकते, क्योंकि वह एक गुण है। किन्तु, विभिन्न वस्तुओंके द्वारा हम उसकी तरतमता को जान सकते हैं। यह तरतमता ही इस बातको बतलाती है कि गुणके भी अंश होते हैं। आजकलके वैज्ञानिक यह खोजा करते हैं कि किस भोज्य वस्तुमें अधिक जीवनदायक शक्ति है और किसमें कम। उनकी ये खोजें कभी कभी समाचारपत्रों में भी पढ़ने को मिलजाती हैं। उनकी तालिकामें लिखा रहता है कि बादाममें प्रतिशत इतनी जीवनी शक्ति

बतलाते हुए लिखा है–

"बादरमष्टस्पर्शं द्रव्यं रूप्येव भवति गुरुलघुकम्।
अगुरुलघु चतुःस्पर्शं सूक्ष्मं वियदाद्यमूर्तमपि ॥ २४ ॥"

अर्थात्–'आठ स्पर्शवाला बादररूपी द्रव्य गुरुलघु होता है, और चार स्पर्शवाला सूक्ष्मरूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक भी अगुरुलघु होते हैं।' इसके अनुसार तैजस वर्गणामें आठों स्पर्श सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसे गुरुलघु बतलाया है। किन्तु कर्मवर्गणामें चार स्पर्श होते हैं इसमें सभीका ऐकमत्य है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी कर्मयोग्य द्रव्यको चार स्पर्शवाला ही बतलाया है।

है, दूधमें इतनी है इत्यादि। विभिन्न खाद्यों में यह जो जीवनी शक्ति अमुक अमुक अंशमें मौजूद है, यह सिद्ध करती है कि शक्तिके भी अंश हो सकते हैं। इन्हें ही रसके अंश भी कहते हैं, क्यों कि रस शब्दसे भी भी फलदायक शक्ति ही इष्ट है। ये रस के अंश ही रसाणु[1] कहे जाते हैं। सबसे जघन्य रसवाले पुद्‌गलद्रव्यमें भी जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणु पाये जाते हैं। अतः कर्मस्कन्ध भी सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणुओंसे युक्त होता है। ये रसाणु ही जीवके भावों का निमित्त पाकर कटुक रूप अथवा मधुर रूप फलदेते हैं। तथा, एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है अर्थात् एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त परमाणुओंका समूह होता है, जैसा कि वर्गणाओंके निरूपणसे स्पष्ट है। इस प्रकार जीवके द्वारा ग्रहण करने योग्य कर्मस्कन्धों का स्वरूप जानना चाहिये।

---

१ रसाणुको गुणाणु या भावाणु भी कहते हैं, जैसा कि **पञ्चसङ्ग्रहमें** लिखा है–

"पञ्चण्ह सरीराणं परमाणूणं मईए अविभागो।
कप्पियगाणेगंसो गुणाणु भावाणु वा होंति॥ ४१७॥"

अर्थात्–पांच शरीरोंके योग्य परमाणुओंकी रस शक्तिका बुद्धिके द्वारा खण्ड करनेपर जो अविभागी एक अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं। और भी–

"जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोगपरिमाणा।
सव्वजियाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू॥ ४३६॥"

अर्थात्–अनुभागके कारण जीवके कषायोदय रूप परिणाम दो तरहके होते हैं–एक शुभ और दूसरे अशुभ। शुभ परिणाम असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं। एक एक परिणामके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलोंमें सर्वजीवोंसे अनन्तगुणे भावाणु होते हैं।

प्रदेशबन्धद्वारके प्रारम्भमें ही लिख आये हैं कि समस्त लोक पुद्‌गल द्रव्यसे ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्‌गल द्रव्य अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है। जब पुद्‌गलद्रव्य वर्गणाओंमें विभाजित है और सब जगह पाया जाता है, तो इसका यही मतलब हुआ कि पुद्‌गलद्रव्य की उक्त वर्गणाएँ समस्तलोकमें पाई जाती हैं। उक्त वर्गणाओंमें ही कर्मवर्गणा भी है अतः कर्मवर्गणा भी सब जगह पाई जाती है। किन्तु प्रत्येक जीव उन्हीं कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है, जो उसके अत्यन्त निकट होती हैं। जैसे आगमें तपाये हुए लोहेके गोले को पानीमें डाल देने पर वह उसी जलको

---

१ कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्धका वर्णन करते हुए लिखा है-

'एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं।

बंधदि सगहेदुहि य अणादियं सादियं उभयं ॥ १८५ ॥'

अर्थात्-एक अभिन्न क्षेत्रमें स्थित, कर्मरूप होनेके योग्य अनादि, सादि और उभयरूप अर्थात् अनादि सादिरूप द्रव्यको यह जीव अपने सब प्रदेशों-से कारण कलापके मिलनेपर बांधता है। और भी-

'सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं।

सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं ॥ १९१ ॥'

अर्थात्-जीव जिस कर्मरूप पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है, उसमें पांचो रस, पांचो रूप, दोनों गन्ध और अन्तके चार स्पर्श होते हैं। तथा, उसका परिमाण सिद्धराशिका अनन्तवाँ भाग अथवा अभव्यराशिसे अनन्तगुणा होता है।

पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है-

'एगपएसोगाढे सव्वपएसेहिं कम्मणो जोगे।

जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥२८४॥'

अर्थात्-एक क्षेत्रमें स्थित, कर्मरूप होने के योग्य सादि अथवा अन-गादि पुद्गलद्रव्यको जीव अपने समस्त प्रदेशोंसे ग्रहण करता है।

ग्रहण करता है, जो उसके गिरनेके स्थान पर मौजूद हो, उसे छोड़कर दूर का जल ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह जीव भी जिन आकाश प्रदेशोंमें स्थित होता है, उन्हीं आकाश प्रदेशोंमें रहने वाली कर्मवर्गणाको ग्रहण करता है। तथा जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला जलमें गिरने पर चारों ओरसे पानीको खींचता है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्म प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। ऐसा नहीं है कि आत्माके अमुक हिस्सेसे ही कर्मोंका ग्रहण करता हो, किन्तु आत्माके समस्त प्रदेशोंसे कर्मों को ग्रहण करता है। इस प्रकार वे कर्मस्कन्ध कैसे हैं और जीव उन्हें कैसे ग्रहण करता है इन पर विचार किया गया।

इस प्रकार ग्रहणकिये हुए कर्मस्कन्धोंका आठो कर्मोंमें जिस क्रमसे विभाग होता है, उसे बतलाते हैं—

थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिउ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवई ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

अर्थ—आयुकर्म[1] का हिस्सा थोड़ा है, नाम और गोत्रकर्म का हिस्सा आपसमें समान है, किन्तु आयुकर्मके हिस्से से अधिक है। इसी तरह अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपसमें समान है, किन्तु नाम और गोत्रकर्मके हिस्सेसे अधिक है। उससे अधिक मोहनीयका

---

१ पञ्चसंग्रहमें लिखा है–

"कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो।
तइयस्स सव्वजेट्ठो, तस्स फुडत्तं जओणप्पे ॥२८५॥"

अर्थात्–अधिक स्थितिवाले कर्मोंका भाग क्रमसे अधिक होता है। किन्तु वेदनीयका भाग सबसे ज्येष्ठ होता है, क्योंकि अल्पदल होनेपर उसका व्यक्त अनुभव नहीं हो सकता।

भाग है। और सबसे अधिक वेदनीयकर्मका भाग है, क्योंकि थोड़े द्रव्यके होने पर वेदनीयकर्मका अनुभव स्पष्टरीतिसे नहीं हो सकता है। वेदनीयके सिवाय शेष सातकर्मोंको अपनी अपनी स्थितिके अनुसार भाग मिलता है। अर्थात् जिस कर्मकी अधिक स्थिति है उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कर्मकी हीन स्थिति है उसे हीन भाग मिलता है।

भावार्थ—जिस प्रकार भोजन उदरमें जानेके बाद कालक्रमसे रस रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह जीव प्रतिसमय जिन कर्म-वर्गणाओंको ग्रहण करता है, वे कर्मवर्गणाएँ उसी समय उतने हिस्सोंमें बंट जाती हैं, जितने कर्मोंका बन्ध उस समय उस जीवके होता है। पहले लिख आये हैं कि आयुकर्मका बन्ध सर्वदा नहीं होता, और जब होता है तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, उसके बाद नहीं होता। अतः जिस समय जीव आयुकर्मका बन्ध करता है उस समय जो कर्मदल ग्रहण किये जाते हैं, उसके आठ भाग हो जाते हैं। जिस समय आयुकर्मका बन्ध नहीं करता, उस समय जो कर्मदल ग्रहण करता है, उनका बटवारा आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंमें होजाता है। जब दसवें गुणस्थान में आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह कर्मोंका बन्ध करता है, उस समय गृहीत कर्म-दलके ६ भाग हो जाते हैं। और जिस समय एक कर्मका ही बन्ध करता है उस समय ग्रहण किये हुए कर्मदल उस एक कर्मरूप ही हो जाते हैं। यहां ग्रहण किये हुए कर्मदलका आठों कर्मोंमें विभाजित होनेका क्रम बतलाया है। आयुकर्मका भाग सबसे थोड़ा है, क्यों कि दूसरे कर्मोंसे उसकी स्थिति थोड़ी है। आयुकर्मसे नाम और गोत्र, इन दोनों कर्मोंका भाग अधिक है, क्योंकि आयुकर्मकी स्थिति तेतीस सागर है और नाम तथा गोत्रकर्मकी स्थिति बीस कोटी कोटी सागर है। नाम और गोत्रकी स्थिति समान है, अतः उन्हें हिस्सा भी बराबर बराबर ही मिलता है। ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी स्थिति तीस कोटी कोटी सागर है

अतः नाम और गोत्रकर्मसे इन तीनों कर्मोंका भाग अधिक है। तथा इन तीनों कर्मोंकी स्थिति समान है, अतः उनका भाग भी बराबर बराबर होता है। इन तीनों कर्मोंसे मोहनीयकर्मका भाग अधिक है क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर है। और वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक है। यद्यपि मोहनीय कर्मकी स्थितिसे वेदनीय कर्मकी स्थिति बहुत कम है, तथापि मोहनीयके भागसे वेदनीय कर्मका भाग अधिक है। क्योंकि बहुत द्रव्यके बिना वेदनीय कर्मके सुख दुःखादिकका अनुभव स्पष्ट नहीं होता है। वेदनीयको[1] अधिक पुद्गल मिलनेपर ही वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है। थोड़े दल होनेपर वेदनीय प्रकट ही नहीं होता। इसीसे थोड़ी स्थितिके होनेपर भी उसे सबसे अधिक भाग मिलता है।

१ वेदनीयकर्मको सबसे अधिक भाग मिलनेके बारेमें कर्मकाण्डमें लिखा है-

'सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगो त्ति वेयणीयस्स।
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ १९३ ॥'

अर्थात्-सुख और दुःखके निमित्तसे वेदनीयकर्मकी निर्जरा बहुत होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दुःखका वेदन करता रहता है, अतः वेदनीय कर्मका उदय प्रतिक्षण होनेसे उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसीसे उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है, ऐसा कहा है।

२ कर्मग्रन्थमें केवल विभागका क्रम ही बतलाया है, और उससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्मको अधिक भाग मिलता है और अमुकको कम भाग मिलता है। किन्तु कर्मकाण्डमें इस क्रमके साथ ही साथ विभागकी रीति भी बतलाई है, जो इस प्रकार है-

'बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एकभागम्हि।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १९५ ॥'

अर्थात्-बहुभागके समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः बहुभाग करना चाहिये, और वह बहु-

भाग बहुत हिस्सेवाले कर्मको देना चाहिये।

इस रीतिके अनुसार एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागसे भाग देकर एक भागको जुदा रखना चाहिये और बहुभागके आठ समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रखकर बहुभाग वेदनीय कर्मको देना चाहिये; क्योंकि सबसे अधिक भागका वही स्वामी है। शेष एक भागमें पुनः आवली-के असंख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग मोह-नीयकर्मको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके दो समान भाग करके, नाम और गोत्रकर्मको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग आयुकर्मको देना चाहिये। इस प्रकार पहले बटवारेमें और दूसरे बटवारेमें प्राप्त अपने अपने द्रव्यका संकलन करने से अपने अपने भागका परिमाण आता है। अर्थात् ग्रहण किये हुए द्रव्यमें से इतने इतने परमाणु उस उस कर्मरूप हो जाते हैं।

अङ्कसंदृष्टिसे इसे समझनेके लिये कल्पना कीजिये-कि एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है, उसका परिमाण २५६०० है, और आवलीके असंख्यातवें भागका प्रमाण ४ है। अतः २५६०० को ४ से भाग देनेपर लब्ध ६४०० आता है। यह एक भाग है। इस एक भागको २५६०० में से घटानेपर १९२०० बहुभाग आता है। इस बहुभागके आठ समान भाग करनेपर एक एक भागका प्रमाण २४००, २४०० होता है। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्सेमें २४००, २४०० द्रव्य आता है। शेष एक भाग ६४०० को

मूल प्रकृतियोंमें विभागका क्रम बतलाकर, अब उत्तर प्रकृतियोंमें उसका क्रम बतलाते हैं—

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

---

४ से भाग देनेपर लब्ध १६०० आता है। इस सोलह सौको ६४०० में से घटाने पर ४८०० बहुभाग आता है। यह बहुभाग वेदनीयकर्मका है। शेष १६०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध ४०० आता है। १६०० में से ४०० को घटानेपर बहुभाग १२०० आता है। यह बहुभाग मोहनीयकर्मका है। शेष एक भाग ४०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध १०० आता है। ४०० में से १०० को घटानेपर बहुभाग ३०० आता है। बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको १००, १०० दे देना चाहिये। शेष १०० में ४ का भाग देनेसे लब्ध २५ आता है। १०० में से २५ को घटानेपर बहुभाग ७५ आता है। यह बहुभाग नाम और गोत्रकर्मका है। शेष एक भाग २५ आयुकर्मको दे देना चाहिये। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्से में निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अन्तराय	नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००	३७½	३७½	२५
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००	२४३७½	२४३७½	२४२५

इस प्रकार २५६०० में इतना इतना द्रव्य उस उस कर्मरूप परिणत होता है। यह अङ्कसंदृष्टि केवल विभागकी रूपरेखा समझानेके लिये है। इसे वास्तविक न समझ लेना चाहिये। अर्थात् ऐसा न समझ लेना चाहिये कि जैसे इसमें वेदनीयका द्रव्य मोहनीयसे ठीक दुगुना है, वैसेही वास्तवमें भी दुगुना ही द्रव्य होता है। आदि

अर्थ—अपनी अपनी मूलप्रकृतिको जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघातिप्रकृतियोंका होता है । शेष भाग प्रति समय बंधनेवाली शेष देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है ।

भावार्थ—मूल प्रकृतियोंको जो भाग मिलता है, वह उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है, क्योंकि उत्तर प्रकृतियोंके सिवाय मूलप्रकृति नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिस प्रकार गृहीत पुद्गलद्रव्य उन्हीं कर्मोंमें विभाजित होता है, जिन कर्मोंका उस समय बन्ध होता है। उसी तरह प्रत्येक मूलप्रकृतिको जो भाग मिलता है वह भाग भी उसकी उन्हीं उत्तर प्रकृतियोंमें विभाजित होता है, जिनका[1] उस समय बन्ध होता है। जो प्रकृतियां उस समय नहीं बंधती, उनको उस समय भाग भी नहीं मिलता, क्योंकि भाग मिलनेका नाम ही तो बन्ध है, और भाग न मिलनेका नाम ही अबन्ध है।

पहले बतला आये हैं कि आठकर्मोंमें से चार कर्म घाती हैं और चार कर्म अघाती हैं। घातिकर्मोंकी कुछ उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघातिनी होती हैं और कुछ देशघातिनी होती हैं। इस गाथामें उन्हींको लक्ष्यकरके लिखा[2] है

---

१ 'जं समयं जावइयाइं बंधए ताण एरिस विहीए ।
पत्तेयं पत्तेयं भागे निव्वत्तए जीवो ॥ २८६ ॥' पञ्चसं० ।

२ उत्तर प्रकृतियोंमें पुद्गल दलिकोंका बटवारा करते हुए **कर्मप्रकृतिमें** लिखा है–

'जं सव्वघातिपत्तं सगकम्मपएसणंतमो भागो ।
आवरणाण चउद्धा तिहा य अह पंचहा विग्घे ॥२५॥' बन्धनकरण।

अर्थात्–जो कर्मदलिक सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है, वह अपनी *अपनी मूल प्रकृतिको जो भाग मिलता है उसका अनन्तवां भाग होता है।* शेष द्रव्यका बटवारा देशघातिप्रकृतियोंमें हो जाता है। अतः ज्ञानावरणका शेष द्रव्य चार भागोंमें विभाजित होकर उसकी चार देशघातिप्रकृतियोंको

कि घातिकर्मको जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघातिप्रकृतियोंका होता है और शेष बहुभाग बन्धनेवाली देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं। उनमेंसे एक केवलज्ञानावरण प्रकृति सर्वघातिनी है और शेष चार देशघातिनी हैं। जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणरूप परिणत होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघाती है अतः वह केवलज्ञानावरणको मिलता है। और शेष देशघाती द्रव्य चार देशघाति प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है। दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियां नौ हैं। उनमें केवल दर्शनावरण और पाँचो निद्राएँ सर्वघातिनी हैं और शेष तीन प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। दर्शनावरणरूप जो द्रव्य परिणत होता है उसका अनन्तवां भाग सर्वघाती है, अतः वह छह सर्वघातिप्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है और शेष द्रव्य तीन देशघातिप्रकृतियोंमें बंट जाता है। वेदनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां दो हैं, किन्तु उनमेंसे प्रतिसमय एक ही

मिल जाता है, और दर्शनावरणका शेष द्रव्य तीन भागोंमें विभाजित होकर उसकी तीन देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है। किन्तु अन्तराय कर्मको जो भाग मिलता है, वह पूराका पूरा पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाँचो देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है, क्योंकि अन्तरायकी कोई भी प्रकृति सर्वघातिनी नहीं है।

सर्वघाती और देशघाती द्रव्यके बटवारेके सम्बन्धमें **पञ्चसङ्ग्रहमें** भी ऐसा ही लिखा है—

'सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईणं ॥ ४३४ ॥'

अर्थात्—मूलप्रकृतिको मिले हुए भागका अनन्तवां भाग प्रमाण जो उत्कृष्ट रसवाला द्रव्य है, वह सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है, और शेष अनुत्कृष्ट रसवाला द्रव्य देशघातिप्रकृतियोंको दिया जाता है।

प्रकृतिका बन्ध होता है। अत: वेदनीयकर्मको जो द्रव्य मिलता है वह उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है।

मोहनीयकर्मको[1] जो भाग मिलता है, उसमें अनन्तवां भाग सर्वघाती

---

१ मोहनीयकर्मके द्रव्यका बटवारा बतलाते हुए पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है–

'उक्कोसरसस्सद्धं मिच्छे अद्धं तु इयरघाईणं।

संजलण नोकसाया सेसं अद्धद्धयं लेंति ॥ ४३५ ॥'

अर्थात्–मोहनीयकर्मके सर्वघाती द्रव्यका आधा भाग मिथ्यात्वको मिलता है और आधा भाग बारह कषायोंको मिलता है। शेष देशघातिद्रव्यका आधा भाग संज्वलन कषायको और आधा भाग नोकषायको मिलता है।

मोहनीय, वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मके द्रव्यका बटवारा उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें करते हुए कर्मप्रकृतिमें लिखा है–

'मोहे दुहा चउद्धा य पंचहा वावि बज्झमाणीणं।

वेयणिआउयगोएसु बज्झमाणीण भागो सिं ॥२६॥' बन्धनकरण।

अर्थात्–स्थितिके प्रतिभागके अनुसार मोहनीयको जो मूल भाग मिलता है, उसके अनन्तवें भाग सर्वघातिद्रव्यके दो भाग किये जाते हैं। आधा भाग दर्शनमोहनीयको मिलता है और आधा भाग चारित्रमोहनीयको मिलता है। शेष मूलभागके भी दो भाग किये जाते हैं, आधा भाग कषायमोहनीयको मिलता है, और आधा भाग नोकषायमोहनीयको मिलता है। कषाय मोहनीयको जो भाग मिलता है, उसके पुनः चार भाग किये जाते हैं और वे चारों भाग संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभको दिये जाते हैं। नोकषाय मोहनीय-के भागके पांच भाग किये जाते हैं, और वे पाँचों भाग तीनों वेदोंमे से किसी एक वेदको, हास्य रति और शोक अरतिके युगलों से एक युगलको, भयको और जुगुप्साको दिये जाते हैं, क्योंकि एक समयमें पाँच ही नोकषायोंका बन्ध होता है। तथा, वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मको जो मूल भाग मिलता

द्रव्य होता है और शेष देशघाती द्रव्य होता है। सर्वघाती द्रव्यके दो भाग होजाते हैं। एक भाग दर्शनमोहनीयको मिल जाता है और दूसरा भाग चारित्र मोहनीयको मिलजाता है। दर्शनमोहनीयका पूरा भाग उसकी उत्तरप्रकृति मिथ्यात्वमोहनीयको मिल जाता है। किन्तु चारित्र मोहनीय-के भागके बारह हिस्से होकर अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंमें बंट जाते हैं। मोहनीयकर्मके देशघातिद्रव्यके दो भाग होते हैं। उनमेंसे एक भाग कषायमोहनीयका होता है और दूसरा नोकषायमोहनीयका। कषाय-मोहनीयके भागके चार भाग होकर संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते हैं। और नोकषाय मोहनीयके पाँच भाग होते हैं, जो क्रमशः तीनों वेदोंमेंसे किसी एक बध्यमान वेदको, हास्य और रतिके युगल तथा शोक और अरतिके युगलमेंसे किसी एक युगलको (युगलमेंसे प्रत्येक को एक एक भाग) तथा भय और जुगुप्साको मिलते हैं। आयुकर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बंधती है। अतः आयुकर्मको जो भाग मिलता है, वह उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है, जो उस समय बंधती है।

नामकर्मको[1] जो मूलभाग मिलता है, वह उसकी बंधनेवाली उत्तर प्रकृ-

---

है, वह उनकी बन्धने वाली एक एक प्रकृतिको ही मिल जाता है, क्योंकि इन कर्मोंकी एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है।

१ नामकर्मके बटवारेके सम्बन्धमें कर्मप्रकृतिमें लिखा है—

'पिंडपगतीसु बज्झंतिगाण वन्नरसगंधफासाणं।

सव्वासिं संघाए तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥२७॥' बन्धनकरण।

अर्थात्—नामकर्म को जो भाग मिलता है वह उसकी बंधनेवाली प्रकृतियोंका होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जो भाग मिलता है वह उनकी सब अवान्तर प्रकृतियोंका होता है। संघात और शरीरको जो भाग मिलता है, वह तीन या चार भागोंमें बंटजाता है।

तियोंमें बंट जाता है। अर्थात् गति, जाति, शरीर, उपाङ्ग, बन्धन, सङ्घातन, संहनन, संस्थान, आनुपूर्वी, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उद्योत, उपघात, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थङ्कर, आतप, शुभाशुभ विहायोगति, और

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा १९९ से २०६ तक उत्तरप्रकृतियोंमें पुद्गलद्रव्यके बटवारेका वर्णन किया है। कर्मकाण्डके अनुसार घातिकर्मोंको जो भाग मिलता है उसमेंसे अनन्तवां भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य होता है, जैसा कि कर्मग्रन्थका भी आशय है। किन्तु कर्मकाण्डके मतसे सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है और देशघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है। जैसा कि उसमें लिखा है—

'सव्वावरणं दव्वं विभज्जणिज्जं तु उभयपयडीसु।
देसावरणं दव्वं देसावरणेसु णेविदरे॥'

अर्थात्—सर्वघाती द्रव्यका विभाग दोनों तरहकी प्रकृतियोंमें करना चाहिये। किन्तु देशघाती द्रव्यका विभाग देशघातिप्रकृतियोंमें ही करना चाहिये। कर्मकाण्डके अनुसार प्रत्येक कर्मके विभागकी रीति निम्नप्रकार है—ज्ञानावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभाग मतिज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरणको, इसी तरह चौथा बहुभाग मनःपर्ययज्ञानावरणको और शेष एक भाग केवलज्ञानावरणको देना चाहिये। पहिलेके समान भागमें अपने अपने बहुभागको मिलानेसे मतिज्ञानावरण वगैरहका सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भागके सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरणके सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियोंको

त्रसदशक अथवा स्थावरदशकमें से जितनी प्रकृतियां एक समयमें बन्धको प्राप्त होती हैं, उतने भागोंमें वह भाग बंट जाता है। विशेषता यह है कि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जितना जितना भाग मिलता है वह उनके अवान्तर भेदोंमें बंट जाता है। जैसे, वर्णनामको जो भाग मिलता है वह पांच भागोंमें विभाजित होकर उसके शुक्लादिक भेदोंमें बंट जाता है।

मिलता है। विभागकी रीति ऊपरके अनुसार ही है। अर्थात् देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग निकालते जाना चाहिये और वह बहुभाग मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदिको नम्बरवार देना चाहिये। अपने अपने सर्वघाती और देशघाती द्रव्यको मिलानेसे अपने अपने सर्वद्रव्यका परिमाण होता है।

दर्शनावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके नौ भाग करके दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देदेकर बहुभाग निकालना चाहिये, और पहला बहुभाग स्त्यानगृद्धिको, दूसरा निद्रानिद्राको, तीसरा प्रचला प्रचलाको, चौथा निद्राको, पाँचवा प्रचलाको, छठां चक्षुदर्शनावरणको, सातवां अचक्षुदर्शनावरणको, आठवां अवधिदर्शनावरणको, और शेष एक भाग केवलदर्शनावरण को देना चाहिये। इसी प्रकार देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भाग का भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके देशघाती चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें भी भाग देदेकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरणको दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरणको और शेष एक भाग अवधिदर्शनावरणको देना चाहिये। अपने अपने भागोंका संकलन करनेसे

इसीप्रकार गन्ध, रस और स्पर्श नामको जो भाग मिलता है, वह उनके भेदोंमें विभाजित होजाता है । तथा, संघात और शरीर नामकर्मको जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागोंमें विभाजित होकर संघात और शरीरनामकी तीन या चार प्रकृतियोंको मिल जाता है । यदि औदारिक, तैजस और कार्मण या वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन तीन शरीरों और

अपने अपने द्रव्यका प्रमाण होता है । चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरणका द्रव्य सर्वघाती भी है और देशघाती भी। शेष छह प्रकृतियोंका द्रव्य सर्वघाती ही होता है, क्योंकि वे सर्वघातिप्रकृतियां हैं।

अन्तरायकर्मके—द्रव्यमें उक्त प्रतिभागका भाग देकर, एक भागके विना, शेष बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। अवशेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग वीर्यान्तरायको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग उपभोगान्तरायको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमें प्रतिभागका भाग देदेकर बहुभाग भोगान्तराय और लाभान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भाग दानान्तरायको देना चाहिये । अपने अपने समान भागमें अपना अपना बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है ।

मोहनीयकर्मके—सर्वघाती द्रव्यको प्रतिभाग आवलीके असंख्यातवें भाग का भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके सत्रह समान भाग करके सत्रह प्रकृतियोंको देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्वको देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभको देना चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग अनन्तानुबन्धी मायाको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहता जाय उसको प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी क्रोधको, अनन्तानुबन्धी मानको, संज्वलन

संघातोंका एक साथ बन्ध होता है तो उसके तीन भाग होजाते हैं । और यदि वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघातका बन्ध होता है तो चार विभाग होजाते हैं । तथा, बन्धन नामको जो भाग मिलता है, उसके यदि तीन शरीरोंका बन्ध हो तो सात भाग होते हैं और यदि चार

लोभको, संज्वलन मायाको, संज्वलन क्रोधको, संज्वलन मानको, प्रत्याख्यानावरण लोभको, प्रत्याख्यानावरण मायाको, प्रत्याख्यानावरण क्रोधको, प्रत्याख्यानावरण मानको, अप्रत्याख्यानावरण लोभको अप्रत्याख्यानावरण मायाको, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग अप्रत्याख्यानावरण मानको देना चाहिये । अपने अपने एक एक भागमें पीछेके अपने अपने बहुभागको मिलानेसे अपना अपना सर्वघाती द्रव्य होता है ।

देशघाती द्रव्यको आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भाग को जुदा रख, बहुभागका आधा तो नोकषायको देना चाहिये, और बहुभागका आधा और शेष एक भाग संज्वलन कषायको देना चाहिये । संज्वलनकषायके देशघाती द्रव्यमें प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों कषायोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग संज्वलन लोभको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग संज्वलन मायाको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग संज्वलनक्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग संज्वलनमानको देना चाहिये । पहलेके अपने अपने एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलाने से अपना अपना देशघाती द्रव्य होता है । चारों संज्वलन कषायोंका अपना अपना सर्वघाती और देशघाती द्रव्य मिलानेसे अपना अपना सर्वद्रव्य होता है । मिथ्यात्व और बारह कषायका सब द्रव्य सर्वघाती ही है, और नोकषायका सब द्रव्य देशघाती ही है । नोकषायका विभाग इस प्रकार होता

शरीरोंका बन्ध हो तो ग्यारह भाग होते हैं। अर्थात् औदारिक औदारिक, औदारिक तैजस, औदारिक कार्मण, औदारिक तैजसकार्मण, तैजस तैजस, तैजस कार्मण और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं, अथवा वैक्रिय वैक्रिय, वैक्रिय तैजस, वैक्रिय कार्मण, वैक्रिय

है-नोकषायके द्रव्यको प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचो प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग, तीनों वेदोंमें से जिस वेदका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग रति और अरतिमेंसे जिसका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग हास्य और शोकमेंसे जिसका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग भयको देना चाहिये। शेष एक भाग जुगुप्साको देना चाहिये। अपने अपने एक एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है।

नामकर्मकी—तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिक तैजस कार्मण ये तीन शरीर, हुंडक संस्थान, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तिर्यञ्चानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण, इन तेईस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मनुष्य अथवा तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि करता है। नामकर्मको जो द्रव्य मिला हो, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक एक प्रकृतिको एक एक भाग देना चाहिये। ऊपर लिखी तेईस प्रकृतियोंमें औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनों प्रकृतियां एक शरीरनाम पिंडप्रकृतिके ही अवान्तर भेद हैं। अतः उनको पृथक् पृथक् द्रव्य न मिल कर एक शरीर नामको ही हिस्सा मिलता है। इससे इक्कीस ही भाग किये हैं। अस्तु,

तैजस कार्मण, तैजस तैजस, तैजसकार्मण, और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं। और वैक्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क तथा तैजस और कार्मणके तीन, इस प्रकार ग्यारह बन्धनोंका बन्ध

शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अन्तकी निर्माण प्रकृतिको देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अयशःकीर्तिको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनादेयको देना चाहिये। इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहे, उसमें प्रतिभागका भाग दे दे कर बहुभाग दुर्भग, अशुभ वगैरहको देना चाहिये। अन्तमें जो एक भाग रहे, वह तिर्यञ्चगतिको देना चाहिये।

पहलेके अपने अपने समान भागमें पीछेका भाग मिलनेसे अपना अपना द्रव्य होता है। जहां पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाइस, उनतीस, तीस या इकतीस प्रकृतिका एक साथ बन्ध होता है, वहां भी इसी प्रकार बटवारेका क्रम जानना चाहिये। किन्तु जहां केवल एक यशःकीर्तिका ही बन्ध होता है, वहां नामकर्मका सब द्रव्य इस एक प्रकृतिको ही मिलता है। नामकर्मके उक्त बन्धस्थानोंमें जो पिण्ड प्रकृतियां है, उनके द्रव्यका बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है। जैसे, ऊपरके बन्धस्थानमें शरीरनाम पिण्ड प्रकृतिके तीन भेद हैं, अतः बटवारेमें शरीरनामको जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभागके तीन समान भाग करके, तीनोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग कार्मणशरीरको देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग तैजसको देना चाहिये। शेष एक भाग औदारिकको देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिण्ड प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये। जहां पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियोंमेंसे एकही प्रकृतिका बन्ध होता हो, वहां पिण्डप्रकृतिका सब द्रव्य उस एकही प्रकृतिको देना चाहिये।

करनेपर ग्यारह भाग होते हैं। इनके सिवाय नामकर्मकी अन्य प्रकृतियोंमें कोई अवान्तर विभाग नहीं होता, जो भाग मिलता है वह पूरा बंधनेवाली उस एक प्रकृतिको ही मिलजाता है। क्योंकि अन्यप्रकृतियां आपसमें विरोधिनी हैं, एकका बन्ध होनेपर दूसरीका बन्ध नहीं होता। जैसे, एक गतिका बन्ध होनेपर दूसरी गतिका बन्ध नहीं होता। इसी तरह जाति, संस्थान

पाठक देखेंगे कि नामकमके बटवारेमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक द्रव्य प्रकृतियोंको दिया गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंमें क्रमसे हीन हीन द्रव्य बांटा जाता है, किन्तु अन्तराय और नामकर्मकी प्रकृतियोंमें क्रमसे अधिक अधिक द्रव्य बांटा जाता है। वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बंधती है। अतः मूलप्रकृतिको जो द्रव्य मिलता है, वह उस एकही प्रकृतिको मिलजाता है। इस प्रकार **कर्मकाण्ड**के अनुसार पुद्गलद्रव्यका बटवारा जानना चाहिये।

कर्मप्रकृति (प्रदेशबन्ध गा० २८) में दलिकोंके विभागका पूरा पूरा विवरण तो नहीं दिया किन्तु उत्तर प्रकृतियोंमें कर्मदलिकके विभागकी हीनाधिकता बतलाई है। अर्थात् यह बतलाया है कि किस प्रकृतिको अधिक भाग मिलता है और किसको कम भाग मिलता है। उससे यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियों में विभाग का क्या और कैसा क्रम है। अतः **कर्मकाण्ड**के मन्तव्यके साथ **कर्मप्रकृति**के मंतव्य की तुलना कर सकनेके लिये उसे हम यहां देते हैं—

ज्ञानावरण—१-केवलज्ञानावरणका भाग सबसे कम, २-मनःपर्ययज्ञानावरणका उससे अनन्तगुणा, ३-अवधिज्ञानावरणका मनःपर्ययसे अधिक, ४-श्रुतज्ञानावरणका उससे अधिक, और ५-मतिज्ञानावरणका उससे अधिक भाग है।

दर्शनावरण—१-प्रचलाका सबसे कम, २-निद्राका उससे अधिक, ३-प्रचलाप्रचलाका उससे अधिक, ४-निद्रानिद्राका उससे अधिक, ५-स्त्यान-

और संहनन भी एक समयमें एक ही बंधता है। तथा त्रसादिक दसका बन्धहोनेपर स्थावरादिक दसका बन्ध नहीं होता।

गोत्रकर्मको जो भाग मिलता है वह सबका सब उसकी बंधनेवाली एक प्रकृतिका ही होता है, क्योंकि गोत्रकर्मकी एक समयमें एकही प्रकृति बंधती

द्धिका उससे अधिक, ६-केवलदर्शनावरणका उससे अधिक, ७-अवधिदर्शनावरणका उससे अनन्तगुणा, ८-अचक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक, और ९-चक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक भाग होता है।

वेदनीय—असातवेदनीयका सबसे कम और सातवेदनीयका उससे अधिक द्रव्य होता है।

मोहनीय—१-अप्रत्याख्यानावरण मानका सबसे कम, २-अप्रत्याख्यानावरण क्रोधका उससे अधिक, ३-अप्रत्याख्यानावरण मायाका उससे अधिक, और ४-अप्रत्याख्यानावरण लोभका उससे अधिक भाग है। उससे इसी तरह ८-प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका उत्तरोत्तर भाग अधिक है। उससे इसी तरह १२-अनन्तानुबन्धी चतुष्कका भाग उत्तरोत्तर अधिक है। उससे १३-मिथ्यात्वका भाग अधिक है। मिथ्यात्वसे १४-जुगुप्साका भाग अनन्तगुणा है। उससे १५-भयका भाग अधिक है। १७-हास्य और शोकका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर १९-रति और अरतिका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २१-स्त्री और नपुंसक वेदका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २२-संज्वलन क्रोधका उससे अधिक, २३-संज्वलन मानका उससे अधिक, २४-पुरुषवेदका उससे अधिक, २५-संज्वलन मायाका उससे अधिक और २६-संज्वलन लोभका उससे असंख्यात गुणा भाग है।

आयुकर्म—चारों प्रकृतियोंका समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बंधती है।

नाम—गतिनामकर्ममें-२-देव गति और नरक गतिका सबसे कम,

है। अन्तराय कर्मको जो भाग मिलता है वह पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पांचो उत्तरप्रकृतियोंको मिलता है; क्योंकि ध्रुवबन्धी होनेके कारण वे पांचों प्रकृतियां सदा बंधती हैं।

किन्तु परस्परमें बराबर, ३-मनुष्यगतिका उससे अधिक, और ४-तिर्यञ्चगति का उससे अधिक भाग है।

जातिनामकर्ममें—४-द्वीन्द्रिय आदि चारों जातियोंका सबसे कम, किन्तु आपसमें बराबर, और ५-एकेन्द्रिय जातिका उससे अधिक भाग है।

शरीर नामकर्ममें--१-आहारकका सबसे कम, २-वैक्रियशरीरका उससे अधिक ३-औदारिकशरीरका उससे अधिक, ४-तैजसशरीरका उससे अधिक और ५-कार्मणशरीरका उससे अधिक भाग है।

इसी तरह पांचो संघातों का भी समझना चाहिये।

अङ्गोपाङ्गनामकर्ममें-१-आहारक अङ्गोपाङ्गका सबसे कम, २-वैक्रियका उससे अधिक, और ३-औदारिकका उससे अधिक भाग है।

बन्धनमें--१-आहारकआहारकबन्धनका सबसे कम, २-आहारक-तैजसबन्धन का उससे अधिक, ३-आहारककार्मण बन्धनका उससे अधिक, ४-आहारकतैजसकार्मणबन्धनका उससे अधिक, ५-वैक्रियवैक्रियबन्धन का उससे अधिक, ६-वैक्रियतैजसबन्धनका उससे अधिक, ७-वैक्रियकार्मण बन्धन का उससे अधिक, ८-वैक्रियतैजसकार्मण बन्धन का उससे अधिक, इसी प्रकार ९-औदारिकऔदारिक बन्धन, १०-औदारिकतैजस बन्धन, ११-औदारिककार्मण बन्धन, १२-औदारिकतैजसकार्मण बन्धन, १३-तैजसतैजस बन्धन, १४-तैजसकार्मण बन्धन और १५-कार्मणकार्मण बन्धनका भाग उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका अधिक अधिक होता है।

संस्थानमें-४-मध्यके चार संस्थानोंका सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर बराबर भाग होता है। ५-उससे समचतुरस्रका और उससे ६-हुण्डक का भाग उत्तरोत्तर अधिक है।

शङ्का—यहां पर, बंधनेवाली प्रकृतियोंमें ही विभागका क्रम बतलाया है। किन्तु जब अपने अपने गुणस्थानमें किन्हीं प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होजाता है, तो उन प्रकृतियोंके भागका क्या होता है ?

उत्तर—जिन प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होजाता है, उनका भाग उनकी सजातीय प्रकृतियोंमें ही विभाजित होजाता है। यदि सभी सजातीय प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद हो जाता है तो उनके हिस्सेका द्रव्य उनकी मूलप्रकृतिके ही अन्तर्गत जो विजातीय प्रकृतियां हैं, उनको मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियोंका भी बन्ध रुक जाता है, तो उस मूल प्रकृति-

---

संहननमें-५-आदिके पाँच संहननोंका द्रव्य बराबर बराबर किन्तु सबसे थोड़ा है, उससे ६-सेवार्त का अधिक है।

वर्णमें-१-कृष्णका सबसे कम, और २-नील, ३-लोहित, ४-पीत तथा ५-शुक्ल का एकसे दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

गन्धमें-१-सुगन्ध का कम और २-दुर्गन्ध का उससे अधिक भाग है।

रसमें-१-कटुक रसका सबसे कम और २-तिक्त, ३-कषैला, ४-खट्टा और ५-मधुरका उत्तरोत्तर एकसे दूसरे का अधिक अधिक भाग है।

स्पर्शमें-२-कर्कश और गुरु स्पर्शका सबसे कम, ४-मृदु और लघु स्पर्शका उससे अधिक, ६-रूक्ष और शीतका उससे अधिक तथा ८-स्निग्ध और उष्णका उससे अधिक भाग है। चारों युगलोंमें जो दो दो स्पर्श हैं उनका आपसमें बराबर बराबर भाग है।

आनुपूर्वीमें-१-देवानुपूर्वी और २-नरकानुपूर्वीका भाग सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर होता है। उससे ३-मनुष्यानुपूर्वी और ४-तिर्यगानुपूर्वीका क्रमसे अधिक अधिक भाग है।

त्रसादि बीसमें-त्रसका कम, स्थावरका उससे अधिक। पर्याप्तका कम, अपर्याप्तका उससे अधिक। इसी तरह प्रत्येक साधारण, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ, सुभग दुर्भग, सूक्ष्म बादर, और आदेय अनादेयका भी समझना

को द्रव्य न मिलकर अन्य मूलप्रकृतियोंको मिल जाता है। जैसे, स्त्यानर्द्धि निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर, उनके हिस्सेका सब द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचलाको मिलता है। निद्रा और प्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर उनका द्रव्य अपनी ही मूलप्रकृतिके अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण वगैरह विजातीय प्रकृतियोंको मिलता है। उनके भी बन्धका विच्छेद होनेपर ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें सब द्रव्य सातवेदनीयका ही होता है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये।

चाहिये। तथा अयशःकीर्तिका सबसे कम और यशःकीर्तिका उससे अधिक भाग है। आतप, उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दुस्वरका परस्परमें बराबर भाग है।

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थङ्कर नामका अल्पबहुत्व नहीं होता, क्योंकि अल्पबहुत्वका विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियोंमें ही किया जाता है। जैसे कृष्णनाम कर्मके लिये वर्णनाम कर्मके शेष भेद सजातीय हैं। तथा सुभग और दुर्भग परस्परमें विरोधी हैं। किन्तु उक्त प्रकृतियां न तो सजातीय ही हैं, क्योंकि वे किसी एक ही पिण्ड-प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियां नहीं है। तथा विरोधी भी नहीं है; क्योंकि उनका बन्ध एक साथ भी हो सकता है।

गोत्रकर्म–में नीच गोत्रका कम उच्च गोत्रका अधिक है।

अन्तराय–में दानान्तरायका सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायका उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

यह अल्पबहुत्व उत्कृष्ट पदकी अपेक्षासे है।

जघन्य पदकी अपेक्षासे ज्ञानावरण, और वेदनीयका अल्पबहुत्व पूर्ववत् ही है। दर्शनावरणमें निद्राका सबसे कम, प्रचलाका उससे अधिक, निद्रा-निद्राका उससे अधिक, प्रचला प्रचलाका उससे अधिक, स्त्यानर्द्धिका उससे

बतलाई गई रीतिके अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियोंको जो कर्मदलिक मिलते हैं, गुणश्रेणिरचनाके द्वारा ही जीव उन कर्मदलिकोंके बहुभागका क्षपण करता है। अतः गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाते हुए पहले उसकी संख्या और नाम बतलाते हैं—

अधिक, शेष पूर्ववत् भाग है। मोहनीयमें केवल इतना अन्तर है कि तीनों वेदोंका भाग परस्परमें तुल्य है और रति अरति से विशेषाधिक है। उससे संज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभका उत्तरोत्तर अधिक है। आयुमें तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका सबसे कम है और देवायु नरकायुका उससे असंख्यात गुणा है। नामकर्ममें तिर्यञ्चगतिका सबसे कम, मनुष्य गतिका उससे अधिक, देवगतिका उससे असंख्यातगुणा और नरकगतिका उससे असंख्यातगुणा भाग है। जातिका पूर्ववत् है। शरीरोंमें औदारिकका सबसे कम, तैजसका उससे अधिक, कार्मणका उससे अधिक, वैक्रियका उससे असंख्यातगुणा, आहारकका उससे असंख्यातगुणा भाग है। संघात और बन्धनमें भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिये। अङ्गोपाङ्गमें औदारिकका सबसे कम, वैक्रियका उससे असंख्यातगुणा, आहारकका उससे असंख्यातगुणा भाग है। आनुपूर्वीका पूर्ववत् है। शेष प्रकृतियोंका भी पूर्ववत् जानना चाहिये। गोत्र और अन्तराय कर्मका भी पूर्ववत् है।

१—पञ्चसङ्ग्रहमें इन गुणश्रेणियोंको निम्न प्रकारसे बतलाया है—

"संमत्तदेससपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसंजोगे।
दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसंत खवगे य॥ ३१४॥
खीणाइतिगे असंखगुणियगुणसेढिदलिअ जहकमसो।
संमत्ताइणेक्कारसण्ह कालो उ संखंसे॥ ३१५॥"

अर्थात्—सम्यक्त्व, देशविरति और संपूर्ण विरतिकी उत्पत्तिमें, अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें, दर्शनमोहनीयके क्षपणमें, मोहनीयके उपशमनमें, उप-

सम्मदरसव्वविरई[1] अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन, दर्शनमोहनीयका क्षपक, चारित्रमोहनीयका उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, ये ग्यारह गुणश्रेणि होती हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके दलिकोंका वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती । यद्यपि स्थिति और रसका घात तो बिना ही वेदन किये शुभ परिणाम वगैरहके द्वारा किया जा सकता है, किन्तु दलिकोंकी निर्जरा वेदन किये बिना नहीं हो सकती । यों तो जीव प्रतिसमय कर्मदलिकोंका अनुभवन करता रहता है, अतः कर्मोंकी भोगजन्य निर्जरा, जिसे औपक्रमिक अथवा सविपाक निर्जरा भी कहते हैं, उसके प्रतिसमय होती रहती है । किन्तु इस तरहसे एक तो परिमित कर्मदलिकोंकी ही निर्जरा होती है, दूसरे भोगजन्य निर्जरा नवीन कर्मबन्धका भी कारण है, अतः उसके द्वारा कोई जीव कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता । अतः उसके लिये कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक कर्मपरमाणुओंका क्षपण होना आवश्यक है । तथा उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ती ही जानी चाहिये । इसे ही गुणश्रेणि निर्जरा कहते हैं । इस प्रकारकी निर्जरा तभी होती है, जब आत्माके भावोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होती है । अर्थात् जीव उत्तरोत्तर विशुद्धिस्थानोंपर आरोहण करता जाता है । ये विशुद्धिस्थान, जो गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचनाका कारण होनेसे गुणश्रेणि भी कहे जाते हैं, ग्यारह होते हैं ।

शान्तमोहमें, क्षपक श्रेणिमें, और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानोंमें क्रमशः असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है । तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियोंका काल क्रमशः संख्यातवें भाग संख्यातवें भाग है ॥

1—रई उ ख० प्र० ।

उक्त गाथामें उन्हीं ग्यारह स्थानोंके नाम बतलाये हैं। जीव प्रथम सम्यक्त्व-की प्राप्तिके लिये अपूर्वकरण वगैरहको करते समय प्रतिसमय असंख्यात-गुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है, तथा सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेके बाद भी उसका क्रम जारी रहता है। यह सम्यक्त्व नामकी पहली गुणश्रेणि है। आगे की अन्य श्रेणियोंकी अपेक्षासे इस श्रेणिमें अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मन्द विशुद्धि रहती है, अतः उनकी अपेक्षासे इसमें कम कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उनके वेदन करनेका काल अधिक होता है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात् जीव जब विरतिका एकदेश पालन करता है तब देशविरतिनामकी दूसरी गुणश्रेणि होती है। इसमें प्रथम गुणश्रेणिकी अपेक्षासे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु वेदन करनेका समय उससे संख्यातगुणा कम होता है। संपूर्ण विरति-का पालन करनेपर तीसरी गुणश्रेणि होती है। देशविरतिसे इसमें अनन्त-गुणी विशुद्धि होती है, अतः इसमें उससे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकों-की गुणश्रेणिरचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उससे संख्यातगुणा हीन होता है। इसी तरह आगे आगेकी गुणश्रेणिमें असंख्यात-गुणे असंख्यातगुणे अधिक कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन होता जाता है।

जब जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करता है, अर्थात् अन-न्तानुबन्धी कषायके समस्त कर्मदलिकोंको अन्य कषायरूप परिणमाता है, तब चौथी गुणश्रेणि होती है। दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका विनाश करते समय पांचवी गुणश्रेणि होती है। आठवें नौवें और दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशमन करते समय छठी गुणश्रेणि होती है। उपशा-न्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें सातवीं गुणश्रेणि होती है। क्षपकश्रेणिमें चारित्रमोहनीयका क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह

नामक बारहवें गुणस्थानमें नवमी गुणश्रेणि होती है। सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें दसवीं गुणश्रेणि होती है। और अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है। इन सभी गुणश्रेणियोंमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन लगता है। अर्थात् कम समयमें अधिक अधिक कर्मदलिक खपाये जाते हैं। इसीसे उक्त ग्यारह स्थान गुणश्रेणि[1] कहलाते हैं।

---

१ गोमट्टसार जीवकाण्डमें भी इसी क्रमसे गुणश्रेणियोंकी गणना की है, जो इस प्रकार है–

"सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य उवसंते॥ ६६॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति॥ ६७॥"

अर्थात्–सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर, श्रावकके, मुनिके, अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेकी अवस्थामें, दर्शनमोहका क्षपण करने वालेके, कषायका उपशम करने वालेके, उपशान्त मोहके, क्षपक श्रेणिके तीन गुण-स्थानोंमें, क्षीणमोह गुणस्थानमें, तथा स्वस्थान केवलीके और समुद्घात करने वाले केवलीके गुणश्रेणि निर्जराका द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा असंख्यात-गुणा है, और काल उससे विपरीत है। अर्थात् समुद्घातगत केवलीसे लेकर सम्यक्त्व स्थान तक उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा काल लगता है। अथवा यह कहना चाहिये कि काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है। इसमें कर्मग्रन्थसे केवल इतना ही अन्तर है कि अयोग केवलीके स्थानमें समु-द्घातगत केवलीको गिनाया है।

तत्त्वार्थसूत्र ९–४५ में सयोगी अयोगीके स्थानमें केवल 'जिन'को रखा है। और टीकाकारोंने उसे एक ही स्थान गिना है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

इन गुणश्रेणियोंका यदि गुणस्थानके क्रमसे विभाग किया जाये, तो उनमें चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सभी गुणस्थान सम्मिलित हो जाते हैं। तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी उनमें सम्मिलित हो जाता है। विशुद्धिकी वृद्धि होनेपर ही चौथे पांचवे आदि गुणस्थान होते हैं अतः आगे आगेके गुणस्थानोंमें जो उक्त गुणश्रेणियां होती हैं उनमें तो अधिक अधिक विशुद्धिका होना स्वाभाविक ही है।

गुणश्रेणिके ग्यारह स्थानोंको बतला कर, अब उसका स्वरूप, तथा जिस गुणश्रेणिमें जितनी निर्जरा होती है, उसका कथन करते हैं—

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

अर्थ—उदयक्षणसे लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी रचनाको गुणश्रेणि कहते हैं। पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति वगैरह गुणवाले जीव क्रमशः असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करते हैं।

भावार्थ—इस गाथाकी पहली पंक्तिमें गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाया है, और दूसरी पंक्तिमें इससे पहलेकी गाथामें बतलाये गये गुणश्रेणिवाले जीवोंके निर्जराका प्रमाण बतलाया है। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व देशविरति वगैरह* जो गुणश्रेणिके ग्यारह प्रकार बतलाये हैं, वे स्वयं गुणश्रेणि नहीं है किन्तु गुणश्रेणिके कारण हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें

में सयोगी और अयोगीको ही गिनाया है। यथा—

"खवगो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया ।
एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया ॥ १०८ ॥"

किन्तु इसकी संस्कृत टीकामें टीकाकारने स्वस्थान केवली और समुद्घातगत केवलीको ही गिनाया है, 'अजोईया'को उन्होंने छोड़ ही दिया है।

गुणश्रेणि कहा गया है। जैसे कहावत है कि 'अन्न ही प्राण है'। किन्तु अन्न प्राण नहीं है, किन्तु प्राणोंका कारण है, इसलिये उसे प्राण कह देते हैं। इसीतरह सम्यक्त्व वगैरह भी गुणश्रेणिके कारण हैं, किन्तु स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं। गुणश्रेणि तो एक क्रियाविशेष है, जो इस गाथामें बतलाई गई है। इस क्रियाको समझनेके लिये हमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी प्रक्रियापर दृष्टि डालनी होगी। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करणोंको करता है। अपूर्वकरणमें प्रवेश करते ही चार काम होने प्रारम्भ हो जाते हैं—एक स्थितिघात, दूसरा रसघात, तीसरा नवीन स्थितिबन्ध और चौथा गुणश्रेणि। स्थितिघातके द्वारा पहले बांधे हुए कर्मोंकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। जिन कर्मदलिकोंकी स्थिति कम हो जाती है, उनमेंसे प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण करके उदय समयसे लेकर ऊपरकी ओर स्थापित कर दिये जाते हैं। **कर्मप्रकृति-** (उपशमनाकरण) की पन्द्रहवीं गाथाकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

"उवरिल्लाओ ट्ठितिउ पोग्गले घेत्तूण उदयसमये थोवा पक्खिवति, वितियसमये असंखेज्जगुणा एवं जाव अन्तोमुहुत्तं।"

अर्थात्—'ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंको ग्रहण करके उनमेंसे उदयसमयमें थोड़े दलिकोंका निक्षेपण करता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय

---

१ "गुणसेढी निक्खेवो समये समये असंखगुणणाए।
अद्धादुगाइरित्तो सेसे सेसे य निक्खेवो ॥ १५ ॥"

अर्थ-प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंके निक्षेपण करने को गुणश्रेणी कहते हैं। उसका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके काल से कुछ अधिक है। इस कालमें से ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों ऊपरके शेष समयोंमें ही दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है।

तक (प्रतिसमय) असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है।'

खुलासा यह है कि स्थितिघातके द्वारा उन्हीं दलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक होती है। अतः स्थितिका घात करदेनेसे जो कर्मदलिक बहुत समय बाद उदयमें आते, वे तुरत ही उदयमें आने योग्य होजाते हैं। इसलिये जिन कर्मदलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है, उनमेंसे प्रतिसमय कर्मदलिकोंको ले लेकर, उदयसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तिम समयतक असंख्यात गुणितक्रमसे उनकी स्थापनाकी जाती है। अर्थात् पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे थोड़े दलिक उदय समयमें दाखिल करदिये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक उदय समयसे ऊपरके द्वितीय समयमें दाखिल करदिये हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें दाखिल कर दिये जाते हैं। इसी क्रमसे अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समयतक असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी स्थापना की जाती है। यह प्रथम समयमें गृहीत दलिकोंके स्थापन करनेकी विधि है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें गृहीत दलिकोंके निक्षेपणकी विधि जानना चाहिये। अन्तर्मुहूर्तकाल तक यह क्रिया होती रहती है। इसीको गुणश्रेणि कहते हैं। जैसा कि **कर्मप्रकृति**की उक्त पन्द्रहवीं गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने लिखा है—

"अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाह-यत्स्थितिकण्डकं घातयति तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयं यावत् प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया निक्षिपति। उक्तं च-'उवरिल्लठिइहिंतो घित्तूणं पुग्गले उ सो खिवइ। उदयसमयम्मि थोवे तत्तो अ असंखगुणिए उ॥ १॥ बीयम्मि खिवइ समए तइए तत्तो असंखगुणिए उ। एवं समए समए अन्तमुहुत्तं तु जा पुन्नं॥२॥' एषः प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः। एव-

मेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधि-द्रष्टव्यः। किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुण-श्रेणिचरमसमयं यावद् गृह्यमाणं दलिकं यथोत्तरमसख्येयगुणं द्रष्टव्यम्। उक्तञ्च-'दलियं तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे। उवरिल्लठिइहिंतो वियम्मि असंखगुणियं तु॥१॥ गिण्हइ समए दलियं तइए समए असंखगुणियं तु। एवं समए समए जा चरिमो अंतसमओत्ति॥ २॥' इहान्तर्मुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चापूर्वकरणानिवृत्ति-करणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्यः, तावत्कालमध्ये चाध-स्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे शेषक्षणेषु दलिकं रचयति, न पुन-रुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति। उक्तं च-"सेढीइ कालमाणं दुण्णय-करणाण समहियं जाण। खिज्जइ सा उदयणं जं सेसं तम्मि णिक्खेओ।' इति।"

अर्थात् 'अब गुणश्रेणिका[1] स्वरूप कहते हैं—जिस स्थितिकण्डकका घात करता है उसमेंसे दलिकोंको लेकर, उदयकालसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके अन्तिम-

---

१ लब्धिसारमें गाथा ६८ से ७४ तक गुणश्रेणिका विधान कहा है, जिसका आशय इस प्रकार है-गुणश्रेणिरचना जो प्रकृतियां उदयमें आरहीं हैं, उनमें भी होती है और जो प्रकृतियां उदय में नहीं आरही हैं उनमें भी होती है। अन्तर केवल इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षेपण तो उदयावली गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है। किन्तु जो प्रकृतियां उदयमें नहीं होतीं, उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है, उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता। आशय यह है कि वर्तमान समयसे लेकर एक आवली तकके समयमें जो निषेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया-वलीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावलीके ऊपर गुणश्रेणिके

समय तकके प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है। कहा भी है—'ऊपरकी स्थितिसे पुद्गलोंको लेकर उदयकालमें थोड़े स्थापन करता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे स्थापन करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालकी समाप्ति तकके समयोंमें असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है।' यह प्रथम समयमें ग्रहण किये हुए दलिकोंके निक्षेपणकी विधि है। इसी ही तरह दूसरे आदि समयोंमें ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। तथा, गुणश्रेणिरचनाके लिये प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण किये जाते हैं। कहा भी है—"ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करते हुए, प्रथम समयमें थोड़े दलिकोंका ग्रहण करता हैं, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। तीसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण करता है।" यहां निक्षेपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है और

समयोंके बराबर जो निषेक हैं, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणिमें दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणिसे ऊपरके, अन्तके कुछ निषेकोंको छोड़कर, शेष सर्व निषेकोंमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपरकी स्थितिमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इस क्रियाको मिथ्यात्वके उदाहरणके द्वारा यों समझना चाहिये-

मिथ्यात्वके द्रव्यमें अपकर्षण भागहारका भाग देकर, एक भाग बिना, बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है। शेष एक भागको पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभागका स्थापन ऊपरकी स्थितिमें करता है। शेष एक भागमें असंख्यातलोकका भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणि आयाममें देता है। शेष एक भाग उदयावलीमें देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि

दलिकोंकी रचनारूप गुणश्रेणिका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालोंसे कुछ अधिक जानना चाहिये। इसकालमेंसे नीचे नीचेके उदयक्षण-का अनुभव करनेके बाद क्षय होजानेपर, बाकीके क्षणोंमें दलिकोंकी रचना करता है। किन्तु गुणश्रेणिको ऊपरकी ओर नहीं बढ़ाता है। कहा है—"गुणश्रेणिका काल दोनों करणोंके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिये। उदयके द्वारा उसका काल क्षीण होता जाता है, अतः जो शेषकाल रहता है उसीमें दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है।"

सारांश यह है कि गुणश्रेणिका काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः अन्तर्मुहूर्त तक ऊपरकी स्थितिमेंसे कर्मदलिकोंका प्रतिसमय ग्रहण किया जाता है। और प्रति समय जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका स्थापन असं-ख्यातगुणित क्रमसे उदयक्षणसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तिम समय-तकमें कर दिया जाता है। जैसे यदि अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण १६ समय कल्पना किया जाये तो गुणश्रेणिके प्रथम समयमें जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन पूर्वोक्तप्रकारसे १६ समयोंमें किया जायेगा। दूसरे समयमें जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन बाकीके पन्द्रह समयों-में ही होगा क्योंकि पहले उदयक्षणका वेदन होचुका। तीसरे समयमें

रचनाके लिये गुणश्रेणि कालके अन्तिम समयपर्यन्त असंख्यातगुण असंख्या-तगुणे द्रव्यका अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधानके अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि आयाम और ऊपरकी स्थितिमें उस द्रव्यका स्थापन करता है। इस प्रकार आयुके सिवाय शेष सातकर्मोंका गुणश्रेणिविधान जानना चाहिये।

जीवकाण्ड गाथा ६६-६७ की टीकामें भी गुणश्रेणिका विस्तारसे वर्णन किया है।

पञ्चसंग्रहमें भी गुणश्रेणिका स्वरूप उपर्युक्त प्रकार ही बतलाया है—

"घाइयठिइओ दलियं घेत्तुं घेत्तुं असंखगुणणाए।
साहियदुकरणकाले उदयाइ रयइ गुणसेढिं ॥ ७४६ ॥"

जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन शेष चौदह समयोंमें ही होगा। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि प्रत्येक समयमें गृहीत दलिकोंका स्थापन सोलह ही समयोंमें होता है और इस तरह गुणश्रेणिका काल ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त कालतक असंख्यात गुणित क्रमसे जो दलिकोंकी स्थापनाकी जाती है उसे गुणश्रेणि कहते हैं। सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय जीव इस प्रकारकी गुणश्रेणि रचना करता है। गुणश्रेणि उदयसमयसे होती है और ऊपर ऊपर असंख्यातगुणे असंख्यात-गुणे दलिक स्थापित किये जाते हैं। अतः गुणश्रेणि करनेवाला जीव ज्यों ज्यों ऊपरकी ओर चढ़ता जाता है त्यों त्यों प्रतिसमय असंख्यातगुणी असंख्यात-गुणी निर्जरा करता जाता है। क्योंकि जिस क्रमसे दलिक स्थापित होते हैं उसी क्रमसे वे प्रतिसमय उदयमें आते हैं। अतः वे असंख्यात गुणितक्रमसे स्थापित किये जाते हैं और उसी क्रमसे उदयमें आते हैं, अतः सम्यक्त्वमें असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके लिये जीव यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण ही करता है, तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं करता। तथा अपूर्व-करणमें यहां गुणश्रेणिरचना भी नहीं होती, और अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर नियमसे देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होजाती है। इसीसे तीसरे अनिवृत्तिकरणकी आवश्यकता नहीं होती। उक्त दोनों करण यदि अविरत-दशामें किये जाते हैं तब तो देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होती है, और यदि देशविरत दशामें किये जाते हैं तो नियमसे सर्वविरति प्राप्त होती है। देशविरति अथवा सर्वविरतिकी प्राप्ति होनेपर जीव उदयावलिके ऊपर गुणश्रेणिकी रचना करता है। इसका कारण यह है कि जो प्रकृतियाँ उदयवती होती हैं, उनमें तो उदयक्षणसे लेकर ही गुणश्रेणि होती है, किन्तु जो प्रकृतियाँ अनुदयवती होती हैं, उनमें उदयावलिकाके ऊपरके समयसे लेकर गुणश्रेणि होती है। पाँचवे गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण और छट्ठे

में प्रत्याख्यानावरण कषाय अनुदयवती हैं अतः उनमें उदयावलिकाको छोड़कर ऊपरके समयसे गुणश्रेणि होती है। देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तकालतक जीवके परिणाम वर्धमान रहते हैं। उसके बाद कोई नियम नहीं है--किसीके परिणाम वर्धमान रहते हैं, किसीके तदवस्थ रहते हैं, और किसीके हीयमान होजाते हैं। तथा जबतक देश-विरति या सर्वविरति रहती है, तबतक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। किन्तु यहां इतनी विशेषता[2] है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्रके साथ उदयावलिके ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त कालतक असंख्यातगुणितक्रमसे गुणश्रेणिकी रचना करता है, क्योंकि परिणामोंकी नियत वृद्धिका काल उतना ही है। उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते हैं तो परि-णामोंके अनुसार कभी असंख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातगुणी और कभी असंख्यातगुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम होते हैं तो उस समय उक्त प्रकारसे ही हीय-मान गुणश्रेणिको करता है, और अवस्थितदशामें अवस्थित गुणश्रेणि-को करता है। अर्थात् वर्धमान दशामें दलिकोंकी संख्या बढ़ती हुई होती है, हीयमान दशामें घटती हुई होती है और अवस्थित दशामें अवस्थित रहती है। अतः देशविरति और सर्वविरतिमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

अनन्तानुबन्धी[3] कषायका विसंयोजन अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत

---

१ देखो, कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) गा० २८, २९ की चूर्णि और टीकाएँ।

२ "उदयावलिए उप्पिं गुणसेढिं कुणइ सह चरित्तेण।
अंतो असंखगुणणाए तत्तियं वड्डए कालं ॥७६३॥" पञ्चसंग्रह।

३ "चउगइया पज्जत्ता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ॥३१॥"
कर्मप्रकृति (उप०)

और सर्वविरत जीव करते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तो चारों गतिके लेने चाहियें, देशविरत मनुष्य और तिर्यञ्च ही होते हैं, और सर्वविरत मनुष्य ही होते हैं। जो जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेके लिये उद्यत होता है, वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणोंको करता है। यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही गुणसंक्रम भी होने लगता है। अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें अनन्तानुबन्धी कषायके थोड़े दलिकोंका शेष कषायोंमें संक्रमण करता है। दूसरे समयमें उससे असंख्यात-गुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। तीसरे समयमें उससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्व-करणके अन्तिम समयतक होती है। उसके बाद अनिवृत्तिकरणमें गुणसंक्रम और उद्वलन संक्रमणके द्वारा समस्त दलिकोंका विनाश करदेता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

दर्शनमोहनीयके[1] क्षपणका प्रारम्भ वज्रऋषभनाराच संहननका धारक मनुष्य आठवर्षकी अवस्थाके बाद करता है। किन्तु यह काम जिनकालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही कर सकता है। अर्थात् ऋषभ जिनसे लेकर जम्बूस्वामीको केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने तकके कालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य दर्शनमोहका क्षपण कर सकता है। दर्शन मोहनीयकी क्षपणा भी उसी प्रकारसे जाननी चाहिये जैसा कि पहले अनन्तानुबन्धी कषायकी बतला आये हैं। यहां पर भी पूर्ववत् तीनों करण करता है और अपूर्वकरणमें गुणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं।

उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव भी तीनों करणोंको करता

---

१ "दंसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ।
जिणकालगो मणुस्सो पट्ठवगो अट्ठवासुप्पिं ॥ ३२ ॥"
कर्मप्रकृति (उपशम०)

है। यहां इतना अन्तर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवें गुणस्थानमें करता है। अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामके गुणस्थानमें और अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामके गुणस्थानमें करता है। यहां परभी पूर्ववत् स्थितिघात गुणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं। अतः उपशमक भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीयका उपशम करनेके बाद उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँच कर भी जीव गुणश्रेणिरचना करता है। उपशान्तमोहका काल अन्तर्मुहूर्त है और उसके संख्यातवें भाग कालमें गुणश्रेणिकी रचना होती है। अतः यहां पर भी जीव प्रति समय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थान तक आकर जब जीव क्षपकश्रेणि चढ़ता है, अथवा उपशमश्रेणिपर आरूढ हुए बिना ही सीधा क्षपकश्रेणिपर चढ़ता है तो वहाँपर भी यथाप्रवृत्तकरण,अपूर्वकरण और और अनिवृत्तिकरणको करता है और उनमें उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थानोंसे भी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक गुणश्रेणियोंमें भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

इन ग्यारह गुणश्रेणियोंमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त होने पर भी अन्तर्मुहूर्तका परिमाण उत्तरोत्तर हीन होता है, तथा निर्जरा द्रव्यका परिमाण सामान्यसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा होनेपर भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है। आशय यह है कि उत्तरोत्तर कम कम समयमें अधिक अधिक द्रव्यकी निर्जरा होती है क्योंकि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार गुणश्रेणिका विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणिका वर्णन करते हुए बतला आये हैं कि जीव ज्यों ज्यों आगे आगेके गुणोंको अपनाता जाता है, त्यों त्यों उसके असंख्यातगुणी असं-

ख्यातगुणी निर्जरा होती है। और क्रमशः संक्लेशकी हानि और विशुद्धिका प्रकर्ष होनेपर आगे आगेके गुण ही गुणस्थान कहे जाते हैं। अतः यहां गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते हैं–

पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतरं हस्सं।
गुरु मिच्छी बे छसट्टी इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

अर्थ–सास्वादन गुणस्थानका जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है। और इतर गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। तथा, मिथ्यात्व गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर दो छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है, और इतर गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्ध पुद्गलपरावर्त है।

भावार्थ–हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व, देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणियाँ बतलाई हैं, वे प्रायः गुणस्थान ही हैं। गुणोंके स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं। अतः सम्यक्त्वगुण जिस स्थानमें प्रादुर्भूत होता है, वह सम्यक्त्व गुणस्थान कहा जाता है। देशविरति गुण जिस स्थानमें प्रकट होता है, वह देशविरति गुणस्थान कहा जाता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। उक्त गुणश्रेणियोंका सम्बन्ध गुणस्थानोंके साथ होनेके कारण ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थानसे च्युत होकर जितने समयके बाद पुनः उस गुणस्थानको प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थानका अन्तरकाल कहा जाता है। यहां सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानका जघन्य अन्तराल पल्यके असंख्यातवें भाग बतलाया है, जो इस प्रकार है–

कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीयकी उद्वलना कर देनेवाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सास्वादन-

सम्यग्दृष्टि होकर, मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाता है। वही जीव यदि उसी क्रमसे पुनः सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त करता है तो कमसे कम पल्यके असंख्यातवें भाग कालके बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सास्वादन गुणस्थानसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें आनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृतियोंकी सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होते हुए पुनः औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होसकता, और औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त किये बिना सास्वादन गुणस्थान नहीं हो सकता। अतः मिथ्यात्वमें जानेके बाद जीव सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व-मोहनीयकी प्रतिसमय उद्वलना करता है, अर्थात् उक्त दोनों प्रकृतियोंके दलिकोंको मिथ्यात्व मोहनीयरूप परिणमाता रहता है।

इस प्रकार उद्वलन[1] करते करते पल्यके[2] असंख्यातवें भाग कालमें उक्त दोनों प्रकृतियोंका अभाव हो जाता है। और उसके होने पर वही जीव पुनः औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके सास्वादन गुणस्थानमें आ जाता है। अतः सास्वादन गुणस्थानका अन्तराल पल्यके असंख्यातवें भागसे कम नहीं हो सकता।

शङ्का–कोई कोई जीव उपशमश्रेणिसे गिरकर सास्वादन गुणस्थानमें आते हैं, और अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः उपशमश्रेणिपर चढ़कर, वहाँसे गिरकर पुनः सास्वादन गुणस्थानमें आ जाते हैं। इस प्रकारसे सास्वादनका जघन्य अन्तर बहुत थोड़ा होता है। अतः उसका जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग क्यों बतलाया गया है?

---

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंके विना ही किसी प्रकृतिको अन्य प्रकृतिरूप परिणमानेको उद्वलन कहते हैं।

२ 'पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन ते सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयतः स्तोके उद्वलनसंक्रमे तयोर्जघन्यः प्रदेशसंक्रमः।'

(कर्मप्रकृति, मलय० टी० गा० १०० संक्रम०)

उत्तर-उपशमश्रेणिसे च्युत होकर जो सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगतिमें ही सम्भव है और वहाँ पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है । अत: यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है । किन्तु उपशमसम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सास्वादनकी प्राप्ति बतलाई है, वह चारों गतिमें सम्भव है । अत: उसकी अपेक्षासे ही सास्वादनका जघन्य अन्तराल बतलाया है ।

सास्वादनके सिवाय बाकीके गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशमश्रेणिके अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन गुणस्थानोंको पुन: प्राप्त कर लेता है । अत: उनका जघन्य अन्तराल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है । क्योंकि जब कोई जीव उपशमश्रेणि पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है, और वहाँसे गिरकर क्रमश: उतरते उतरते मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आ जाता है । उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें पुन: ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है । क्योंकि एक भवमें दो बार उपशम श्रेणिपर चढ़नेका विधान शास्त्रोंमें[1] पाया जाता है उस समय मिश्रगुणस्थानके सिवाय उक्त बाकीके गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकका जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त होता है ।

यहाँ मिश्रगुणस्थानको इसलिये छोड़ दिया है कि श्रेणिसे गिरकर जीव मिश्र गुणस्थानमें नहीं जाता है । अत: जब जीव श्रेणि पर नहीं चढ़ता तब मिश्र गुणस्थानका और सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तके बाद पुन: प्राप्त हो सकते हैं । बाकीके क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोंका अन्तरकाल नहीं होता, क्योंकि ये गुणस्थान

---

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा ।' कर्मप्रकृति गा० ६४, तथा पञ्चसङ्ग्रह गा० ९३ । उपशम० ।

एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर होता है।

उत्कृष्ट अन्तर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका एकसौ बत्तीस सागर है, जो इस प्रकार है—कोई जीव विशुद्ध परिणामोंके कारण मिथ्यात्वगुणस्थानको छोड़कर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यात्वमें चला जाता है। वहाँ से पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके छियासठ सागरकी समाप्तितक यदि उसने मुक्ति लाभ नहीं किया तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्वमें जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर एक सौ बत्तीस सागरसे कुछ अधिक होता है। सास्वादनसे लेकर उपशान्तमोह तक बाकीके गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त है। क्योंकि इन गुणस्थानोंसे भ्रष्ट होकरके जीव अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसके बाद उसे पुनः उक्त गुणस्थानोंकी प्राप्ति होती है। अतः इन गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त होता है। बाकीके क्षीणमोह वगैरह गुणस्थानोंका अन्तर नहीं होता, यह पहले कह ही आये हैं।

सास्वादनका जघन्य अन्तर पल्योपम कालके असंख्यातवें भाग बतलाया है। अतः पल्योपमकालका स्वरूप विस्तारसे कहते हैं—

उद्धारअद्धखित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी गुणस्थानोंका अन्तर इतना ही बतलाया है। यथा—

"पलियासंखो सासायणंतरं सेसयाण अंतमुहू।
मिच्छस्स बे छसट्ठी इयराणं पोग्गलद्धंतो ॥ ९५ ॥"

अर्थ—पल्योपम तीन प्रकारका होता है—उद्धार पल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र पल्योपम । उद्धार पल्योपममें प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाता है और उससे द्वीप और समुद्रोंकी संख्या मालूम की जाती है । अद्धा पल्योपममें सौ सौ वर्षके बाद एक एक वालाग्र निकाला जाता है, और उसके द्वारा नारक तिर्यञ्च आदि चारों गतियोंके जीवोंकी आयुका परिमाण जाना जाता है । क्षेत्रपल्योपममें प्रति समय वालाग्रसे स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट एक एक आकाश प्रदेश निकाला जाता है और उसके द्वारा त्रस आदि कायोंका परिमाण जाना जाता है ।

भावार्थ—इस गाथामें पल्योपमके भेद, उनका स्वरूप और उनकी उपयोगिताका संक्षेपमें निर्देश किया है । किन्तु **अनुयोगद्वार**[1] **प्रवचनसारोद्धार**[2] वगैरह[3]में उनका स्वरूप विस्तारसे बतलाया है । अतः गाथामें सूत्ररूपसे कही गई बातोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये, उक्त ग्रन्थोंके आधारपर पल्योपम वगैरहका स्वरूप बतलाया जाता है ।

गाथा ४०-४१में क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाते हुए प्राचीन कालगणनाका थोड़ा सा निर्देश कर आये हैं, और समय, आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्तका स्वरूप बतला आये हैं । तथा ३० मुहूर्तका एक दिनरात, पन्द्रह दिनरातका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, और दो अयनका एक वर्ष तो प्रसिद्ध ही हैं । वर्षोंकी अमुक अमुक संख्याको लेकर प्राचीन कालमें जो संज्ञाएँ निर्धारित की गई थीं, वे इस प्रकार हैं—८४ लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग,

---

१ गा० १०७, सू० १३८ । २ पृ० ३०२ । ३ **द्रव्यलोक०** पृ० ४ ।

४ ये संज्ञाएँ **अनुयोगद्वारके** अनुसार दी गई हैं । **ज्योतिष्करण्डके** अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है—

८४ लाख पूर्वका एक लताङ्ग, ८४ लाख लताङ्गका एक लता, ८४ लाख लताका एक महालताङ्ग, ८४ लाख महालताङ्गका एक महालता, इसी प्रकार

चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वका एक त्रुटिताङ्ग, चौरासी लाख त्रुटिताङ्गका एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटितका एक अडडाङ्ग, चौरासी लाख अडडाङ्गका एक अडड, इसी प्रकार क्रमशः अववाङ्ग, अवव, हुहुअङ्ग, हुहु, उत्पलाङ्ग, उत्पल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, अर्थनिपूराङ्ग, अर्थनिपूर, अयुताङ्ग, अयुत[1], प्रयुताङ्ग, प्रयुत, नयुताङ्ग, नयुत, चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं। इन संज्ञाओंको बतलाकर **अनुयोगद्वारमें** आगे लिखा है—"**एयावया चेव गणिए, एयावया चेव गणिअस्स विसए, एत्तोऽवरं ओवमिए पवत्तइ।**" (सू० १३७)

अर्थात्—'शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करनेसे १९४ अङ्क प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है गणितकी अवधि वहीं तक है, उतनी ही राशि

आगे नलिनाङ्ग, नलिन, महानलिनाङ्ग, महानलिन, पद्माङ्ग, पद्म, महापद्माङ्ग, महापद्म, कमलाङ्ग, कमल, महाकमलाङ्ग, महाकमल, कुमुदाङ्ग, कुमुद, महाकुमुदाङ्ग, महाकुमुद, त्रुटिताङ्ग, त्रुटित, महात्रुटिताङ्ग, महात्रुटित, अडडाङ्ग, अडड, महाअडडाङ्ग, महाअडड, ऊहाङ्ग, ऊह, महाऊहांग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग और शीर्षप्रहेलिकाको समझना चाहिये। (गा० ६४-७१)

काललोकप्रकाशके अनुसार अनुयोगद्वार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह माथुर वाचनाके अनुगत हैं और ज्योतिष्करण्ड वगैरह वल्भी वाचनाके अनुगत हैं। इसीसे दोनोंकी गणनाओंमें अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थ त० राजवार्तिकमें (पृ० १४९) पूर्वाङ्ग, पूर्व, नयुताङ्ग, नयुत, कुमुदाङ्ग, कुमुद, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, कमलाङ्ग, कमल, तुट्याङ्ग, तुट्य, अटटाङ्ग, अटट, अममाङ्ग, अमम, हूहूअंग, हूहू, लताङ्ग, लता, महालता प्रभृति, संज्ञाएं दी हैं।

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें अयुत, नयुत और प्रयुत पाठ है। यथा—"अजुए, नजुए, पजुए।" पृ० ७५ उ०।

गणितका विषय है । उससे आगे उपमा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है ।'

इसका आशय यह है कि जैसे लोकमें जो वस्तुएँ सरलतासे गिनी जा सकती है, उनकी गणनाकी जाती है। जो वस्तुएँ, जैसे तिल,सरसों वगैरह, गिनी नहीं जा सकती, उन्हें तोल या माप वगैरहसे आंक लेते हैं। उसी तरह समयकी जो अवधि वर्षोंके रूपमें गिनी जा सकती है, उसकी तो गणनाकी जाती है और उसके लिये पूर्वाङ्ग पूर्व वगैरह संज्ञाएँ कल्पितकी गई हैं। किन्तु जहाँ समयकी अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षोंमें नहीं की जा सकती तो उसे उपमाप्रमाणके द्वारा जाना जाता है। उस उपमा प्रमाणके दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम । अनाज वगैरह भरनेके गोलाकार स्थानको पल्य कहते हैं । समयकी जिस लम्बी अवधिको उस पल्यको उपमा दी जाती है, वह काल पल्योपम कहलाता है । पल्योपमके तीन भेद हैं—उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र-पल्योपम । इसी प्रकार सागरोपम कालके भी तीन भेद हैं—उद्धार सागरो-पम, अद्धासागरोपम और क्षेत्र सागरोपम । इनमेंसे प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो प्रकारका होता है—एक बादर[1] और दूसरा सूक्ष्म । इनका स्वरूप क्रमशः निम्न प्रकार है—

उत्सेधाङ्गुलके[2] द्वारा निष्पन्न एक योजनप्रमाण लम्बा, एक योजन

---

१ अनुयोगद्वारमें सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं ।

२ अङ्गुलके तीन भेद हैं-आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल और प्रमाणाङ्गुल ।

जिस समयमें जिन पुरुषोंके शरीरकी ऊंचाई अपने अङ्गुलसे १०८ अङ्गुलप्रमाण होती है, उन पुरुषोंका अङ्गुल आत्माङ्गुल कहलाता है । इस अङ्गुलका प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता, क्योंकि कालभेदसे मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई घटती बढ़ती रहती है । उत्सेधाङ्गुलका प्रमाण—परमाणु दो प्रकारका होता है-एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहारपरमाणु । अनन्त निश्चय परमाणुओंका एक व्यवहारपरमाणु होता है । यह व्यवहार-

परमाणु वास्तवमें तो एक स्कन्ध ही है, किन्तु व्यवहारसे इसे परमाणु कहते हैं, क्योंकि यह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्णसे तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा इसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, तथा आगेके सभी मापोंका इसे मूलकारण कहा गया है। अनन्त व्यवहार परमाणुओंका एक उत्‌श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका और आठ उत्‌श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका का एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है। (**जीवसमाससूत्र**में अनन्त उत्‌श्लक्ष्ण० का एक श्लक्ष्ण० बतलाई है किन्तु आगममें अनेक स्थलोंपर इसे अठगुणी ही बतलाया है। लो० प्र०, १ स०, पृ०, २ पू०) आठ श्लक्ष्ण० का एक उर्ध्वरेणु, ८ उर्ध्वरेणुका १ त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुका १ रथरेणु, (कहीं कहीं 'परमाणु, रथरेणु और त्रसरेणु' ऐसा क्रम पाया जाता है। (देखो ज्योतिष्क० गा० ७४) किन्तु प्रवचनसा० के व्याख्याकार इसे असङ्गत कहते हैं। यथा–'इह च बहुषु सूत्रादर्शेषु 'परमाणु रहरेणु तसरेणु' इत्यादिरेव पाठो दृश्यते, स चासङ्गत एव लक्ष्यते।' पृ० ४०६ उ०)

आठ रथरेणुका देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्यका एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक पूर्वापरविदेहके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्योंका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंकी एक लीख, आठ लीखकी एक यूका (जूं), आठ यूकाका एक यवका मध्यभाग और आठ यवमध्यका एक उत्सेधाङ्गुल होता है। तथा, ६ उत्सेधाङ्गुलका एक पाद, दो पादकी एक वितस्ति, दो वितस्तिका एक हाथ, चार हाथका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक गव्यूत, और चार गव्यूतका एक योजन होता है। उत्सेधाङ्गुल से अढ़ाईगुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणाङ्गुल होता है युगके आदिमें भरत-

चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य=गढ़ा बनाना चाहिये जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{1}{6}$ योजन होती है। एक दिनसे लेकर सातें दिन तकके

चक्रवर्तीका जो आत्माङ्गुल था, वही प्रमाणाङ्गुल जानना चाहिये। अनुयोग० पृ० १५६-१७२, प्रवचनसा० पृ० ४०५-८, द्रव्यलोक० पृ० १-२। दिगम्बर परम्परामें अङ्गुलोंका प्रमाण इसप्रकार बतलाया है-अनन्तानन्त सूक्ष्मपरमाणुओंकी एक उत्संज्ञासंज्ञा, आठ उत्संज्ञासंज्ञाका एक संज्ञासंज्ञा, आठ संज्ञासंज्ञाका एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु, का एक रथरेणु, आठ रथरेणुका उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका रम्यक और हरिवर्षके मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका हैमवत और हैरण्यवत मनुष्यका एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रोंका भरत, ऐरावत और विदेहके मनुष्यका एक वालाग्र, शेष पूर्ववत्। उत्सेधाङ्गुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणाङ्गुल होता है। यही भरत चक्रवर्तीका आत्माङ्गुल है। त० राजवार्तिक पृ० १४७-१४८।

१ अनुयोगद्वारमें 'एगाहिअ बेआहिअ, तेआहिय जाव उक्कोसेणं सत्तरत्तरूढाणं······ वालग्गकोडीणं' (पृ० १८० पू०) लिखा है। प्रवचनसारोद्धारमें भी इससे मिलता जुलता ही पाठ है। दोनोंकी टीकामें इसका अर्थ किया है कि सिरके मुडादेने पर एक दिनमें जितने बडे वाल निकलते हैं, वे एकाहिक्य कहलाते हैं, दो दिनके निकले वाल द्व्याहिक्य, तीन दिनके वाल त्र्याहिक्य, इसी तरह सात दिन तकके उगे हुए वाल लेने चाहिये। द्रव्यलोकप्रकाशमें इसके बारेमें लिखा है कि उत्तरकुरुके मनुष्योंका सिर मुडादेनेपर एकसे सात दिनतकके अन्दर जो केशाग्रराशि उत्पन्न हो वह लेनी चाहिये। उसके आगे पृ० ४ पू० में लिखा है-

"क्षेत्रसमासबृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचनसारोद्धारवृत्तिसंग्रहणीबृहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्या-

महोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि वालाग्राणि इत्यादि सामान्यतः कथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। 'वीरजय सेहर' क्षेत्रविचारसत्कस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरूद्भवसप्तदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विंशतिलक्षसप्तनवतिसहस्रैकशतद्वापञ्चाशत्प्रमितखण्डभावं प्राप्यते, तादृशै रोमखण्डैरेष पल्यो भ्रियत इत्यादिरर्थतः संप्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम्।"

अर्थात्-क्षेत्रसमासकी बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी वृत्तिका यह अभिप्राय है अर्थात् उनमें उत्तरकुरुके मनुष्यके केशाग्र बतलाये हैं। प्रवचनसा० की वृत्ति और सङ्ग्रहणीकी बृहद्वृत्तिमें सामान्यसे सिरके मुड़ादेनेपर एकसे लेकर सात दिनतकके उगे हुए वालोंका उल्लेख किया है-उत्तर कुरुके मनुष्यके वालाग्रोंका ग्रहण नहीं किया है। क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा है कि देवकुरु उत्तरकुरुमें जन्में सात दिनके मेष (भेड़) के उत्सेधाङ्गुलप्रमाण रोमको लेकर उसके सात बार आठ आठ खण्ड करना चाहिये। अर्थात् उस रोमके आठ खण्ड करके पुनः एक एक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। उन खण्डोंमेंसे भी प्रत्येक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। ऐसा करते करते उस रोमके वीस लाख सतानवे हजार एकसौ बावन २०९७१५२ खण्ड होते हैं। इस प्रकारके खण्डोंसे उस पल्यको भरना चाहिये।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ० ७९) में भी 'एगाहिअ वेहिअ तेहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं...वालग्गकोडीणं' ही पाठ है। किन्तु टीकाकारने उसका अर्थ-'वालेषु...अग्राणि श्रेष्ठाणि वालाग्राणि कुरुनररोमाणि तेषां कोटयः अनेकाः कोटीकोटीप्रमुखाः संख्याः' किया है। जिसका आशय है-वालोंमें अग्र=श्रेष्ठ जो उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्योंके वाल, उनकी कोटिकोटि। इस तरह टीकाकारने वालसामान्यसे कुरुभूमिके मनुष्योंके वालोंका ग्रहण

उगे हुए वालाग्रोंसे उस पल्यको इतना ठसाठस[1] भरना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जलका ही उसमें प्रवेश हो सके। उस पल्यसे प्रति समय एक एक वालाग्र निकाला जाये। इस तरह करते करते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उस कालको बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं। दस कोटीकोटी बादर उद्धार पल्योपमका एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। इन बादर उद्धारपल्योपम[2] और बादर उद्धार सागरोपमका केवल इतना ही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलतासे समझमें आ जाते हैं।

बादर उद्धारपल्यके एक एक केशाग्रके अपनी बुद्धिके द्वारा असंख्यात असंख्यात टुकड़े करना चाहिये। द्रव्यकी अपेक्षासे ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विशुद्ध आँखोंवाला पुरुष अपनी आँखसे जितने सूक्ष्म पुद्गलद्रव्यको देखता है, उसके भी असंख्यातवें भाग होते हैं। तथा

किया है। दिगम्बर साहित्यमें 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाताविवालाग्राणि' लिखकर 'एक दिनसे सात दिनतकके जन्मे हुए मेषके वालाग्र ही लिये हैं।

१ इसके बारेमें द्रव्यलोकप्रकाश (१ सर्ग) में इतना और भी लिखा है–

"तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्प्पता।
न मनाक् क्रियते नीचैरेवं निबिडतागतात् ॥ ८२ ॥"

अर्थात्–'वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हों कि यदि चक्रवर्तीकी सेना उनपरसे निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सकें।'

२ "अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्मं सुबोधमबुधैरपि।
अतो निरूपितं नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥८६॥"
द्रव्यलोक० (१ सर्ग)

क्षेत्रकी अपेक्षासे सूक्ष्म पनक[1] जीवका शरीर जितने क्षेत्रको रोकता है, उससे असंख्यातगुणी अवगाहनावाले होते हैं। इन केशाग्रोंको पहलेकी ही तरह पल्यमें ठसाठस भर देना चाहिये। पहले हीकी तरह प्रति समय केशाग्रके एक एक खण्डको निकालने पर संख्यात करोड़ वर्षमें वह पल्य खाली होता है। अतः इस कालको सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्यका एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है। इन सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपमसे द्वीप और समुद्रोंकी गणनाकी जाती है। अढ़ाई[2] सूक्ष्म उद्धारसागरोपमके अथवा पच्चीस कोटीकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपमके जितने समय होते हैं, उतने ही द्वीप और समुद्र जानने चाहिये। पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक केशाग्र निकालनेपर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको बादर अद्धा पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी बादर अद्धा पल्योपमकालका एक बादर अद्धा सागरोपमकाल होता है। तथा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्यमेंसे सौ सौ वर्षके बाद केशाग्रका एक एक खण्ड निकालने पर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको सूक्ष्म अद्धा

---

१ इसका विशेषावश्यकभाष्यकी कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ०२१०)में 'वनस्पतिविशेष' अर्थ किया है। प्रवचनसारोद्धारकी टीकामें (पृ० ३०३) लिखा है कि वृद्धोंने बादर पर्याप्तक पृथिवीकायके शरीरके बराबर उसकी अवगाहना बतलाई है। यथा—"वृद्धास्तु व्याचक्षते—बादरपर्याप्तपृथिवीकायशरीरतुल्यमिति। तथा चानुयोगद्वारमूलटीकाकृदाह हरिभद्रसूरिः—'बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यान्यसंख्येयखण्डानि' इति वृद्धवादः।"

२ 'एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ। केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा...जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा।" अनुयोग० पृ० १८१ पू०।

पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा पल्योपमका एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकाल होता है। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकी एक अवसर्पिणी और उतनेकी ही एक उत्सर्पिणी होती है। इन सूक्ष्म[1] अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपमके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंकी आयु, कर्मोंकी स्थिति वगैरह जानी जाती है।

पहलेकी ही तरह एक योजन लम्बे चौड़े और गहरे गढेमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके उगे हुए बालोंके अग्र भागको पहले कीही तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें, उनमेंसे प्रति समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें समस्त प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको बादर क्षेत्र पल्योपम काल कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणीकालके बराबर होता है। दस कोटीकोटी बादरक्षेत्र पल्योपमका एक बादरक्षेत्र सागरोपम काल होता है।

बादरक्षेत्र पल्यके बालाग्रोंमेंसे प्रत्येकके असंख्यात खण्ड करके उन्हें उसी पल्यमें पहले ही की तरह भर दो। उस पल्यमें वे खण्ड आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें और जिन प्रदेशोंको स्पर्श[2] न करे, उनमेंसे प्रति

---

१ एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरो० नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं आउअं मविज्जइ। अनुयोग० सू० १३८ पृ० १८३।

२ यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रोंसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो बालाग्रोंका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस शङ्का और उसके समाधानका चित्रण अनुयोगद्वारकी टीकामें इस प्रकार किया है–

"आह–यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि बालाग्रैः किं प्रयोजनम्? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रतः सामान्येनैव

समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटी कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम-का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है। इन[1] सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इस प्रकार पल्योपम[2] के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।

वक्तुमुचितं स्यात्। सत्यं, किन्तु प्रस्तुतपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचित् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरित्यतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूप-णाऽत्र प्रयोजनवतीति।" पृ० १९३ पू०।

शङ्का–यदि आकाशके स्पृष्ट और अस्पृष्ट प्रदेशोंका ग्रहण करना है तो बालाग्रोंका कोई प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि उस दशामें पूर्वोक्त पल्यके अन्दर जितने प्रदेश हों, उनके अपहरण करनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है?

समाधान–आपका कहना ठीक है, किन्तु प्रस्तुत पल्योपमसे दृष्टिवादमें द्रव्योंके प्रमाणका विचार किया जाता है। उनमेंसे कुछ द्रव्योंका प्रमाण तो उक्त वालाग्रोंसे स्पृष्ट आकाशके प्रदेशोंके द्वाराही मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाशके अस्पृष्ट प्रदेशोंसे मापा जाता है। अतः दृष्टिवादमें वर्णित द्रव्योंके मानमें उपयोगी होनेके कारण वालाग्रोंका निर्देश करना सप्र-योजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है।

१ "एएहिं सुहुमेहिं खेत्तप० सागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमपलि० साग० दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जंति।" अनुयोग० सू० १४० पृ० १९३ पू०।

२ दिगम्बर साहित्यमें पल्योपमका जो वर्णन मिलता है वह उक्त वर्णन

से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्र पल्योपम नामका कोई भेद नहीं है और न प्रत्येक पल्योपमके बादर और सूक्ष्म भेद ही किये हैं। संक्षेपमें पल्योपमका वर्णन इस प्रकार है–

पल्य तीन प्रकारका होता है–व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों नाम सार्थक हैं–शेष दो पल्योंके व्यवहारका मूल होनेके कारण पहले पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं। अर्थात् व्यवहारपल्यका केवल इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धारपल्य और अद्धापल्यकी सृष्टि होती है, इसके द्वारा कुछ मापा नहीं जाता। उद्धारपल्यसे उद्धृत रोमोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी संख्या जानी जाती है, इसलिये उसे उद्धारपल्य कहते हैं। और अद्धापल्यके द्वारा जीवोंकी आयु वगैरह जानी जाती है इसलिये उसे अद्धापल्य कहते हैं। इनका प्रमाण निम्न प्रकार है–

प्रमाणाङ्गुलसे निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे तीन गढ़े बनाओ। एक दिनसे लेकर सात दिन तकके मेषके रोमके अग्रभागोंको कैंचीसे काट काट कर इतने छोटे छोटे खण्ड करो कि फिर वे कैंचीसे न काटे जा सकें। इस प्रकारके रोम खण्डोंसे पहले पल्यको खूब ठसाठस भर देना चाहिये। उस पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं। उस व्यवहारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्य खाली हो उसे व्यवहारपल्योपम कहते हैं। व्यवहारपल्यके एक एक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा उतने खण्ड करो, जितने असंख्यात कोटि वर्षके समय होते हैं। और वे सब रोमखण्ड दूसरे पल्यमें भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते हैं। उस पल्यमें से प्रतिसमय एक एक खण्ड निकालते निकालते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उसे उद्धार पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी उद्धारपल्योपमका एक उद्धार सागरोपम होता है। अढ़ाई उद्धार सागरमें जितने रोमखण्ड होते हैं उतने

सास्वादन आदि गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्त बतलाया है। अतः तीन गाथाओंके द्वारा पुद्गल परावर्तका वर्णन करते हुए पहले उसके भेद और परिमाणको कहते हैं—

दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अंणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

अर्थ—पुद्गल परावर्तके चार भेद हैं—द्रव्य पुद्गल परावर्त, क्षेत्र पुद्गल परावर्त, काल पुद्गल परावर्त, और भाव पुद्गल परावर्त। इनमें से प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं—बादर और सूक्ष्म। यह पुद्गल परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी कालके बराबर होता है।

ही द्वीप और समुद्र जानने चाहियें।

उद्धारपल्यके रोम खण्डोंमेंसे प्रत्येक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा पुनः उतने खण्ड करो जितने सौ वर्ष के समय होते हैं। और उन खण्डों को तीसरे पल्यमें भरदो। उसे अद्धापल्योपम कहते हैं। उसमेंसे प्रति समय एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा-पल्योपम कहते हैं। दस कोटी कोटी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। दस कोटी अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धापल्यसे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

सर्वार्थसिद्धि पृ० १३२, त० राजवार्तिक पृ० १४८, त्रिलोकसार गा० ९३-१०२।

१ पञ्चसंग्रहमें भी पुद्गलपरावर्तके चार भेद और उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद बतलाये हैं—

"पोग्गल परियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएणं ॥ ७१ ॥"

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलपरावर्तके भेद और पुद्गलपरावर्तकाल का प्रमाण सामान्यसे बतलाया है। एक पुद्गलपरावर्तकालमें अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाती हैं। इन परावर्तों का स्वरूप आगे बतलाते हैं।

पहले बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तका[1] स्वरूप कहते हैं—

उरलाइसत्तगेणं एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा॥ ८७॥

अर्थ—जितने कालमें एक जीव समस्तलोकमें रहनेवाले समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और जितने कालमें समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओंमे से किसी एक वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

भावार्थ—गाथा ७५-७६ के व्याख्यानमें बतला आये हैं कि यह लोक अनेक प्रकारकी पुद्गलवर्गणाओंसे भरा हुआ है। तथा, वहींपर उन वर्गणाओंका स्वरूप भी बतला आये हैं। उन वर्गणाओंमें आठ वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य बतलाई हैं, अर्थात् वे जीवके द्वारा ग्रहणकी जाती हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके

---

१ द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप पञ्चसङ्ग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाया है—

"संसारम्मि अडंतो, जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
इगु जीव मुयइ बायर, अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो॥ ७२॥"

अर्थ-संसारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव, जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोडदेता है, उतने कालको बादर पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और किसी एक शरीरके द्वारा जब समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड देता है तो उसे सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

उनसे अपना शरीर, वचन, मन वगैरहकी रचना करता है। वे वर्गणाएँ हैं— औदारिकग्रहणयोग्य वर्गणा, वैक्रियग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषाग्रहणयोग्य वर्गणा, आनप्राणग्रहण-योग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा। जितने समयमें एक जीव समस्त परमाणुओंको अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्मणशरीररूप परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। यहां[1] आहारक शरीरको छोड़ दिया है, क्योंकि आहारकशरीर एक जीवके अधिकसे अधिक चार बार ही हो सकता है। अतः वह पुद्गलपरावर्तके लिये उपयोगी नहीं है।

तथा, जितने समयमें समस्त परमाणुओंको औदारिक आदि सात वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समयको सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। आशय यह है कि बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तमें तो समस्तपरमाणुओंको सातरूपसे भोग कर छोड़ता है और सूक्ष्ममें उन्हें केवल किसी एक रूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है। यहां[2] इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त परमाणुओंको एक औदारिकशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको वैक्रिय आदि शरीररूप ग्रहण करके छोड़दे, या समस्त पर-माणुओंको वैकियशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको

---

१ "आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्त्ते प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति ॥"

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

२ 'एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्त्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यजन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते त एव गण्यन्ते।' प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

औदारिक आदि शरीररूपसे ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिये जाते। जिस शरीररूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीररूप जो पुद्‌गलपरमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हींका सूक्ष्ममें ग्रहण किया जाता है।

द्रव्य पुद्‌गलपरावर्तके बारेमें एक दूसरा मत भी है, जो इस प्रकार है—समस्त पुद्‌गलपरमाणुओंको औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन चार शरीररूप ग्रहण करके छोड़ देनेमें जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्यपुद्‌गलपरावर्त कहते हैं। और समस्त पुद्‌गलपरमाणुओंको उक्त चारों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीररूप परिणमा कर छोड़ देनेमें जितना काल लगता है उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्‌गलपरावर्त कहते हैं।

द्रव्यपुद्‌गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर अब शेष तीन पुद्‌गलपरावर्तोंका स्वरूप बतलाते हैं—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य।
जह तह कममरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

अर्थ—एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंको

---

१ "अहव इमो दव्वाई ओरालविउव्वतेयकम्मेहिं।
नीसेसदव्वगहणंमि बायरो होइ परियट्टो ॥ ४१ ॥"
प्रवचन०, पृ० ३०७ उ०।

"एके तु आचार्या एवं द्रव्यपुद्‌गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति—तथाहि, यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्‌गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्‌गलपरावर्तो भवति। यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्‌गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्‌गलपरावर्तो भवति"। प०कर्म० स्वोपज्ञ टी०पृ० १०३।

क्रमसे या बिना क्रमके, जैसे बने तैसे, जितने समयमें स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहते हैं। एक जीव अपने मरणके द्वारा, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको, क्रमसे या बिना क्रमके जितने समयमें स्पर्श कर लेता है, उसे बादर कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, एक जीव अपने मरणके द्वारा, क्रमसे या बिना क्रमके, अनुभागबन्धके कारणभूत समस्त कषायस्थानोंको जितने समयमें स्पर्श कर लेता है उसे बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके प्रदेशोंको, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समयोंको, तथा अनुभागबन्धके कारणभूत कषायस्थानोंको क्रमसे जितने जितने समयमें स्पर्श करता है, उन्हें क्रमशः सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त, सूक्ष्मकाल पुद्गलपरावर्त और सूक्ष्मभाव पुद्गलपरावर्त कहते हैं। अर्थात् उक्त तीनों—प्रदेश, समय और कषायस्थानको—यदि अक्रमसे स्पर्श करता है तो बादर पुद्गलपरावर्त होता है और यदि क्रमसे स्पर्श करता है तो सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है।

भावार्थ—इस गाथामें बाकीके तीनों पुद्गलपरावर्तोंके दोनों प्रकारोंका स्वरूप बतलाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

कोई एक जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरा, वही जीव, पुनः आकाशके किसी दूसरे प्रदेशमें मरा, फिर तीसरेमें मरा, इस प्रकार जब वह लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें मर चुकता है तो उतने कालको बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा कोई जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरण करके पुनः उस प्रदेशके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेशमें मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर अनन्तर प्रदेशमें मरण करते करते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मरण कर लेता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त होता है। इन दोनों क्षेत्रपुद्गलपरावर्तोंमें केवल इतनाही

अन्तर है कि बादरमें तो क्रमका विचार नहीं किया जाता, उसमें व्यवहित प्रदेशमें मरण करनेपर भी यदि वह प्रदेश पूर्वस्पृष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात वहां क्रमसे या बिना क्रमके समस्त प्रदेशोंमें मरणकर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्ममें समस्त प्रदेशोंमें क्रमसे ही मरण करना चाहिये। अक्रमसे जिन प्रदेशोंमें मरण होता है उनकी गणना नहींकी जाती। इससे स्पष्ट है कि पहलेसे दूसरेमें समय अधिक लगता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तके सम्बन्धमें एक बात और भी ज्ञातव्य है। वह यह कि एक जीवकी जघन्य अवगाहना लोकके असंख्यातवें भाग बतलाई है। अत: यद्यपि एक जीव लोकाकाशके एक प्रदेशमें नहीं रह सकता, तथापि किसी देशमें मरण करनेपर उस देशका कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अत: यदि उस विवक्षित प्रदेशसे दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशोंमें मरण करता है तो वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब कभी विवक्षित प्रदेशके अनन्तर जो प्रदेश है, उसीमें मरण करता है, तो वह गणनामें लिया जाता है। किन्हीं[1] किन्हींका मत है कि लोकाकाशके जिन प्रदेशोंमें मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता।

जितने समयमें एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमवार या विना क्रमके मरण कर चुकता है, उतने कालको बादर काल पुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी कालके पहले समयमें मरा, पुन: उनके दूसरे समयमें मरा, पुन: तीसरे समयमें मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जब मरण कर चुकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्त कहते

---

१ "अन्ये तु व्याचक्षते-येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो मृतस्ते सर्वेऽपि आकाशप्रदेशाः गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति॥" प्रवचन० टी०, पृ० ३०९ उ०।

हैं। यहां भी समयोंकी गणना क्षेत्रकी तरह क्रमवार ही की जाती है, व्यवहितकी गणना नहींकी जाती। आशय यह है कि कोई जीव अवसर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, उसके बाद एक समय कम वीस कोटीकोटी सागरके बीत जानेपर जब पुन: अवसर्पिणीकाल प्रारम्भ हो उस समय यदि वह जीव उसके दूसरे समयमें मरे तो वह द्वितीय समय गणनामें लिया जाता है। मध्यके शेष समयोंमें उसकी मृत्यु होनेपर भी वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणीके द्वितीय समयमें मरणको प्राप्त न हो, किन्तु अन्य समयमें मरण करे तो उसका भी ग्रहण नहीं किया जाता है। परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बीतनेपर भी जब कभी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें ही मरता है, तब उस समयका ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें मरण करके जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें मरण कर चुकता है, उस कालको सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

तरतम भेदको लिये हुए अनुभागबन्धस्थान असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्याके बराबर हैं। उन अनुभागबन्धस्थानोंमेंसे एक एक अनुभागबन्धस्थानमें क्रमसे या अक्रमसे मरण करते करते जीव जितने समयमें समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरण कर चुकता है, उतने समयको बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, सबसे जघन्य अनुभागबन्धस्थानमें वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें मरा। इसप्रकार क्रमसे जब समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरणकर लेता है तो सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्त कहाता है। यहां पर भी कोई जीव सबसे जघन्य अनुभागस्थानमें मरण करके, उसके बाद अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब प्रथम अनुभागस्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें मरण करता है, तभी वह मरण गणनामें लिया जाता

हैं। किन्तु अक्रमसे होनेवाले अनन्तानन्त मरण भी गणनामें नहीं लिये जाते। इसी तरह कालान्तरमें द्वितीय अनुभागबन्धस्थानके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें जब मरण करता है तो वह मरण गणनामें लिया जाता है। इसप्रकार बादर और सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप जानना चाहिये।

जैन वाङ्मयमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका बड़ा महत्त्व है। किसी भी विषयकी चर्चा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक उसमें उस विषयका वर्णन द्रव्य, क्षेत्र वगैरहकी अपेक्षासे न किया गया हो। यहां परिवर्तन का प्रकरण है। परिवर्तका अर्थ होता है—परिणमन अर्थात् उलटफेर, रद्दोबदल इत्यादि। कहावत प्रसिद्ध है कि यह संसार परिवर्तन या परिणमन शील है। उसी परिवर्त या परिवर्तनका वर्णन यहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे किया है। द्रव्यसे यहां पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया है, क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवर्तके साथ हो पुद्गल शब्द लगा हुआ है, और उसके ही द्रव्यपुद्गलपरिवर्त वगैरह चार भेद बतलाये हैं। दूसरे जीवके परिवर्तन या संसारपरिभ्रमणका कारण एक तरहसे पुद्गल द्रव्य ही है, संसारदशामें उसके बिना जीव रह ही नहीं सकता। अस्तु, उस पुद्गलका सबसे छोटा अणु परमाणु ही यहां द्रव्य-

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी क्षेत्र, काल और भाव पुद्गलपरावर्तका स्वरूप तीन गाथाओंसे इसी प्रकार बतलाया है। गाथाएँ निम्न हैं—

"लोगस्स पएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
खेत्तम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स॥ ७३॥
उस्सप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स॥ ७४॥
अणुभागट्ठाणेसुं अणंतरपरंपराविभत्तीहिं।
भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुकमसो॥ ७५॥"

पदसे अभीष्ट है। वह परमाणु आकाशके जितने भागमें समाता है उसे प्रदेश कहते हैं। और वह प्रदेश क्षेत्र अर्थात् लोकाकाशका ही,क्योंकि जीव लोकाकाशमेंही रहता है, एक अंश है। पुद्गलका एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे उसीके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें जितने समयमें पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह कालका सबसे छोटा हिस्सा है। भावसे यहां अनुभागबन्धके कारणभूत जीवके कषायरूप भाव लिये गये हैं। इन्हीं द्रव्य,क्षेत्र, काल और भावके परिवर्तनको लेकर चार परिवर्तनोंकी कल्पनाकी गई है। जब जीव पुद्गलके एक एक परमाणुको करके समस्त परमाणुओंको भोग लेता है तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहाता है। जब आकाशके एक एक प्रदेशमें मरण करके समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। वास्तवमें जब जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, तो अब तक एक भी परमाणु ऐसा नहीं बचा है जिसे इसने न भोगा हो, आकाशका एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानोंको यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसीको दृष्टिमें रखकर द्रव्य पुद्गलपरावर्त आदि नामोंसे कालका विभाग कर दिया है। जो पुद्गलपरावर्त जितने कालमें होता है उतने कालके प्रमाणको उस पुद्गल परावर्तके नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गलपरावर्तनके सिवाय अन्य किसी भी परावर्तमें पुद्गलका परावर्तन नहीं होता; क्योंकि क्षेत्र पुद्गलपरावर्तमें क्षेत्रका, काल पुद्गलपरावर्तमें कालका और भाव पुद्गलपरावर्तमें भावका परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गलपरावर्तका काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और

भाव परावर्तका काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अतः इन परावर्तोंकी भी पुद्गलपरावर्त[1] संज्ञा[2] रख दी है।

---

१ "पुद्गलानां=परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्तः=परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्गलपरावर्तः। इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपं लक्ष्यते। तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तनाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्तशब्दः प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते।"

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

२ दिगम्बरसाहित्य में ये परावर्त पञ्चपरिवर्तनके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमशः द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन हैं। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं–नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन। इनका स्वरूप निम्नप्रकार है–

नोकर्मद्रव्यप०–एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया और दूसरे आदि समयोंमें उनकी निर्जरा कर दी। उसके बाद अनन्त बार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके, अनन्त बार मिश्र पुद्गलोंको ग्रहण करके और अनन्तवार ग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समयमें ग्रहण किये थे, उन्हीं भावोंसे उतने ही रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको लेकर जब उसी जीवके द्वारा पुनः नोकर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं तो उतने कालके परिमाणको नोकर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्यप०–इसी प्रकार एक जीवने एक समय में आठ प्रकारके कर्मरूप होनेके योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक

आवलीके बाद उनकी निर्जरा करदी। पूर्वोक्त क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे जब उसी जीवके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने कालको कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनको मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन होता है, और दोनोंमें से एक को अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन–सबसे जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मरगया। वही जीव उसी अवगाहनाको लेकर वहां दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहनाको लेकर वहां उत्पन्न हुआ और मरगया। उसके बाद एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंको अपना जन्मक्षेत्र बना लेता है, तो उतने कालको एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कालपरिवर्तन–एक जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी होजानेके बाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इस प्रकार वह उत्सर्पिणीकालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ। उत्पत्तिकी तरह मृत्युका भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इसी तरह पहली अवसर्पिणीके पहले समय में मरा, दूसरी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इस प्रकार जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको अपने जन्म और मृत्युसे स्पृष्ट कर लेता है, उतने समयका नाम कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन–नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। कोई जीव उतनी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। मरनेके बाद नरकसे निकलकर पुनः उसी आयुको लेकर दुबारा नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार दसहजार वर्षमें जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दसहजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते नरकगतिकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्यञ्चगतिको लिया। तिर्यञ्चगतिमें अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयुको लेकर पुनः तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तमें जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। उसके बाद पूर्वोक्त प्रकारसे एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तिर्यञ्चगतिकी ही तरह मनुष्यगतिका काल पूरा किया और नरक गतिकी तरह देवगतिका काल पूरा किया। देवगतिमें केवल इतना अन्तर है कि ३१ सागरकी आयु पूरी करने पर ही भवपरिवर्तन पूरा हो जाता है; क्योंकि ३१ सागरसे अधिक आयुवाले देव नियमसे सम्यग्दृष्टि होते हैं, और वे एक या दो मनुष्य भवधारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारों गतिकी आयुको भोगनेमें जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन–कर्मोंकी एक एक स्थितिबन्धके कारण असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थान हैं। और एक एक कषायस्थानके कारण असंख्यातलोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान हैं। किसी पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने ज्ञानावरण कर्मका अन्तः कोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध किया। उसके उस समय सबसे जघन्य कषायस्थान

विस्तारसे पुद्‌गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर, अब सामान्यसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

और सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था। दूसरे समयमें वही स्थितिबन्ध वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा, किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बरका हो गया। इस प्रकार उसी स्थितिबन्ध, कषायस्थान और अनुभागस्थानके साथ श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण समस्त योगस्थानोंको पूर्ण किया। योगस्थानोंकी समाप्तिके बाद, स्थितिबन्ध और कषायस्थान तो वही रहा, किन्तु अनुभागस्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये। इस प्रकार अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होने पर उसी स्थितिबन्धके साथ दूसरा कषायस्थान हुआ। उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। पुनः तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानोंके समाप्त हो जानेपर उस जीवने एक समय अधिक अन्तः कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध किया। उसके भी कषायस्थान, अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते ज्ञानावरणकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति पूरी की। इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की स्थिति पूरी कर लेता है तब उतने कालको भावपरिवर्तन कहते हैं।

इन सभी परिवर्तनोंमें क्रमका ध्यान रखा गया है। अक्रमसे जो क्रिया होती है वह गणनामें नहीं ली जाती। अर्थात् सूक्ष्म पुद्गलपरिवर्तनोंमें जो व्यवस्था है वही व्यवस्था यहां भी समझना चाहिये।

अर्थ—थोड़ी प्रकृतियोंका बांधनेवाला, उत्कृष्ट योगका धारक, पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। और उससे विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाला, जघन्य योगका धारक, अपर्याप्त असंज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

भावार्थ—इस गाथामें[1] यद्यपि उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेश-बन्धके स्वामीका निर्देश किया है, किन्तु उनमें जिन जिन बातोंका होना आवश्यक बतलाया है, उनसे उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेश बन्धकी सामग्रीपर प्रकाश पड़ता है। उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कर्ताके लिये चार बातें आवश्यक बतलाई हैं—एक तो वह थोड़ी प्रकृतियोंका बांधनेवाला होना चाहिये; क्योंकि पहले कर्मोंके बटवारेमें लिख आये हैं कि एक समयमें जितने पुद्गलोंका बन्ध होता है, वे उन सब प्रकृतियोंमें विभाजित हो जाते हैं, जो उस समय बंधती हैं। अतः यदि बंधनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या अधिक होती है तो बटवारेमें प्रत्येकको थोड़े थोड़े दलिक मिलते हैं और यदि उनकी संख्या कम होती है तो बटवारेमें अधिक अधिक दलिक मिलते हैं। तथा, जैसे अधिक द्रव्यकी प्राप्तिके लिये भागीदारोंका कम होना आवश्यक है वैसेही अधिक आयका होना भी आवश्यक है। इसीलिए दूसरी आवश्यक बात यह बतलाई है कि उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कर्ता उत्कृष्ट योगवाला भी होना चाहिये; क्योंकि प्रदेशबन्धका कारण योग है और योग यदि तीव्र होता है तो अधिक संख्यामें कर्मदलिकोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है और यदि मन्द होता है तो कर्मदलिकोंकी संख्यामें भी कमी रहती है। अतः उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके लिये उत्कृष्ट योगका होना आवश्यक है। तीसरी आवश्यक बात यह है कि उत्कृष्ट प्रदेश बन्धका कर्ता पर्याप्तक होना चाहिये,

---

१ इस गाथाकी तुलना करो--

"अप्पतरपगइबन्धे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।

कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ २९८ ॥" पञ्चसं०।

क्योंकि अपर्याप्तक जीव अति अल्प आयुवाला और अल्प शक्तिवाला होता है अतः वह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं कर सकता। चौथी आवश्यक बात यह है कि वह संज्ञी होना चाहिये, क्योंकि पर्याप्तक होकर भी यदि संज्ञी नहीं हुआ तो उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं कर सकता; क्योंकि असंज्ञी जीवकी शक्ति भी अपरिपूर्ण रहती है।

इससे विपरीत दशामें अर्थात् यदि बहुत प्रकृतियोंका बन्ध करने वाला हो, योग भी मन्द हो, और अपर्याप्तक तथा असंज्ञी हो तो जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। पीछे गाथा ५३-५४ में योगोंका अल्पबहुत्व बतलाते हुए सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके सबसे जघन्य योग बतलाया है और संज्ञी पर्याप्तकके सबसे उत्कृष्ट योग बतलाया है। अतः **'उक्कड्जोगी'** कह देनेसे यद्यपि संज्ञी पर्याप्तकका बोध हो ही जाता है, तथापि स्पष्टताके लिये ऐसा कह दिया है। किन्तु उत्कृष्ट योग होनेपर भी बहुतसे जीव अधिक प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, अतः उत्कृष्ट योगके साथ थोड़ी प्रकृतियों का बन्ध होना आवश्यक बतलाया है। इस प्रकार उत्कृष्ट[1] और जघन्य प्रदेशबन्धकी सामग्री जाननी चाहिये।

सामान्यसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीको बतलाकर अब मूल और उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षासे उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

मिच्छ अजयचउ आऊ बितिगुण बिणु मोहि सत्त मिच्छाई।
छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा बितिकसाए॥ ९०॥

अर्थ—आयु कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि और असंयत

---

१ कर्म्मकाण्डमें भी इसी सामग्रीका निर्देश किया है। यथा--
"उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो।
कुणदि पदेसुक्कस्सं जहण्णए जाण विवरीयं॥ २१०॥"

आदि चार अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त करते हैं। मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दूसरे और तीसरे गुणस्थान-के सिवाय मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव करते हैं। शेष छह कर्म और उनकी सतरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्म साम्पराय-नामक दसवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव करते हैं। द्वितीय कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। तथा, तृतीय कषाय अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध देशविरत करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें मूल तथा कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंको गिनाया है। उनमेंसे आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध पहले, चौथे, पाँचवे, छठे और सातवें गुणस्थानमें बतलाया है। शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध न बतलानेका कारण यह है कि तीसरे और आठवें आदि गुण स्थानोंमें तो आयुकर्मका बन्ध ही नहीं होता। तथा, यद्यपि दूसरे[1] गुणस्थानमें आयुकर्मका बन्ध होता है

---

१ इसी गाथाकी स्वोपज्ञ टीकामें, द्वितीय गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाते हुए निम्न लिखित उपपत्तियां दी हैं-

आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषायके उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार बतलायेंगे। तथा सास्वादनमें अनन्तानुबन्धीका बन्ध तो होता ही है। अतः यदि वहां उत्कृष्ट योग होता, तो जैसे अविरत आदि गुणस्थानोंमें अप्रत्याख्यानावरण आदि प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होनेके कारण वहां उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के भी सादि वगरह चारों विकल्प बतलायेंगे, वैसे ही सास्वादनमें अनन्ता-बन्धीका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होनेके कारण उसके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों विकल्प भी बतलाने चाहिये थे। किन्तु वे नहीं बतलाये हैं, अतः ज्ञात होता है कि या तो सास्वादनका काल थोड़ा होनेके कारण वहां

किन्तु वहां उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कारण उत्कृष्ट योग नहीं होता। अतः शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है।

मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सास्वादन और मिश्र गुणस्थानके सिवाय मिथ्यादृष्टि, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणस्थानोंमें बतलाया है। सास्वादन और मिश्र[1]

इस प्रकारका प्रयत्न नहीं हो सकता या अन्य किसी कारणसे सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता। तथा, आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानोंमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाकर शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध वगैरह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बतलायेंगे। इससे भी पता चलता है कि सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता। इस प्रकार सास्वादनमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाकर लिखा है--"**अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टं प्रदेशस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम्।**" अर्थात् 'इस लिये जो सास्वादनको भी आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी कहते हैं, उनका मत उपेक्षाके योग्य है।' इससे पता चलता है कि कोई कोई आचार्य सास्वादनमें आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको मानते हैं।

१ मिश्र गुणस्थानमें उत्कृष्टयोग न होनेके सम्बन्धमें, निम्न युक्तियाँ स्वोपज्ञ टीकामें दी हैं। दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत गुणस्थानमें ही बतलाया है। यदि मिश्रमें भी उत्कृष्टयोग होता तो उसमें भी दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाया जाता। शायद कहा जाये कि अविरत गुणस्थानमें मिश्र गुणस्थानसे कम प्रकृतियां बंधती हैं अतः अविरतको ही उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी बतलाया है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि साधारण अवस्थामें अविरतमें भी सात ही कर्मोंका बन्ध होता है और मिश्रमें तो सात कर्मोंका बन्ध होता ही है। तथा अविरतमें भी मोहनीयकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध होता है और मिश्रमें भी उसकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध

गुणस्थानमें उत्कृष्ट योग नहीं होता, अतः वहां उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी नहीं होता ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण,वेदनीय,नाम, गोत्र और अन्तराय का उत्कृष्ट-प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानमें होता है । सूक्ष्मसाम्परायमें उत्कृष्टयोग तो होता ही है । तथा, वहां मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध भी नहीं होता, अतः थोड़े कर्मोंका बन्ध होनेके कारण उसका ही ग्रहण किया है । तथा उत्तर प्रकृतियोंमें से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातवेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तरायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है; क्योंकि ऊपर लिख आये हैं कि मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी शेष छह कर्मोंको ही मिल जाता है । तथा, दर्शनावरणका भाग उसकी चार प्रकृतियोंको और नामकर्मका भाग उसकी एक प्रकृतिको मिलजाता है, अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी वहीं होता है ।

द्वितीय कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि करता है । इस गुणस्थानमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका बन्ध नहीं होता, अतः उनका भाग भी शेषको मिल जाता है । तथा, तीसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध देशविरत गुणस्थानमें होता है, इस गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायका भी बन्ध नहीं होता, अतः उनका द्रव्य भी शेषको मिलजाता है । इस प्रकार मूल प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश इस गाथामें किया है ।

पण अनियट्टी सुखगइ-नराउ-सुर-सुभगतिग-विउव्विदुगं।
समचउरंसमसायं वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

होता है । अतः मिश्रमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको न बतलानेमें उत्कृष्ट योगके अभावके सिवाय कोई दूसरा कारण प्रतीत नहीं होता ।

अर्थ–पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पाँच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनिवृत्तिबादर नामक गुणस्थानमें होता है ! प्रशस्त विहायोगति, मनुष्यायु, सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, असातवेदनीय, वज्रऋषभनाराच संहनन, इन तेरहप्रकृतियों-का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ–इस गाथामें १८ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं। उनमेंसे पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थानमें होता है क्योंकि छह नोकषायोंका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिलजाता है। तथा पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छिति होनेके बाद संज्वलनचतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय और नोकषाय का सब द्रव्य उसे ही मिल जाता है। तथा, प्रशस्त विहायोगति वगैरह तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं; क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कारण पाये जाते हैं।

निद्दा-पयला-दुजुयल-भय-कुच्छा-तित्थ सम्मगो सुजई।
आहारदुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

अर्थ–निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, तीर्थङ्कर, इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सुयति अर्थात् अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानमें रहने वाले मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

भावार्थ–निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थान-

से लेकर आठवें गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है, अतः सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। यद्यपि मिश्रमें भी स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, किन्तु वहां उत्कृष्ट योग भी नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं किया है।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्साका चौथे गुणस्थान-से लेकर आठवें गुणस्थानों तक जिन जिन गुणस्थानों में बन्ध होता है, उन गुणस्थानवाले उत्कृष्टयोगी सम्यग्दृष्टि जीव उनका उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध करते हैं। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध तो सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इसी तरह आहारकद्विक का बन्ध भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें ही होता है। अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सम्यग्दृष्टिके ही बतलाया है। इस प्रकार ५४ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाकर शेष ६६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि को ही बतलाया है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक शुभद्विक, अयशःकीर्ति, और निर्माण, इन पचीस प्रकृतियोंके सिवाय शेष ४१ प्रकृतियां तो सम्यग्दृष्टिके बन्धती ही नहीं हैं। उनमेंसे कुछ प्रकृतियाँ यद्यपि सास्वादनमें बन्धती हैं, किन्तु वहां उत्कृष्टयोग नहीं होता। अतः ४१ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्या-दृष्टि ही करता है। शेष पचीस प्रकृतियोंमेंसे औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नाम-कर्मके तेईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक जीवोंके ही होता है और शेष दस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नामकर्मके पच्चीसप्रकृतिक बन्ध-

स्थानके बन्धक जीवोंके ही होता है, शेषके नहीं होता । तथा तेईस और पच्चीस का बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है । अतः शेष पच्चीस प्रकृतियों-का भी उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योगवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं । इस प्रकार समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट[1] प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश किया है ।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिग-सुराउ-सुर-विउव्विदुगं ।
संमो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

अर्थ—सुमुनि अर्थात् अप्रमत्तमुनि आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं । असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरक गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और सुरायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं । सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्य-ग्दृष्टि जीव करते हैं । और शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्मनिगोदिया जीव प्रथम समयमें करता है ।

भावार्थ—इस गाथामें जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है । सामान्यसे आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध सातवें गुणस्थानमें रहनेवाले मुनि करते हैं । विशेषसे, जिस समयमें आठों कर्मोंका बन्ध करते हुए वे नामकर्मके इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करते हैं और योग भी जघन्य होता है, उस समय ही उनके आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध होता है । यद्यपि नामकर्मके तीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें भी आहारकद्विक सम्मिलित है, किन्तु इकतीसमें एक प्रकृति अधिक होनेके कारण, बटवारेके समय कम

१ कर्मकाण्ड गा० २११ से २१४ तकमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं, जो प्रायः कर्मग्रन्थके अनुकूल ही हैं ।

द्रव्य मिलता है । इसलिये इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका निर्देश किया है । यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परावर्तमान योग होना चाहिये ।

इसी तरह परावर्तमान योगवाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक और देवायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है; क्योंकि पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न ही नहीं होते, अतः उनके उक्त चारों प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता । असंज्ञी अपर्याप्तकके भी न तो इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके, और न इतने संक्लेश परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके । अतः गाथामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भी असंज्ञी पर्याप्तकका ही ग्रहण करना चाहिये । असंज्ञी पर्याप्तक भी यदि एक ही योगमें चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योगवाला हो जायेगा, अतः परावर्तमान योगका ग्रहण किया है; क्योंकि योगमें परिवर्तन होते रहते तीव्रयोग नहीं हो सकता । अतः परावर्तमान योगवाला, आठ कर्मोंका बन्धक, पर्याप्तक असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योगके रहते हुए उक्त चारों प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है ।

सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है । जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके देवोंमें उत्पन्न हुआ । वहाँ वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रकृतिसहित नामकर्मके तीसप्रकृतिक स्थानका बन्ध करता हुआ तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है । यद्यपि नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्ययोगवाले अनुत्तरवासी देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें इतना जघन्ययोग नहीं होता । अतः नरकगतिके सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त

प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्करका बन्ध ही नहीं होता, अतः वह भी उपेक्षणीय है। मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें तो तीर्थङ्करसहित नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध होता है अतः प्रकृति कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है। तथा, तीर्थङ्कर-सहित इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध संयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है। अतः तीसप्रकृतिक स्थानके बन्धक देवोंके ही तीर्थ-ङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है। देवद्विक और वैक्रियद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं करते। भोगभूमिया तिर्यञ्च जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बन्ध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अट्ठाईसप्रकृतिक बन्ध स्थानका ही बन्ध करते हैं। अतः बटवारेके समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके बारेमें भी समझनी चाहिये। अतः उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके ही उक्त चार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

शेष १०९ प्रकृतियोंका जघन्य[1] प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक

---

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ स २१७ तक जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियों को बतलाया है। शेष १०९ प्रकृतियोंके बन्धक सूक्ष्मनिगोदिया जीवके बारे में उसमें कुछ विशेष बात बतलाई है। उसमें लिखा है–

"चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७ ॥"

अर्थात्–लब्ध्यपर्याप्तकके ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोड़े लेते समय, पहले मोड़े में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

जीव जन्मके प्रथम समयमें करता है, क्योंकि उसके प्रायः सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, तथा सबसे जघन्य योग भी उसीके होता है।

जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाते हैं—

दंसणछग-भय-कुच्छा-वि-ति-तुरियकसाय विग्घनाणाणं।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धित्रिकके सिवाय दर्शनावरणकी शेष ६ प्रकृतियाँ, भय, जुगुप्सा, दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय, तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय, चौथी संज्वलन कषाय, पाँच अन्तराय और पाँच ज्ञानावरण, इन उत्तर-प्रकृतियोंके तथा मोहनीय और आयुकर्मके सिवाय छह मूलप्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों भङ्ग होते हैं। तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेष तीन बन्धोंके और अवशिष्ट प्रकृतियोंके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्यबन्ध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुवभङ्गोंका स्वरूप पहले बतला आये हैं; क्योंकि प्रत्येक बन्धके अन्तमें मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें उनका विचार किया गया है। यहाँ भी प्रदेशबन्धमें उनका विचार किया है। सबसे अधिक कर्म स्कन्धों-

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्ग इसीप्रकार बतलाये हैं यथा—

'मोहाउयवज्जाणं णुक्कोसो साइयाइओ होइ।
साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि ॥ २९० ॥
नाणंतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगुंछाण।
दंसणचउपयलाणं चउव्विगप्पो अणुक्कोसो ॥ २९५ ॥
सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईणं।'

के ग्रहण करनेको उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं। और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धमें एक दो वगैरह स्कन्धोंकी हानिसे लेकर सबसे कम कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदोंमें प्रदेशबन्धके समस्त भेदोंका संग्रहण हो जाता है। तथा सबसे कम कर्म-स्कन्धोंके ग्रहण करनेको जघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं। और उसमें एक दो वगैरह स्कन्धोंकी वृद्धिसे लेकर अधिकसे अधिक कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको अजघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदोंमें भी प्रदेशबन्धके सब भेद गर्भित हो जाते हैं।

उक्त गाथामें, दर्शनषट्क वगैरह प्रकृतियोंमें अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके चारों भङ्ग बतलाये हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है, क्योंकि एक तो वहाँ मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, दूसरे निद्रापञ्चक-का भी बन्ध नहीं होता। अतः उन्हें बहुत द्रव्य मिलता है। इस उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको करके कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें गया। वहाँसे गिरकर, दसवें गुणस्थानमें आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध करता है, तो वह बन्ध सादि होता है। अथवा दसवें ही गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगके द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेके बाद जब वह जीव पुनः अनु-त्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि होता है। क्योंकि उत्कृष्टयोग एक, दो समयसे अधिक देर तक नहीं होता। उत्कृष्टबन्ध होनेसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीवका वही बन्ध ध्रुव है और भव्य जीवका बन्ध अध्रुव होता है।

निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, अतः उनका भाग भी इन्हें मिलता है। उक्त गुणस्थानोंमेंसे किसी

एक गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करके जब जीव पुन: अनुत्कृष्ट बन्ध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बन्धसे पहलेका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्साका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी चौथेसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी पहलेकी ही तरह चार भङ्ग जानने चाहिये। इसी तरह अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय, संज्वलन कषाय, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तरायके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी चार चार भङ्ग जानने चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशबन्धसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि होता है। और उत्कृष्टबन्धके बाद जो अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, वह सादि होता है। भव्य जीवका वही बन्ध अध्रुव होता है और अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों भङ्ग होते हैं। किन्तु बाकीके उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं—अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भङ्ग बतलाते हुए यह बतला आये हैं कि अमुक अमुक प्रकृतिका अमुक अमुक गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने अपने गुणस्थानमें पहली बार होता है, अत: सादि है। तथा, एक दो समय तक होकर या तो उसके बन्धका बिल्कुल अभाव ही हो जाता है, या पुन: अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, अत: अध्रुव है।

तथा उक्त तीस प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उसके बाद योगशक्तिके बढ़ जानेके कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। संख्यात या असंख्यात कालके बाद जब उस जीवको पुन: उस भवकी प्राप्ति होती है तो पुन: जघन्य प्रदेशबन्ध होता है उसके बाद पुन: अजघन्य प्रदेशबन्ध होता

है। इस प्रकार जघन्यके बाद अजघन्य और अजघन्यके बाद जघन्य प्रदेश बन्ध होनेके कारण दोनों ही बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं।

उक्त तीस प्रकृतियोंके सिवाय शेष सभी प्रकृतियोंके चारों बन्ध सादि और अध्रुव ही होते हैं। उनमेंसे ७३ अध्रुवबन्धिप्रकृतियोंके तो अध्रुवबन्धी होनेके कारण ही चारों प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। शेष १७ ध्रुवबन्धिप्रकृतियोंमेंसे स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि करता है। उत्कृष्ट योग एक दो समय तक ही ठहरता है अतः उत्कृष्टबन्ध भी एक दो समय तक ही होता है। उसके बाद पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। उत्कृष्ट योगके होनेपर पुनः उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। इस प्रकार उत्कृष्टके बाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्टके बाद उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होनेके कारण दोनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। तथा, उनका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव भवके प्रथम समयमें करता है। दूसरे तीसरे आदि समयोंमें वही जीव उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध करता है। कालान्तरमें वही जीव उनका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इस प्रकार ये दोनों बन्ध भी सादि और अध्रुव होते हैं।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण प्रकृतिके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध भी इसी प्रकार सादि और अध्रुव जानने चाहियें। इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि चार बन्धोंमें सादि वगैरह भङ्गोंका विचार जानना चाहिये।

मूल प्रकृतियोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तरायके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों विकल्प होते हैं। क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें कोई जीव उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करके जब पुनः उनका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है तो वह बन्ध सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशबन्धसे पहले वह बन्ध अनादि है भव्यका बन्ध अध्रुव और अभव्यका बन्ध ध्रुव है। शेष जघन्य अजघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके

सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं—

अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध को बतलाते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतला आये हैं। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहले पहले होता है अतः सादि है। पुनः अनुत्कृष्टबन्धके होने पर नहीं होता है, अतः अध्रुव है। तथा उक्त छह कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया अपर्याप्तक जीव भवके प्रथम समयमें करता है। उसके बाद योगकी वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशबन्ध करता है, कालान्तरमें पुनः जघन्यबन्ध करता है। इस तरह ये दोनों भी सादि और अध्रुव होते हैं।

मोहनीय और आयुकर्मके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। उनमेंसे आयुकर्मके तो अध्रुवबन्धी होने के कारण उसके चारों प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुव ही होते हैं। मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले जीव करते हैं। अतः उत्कृष्ट-के बाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्टके बाद उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, इसलिये दोनों बन्ध सादि और अध्रुव हैं। इसी तरह मोहनीयका जघन्यबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया जीव करता है। उसके भी जघन्यके बाद अजघन्य और अजघन्य-के बाद जघन्य बन्ध करनेके कारण दोनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट[1] आदि प्रदेशबन्धोंमें सादि वगैरह का क्रम जानना चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धमेंसे अनेक प्रकारके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान हैं, अनेक प्रकारके स्थितिबन्धके कारण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं, और अनेक

१ कर्मकाण्डमें गाथा २०७-२०८ में मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट आदि बन्धोंमें सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाया है, जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

प्रकारके अनुभाग बन्धके कारण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं। अतः योगस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तथा उनके कार्योंका परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।

अर्थ—योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। योगस्थानों-से असंख्यातगुणे प्रकृतियोंके भेद हैं। प्रकृतियोंके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिके भेद हैं। स्थितिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं। स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानसे असंख्यातगुणे अनुभागबन्धाध्यवसाय-स्थान हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध हैं, और कर्मस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद हैं।

भावार्थ—बन्धके निरूपणमें दो वस्तुएँ मुख्य हैं—एक बन्ध और दूसरी उसके कारण। बन्ध चार हैं किन्तु उनके कारण तीन ही हैं; क्योंकि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण एक ही है। अतः बन्धके निरूपणमें उसके परिकरके रूपसे सात चीजें आती हैं—प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, कर्म-स्कन्ध अर्थात् प्रदेशभेद, रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद और उनके कारण योगस्थान, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तथा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान। उक्त गाथामें उनमें परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है अर्थात् यह बतलाया

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी इनका अल्पबहुत्व इसी तरह बतलाया है यथा—
"सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा।
पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥ २८२ ॥
ठिइबंधज्झवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥ २८३ ॥"

है कि इन सातोंमें किसकी संख्या अधिक है और किसकी संख्या कम है?

योगस्थानोंकी संख्या श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाई है। श्रेणिका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उसके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही योगस्थान जानना चाहिये। पीछे गा० ५३ का व्याख्यान करते हुए बतला आये हैं कि योग, वीर्य या शक्तिविशेषको कहते हैं। उसके स्थान किस प्रकार होते हैं यहां इसे समझाते हैं। पहले बतला आये हैं कि सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें सबसे जघन्य योग होता है, अर्थात् अन्य जीवोंकी अपेक्षासे उसकी शक्ति या वीर्यलब्धि सबसे कम है। किन्तु सबसे कम वीर्यलब्धिके धारक उस जीवके कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्यवाले हैं, कुछ उनसे अधिक वीर्यवाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्यवाले हैं। यदि सबसे कम वीर्यवाले प्रदेशोंमेंसे एक प्रदेशको केवलज्ञानीके ज्ञानके द्वारा देखा जाये तो उस एक प्रदेशमें असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर भाग पाये जाते हैं। तथा उसी जीवके अत्यधिक वीर्यवाले प्रदेशको उसी प्रकार यदि अवलोकन किया जाये तो उसमें उस जघन्यवीर्यवाले प्रदेशके भागोंसे भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते हैं। इसीके सम्बन्धमें **पञ्चसङ्ग्रह**में लिखा है—

> **"पण्णाए अविभागं जहण्णवीरियस्स वीरियं छिण्णं।**
> **एक्केक्कस्स पएसस्सऽसंखलोगप्पएससमं ॥ ३९७ ॥"**

अर्थात्—'सबसे जघन्यवीर्यवाले जीवके प्रदेशमें जो वीर्य है, बुद्धिके द्वारा उसका तबतक छेदन किया जाये जबतक अविभागी अंश न हो। एक एक प्रदेशमें ये अविभागी अंश असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर होते हैं।' वीर्यलब्धिके इन भागों या अविभागी अंशोंको वीर्यपरमाणु, भावपरमाणु या अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। जीवके जिन प्रदेशोंमें ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम, किन्तु समान संख्यामें पाये जाते

हैं, उन प्रदेशोंकी एक वर्गणा होती है। उनसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंकी दूसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंकी एक एक जुदी वर्गणा होती है। और, जहां तक एक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश पाये जाते हैं, वहां तककी वर्गणाओंके समूहको प्रथम स्पर्द्धक कहते हैं। उसके आगे जो प्रदेश मिलते हैं, उनमें प्रथम स्पर्द्धककी अन्तिम वर्गणाके प्रदेशोंमें जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, उनसे असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितने अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं, उतने अविभागी प्रतिच्छेद जिन जिन प्रदेशोंमें पाये जाते हैं, उनके समूहको दूसरे स्पर्द्धककी प्रथम वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रथम वर्गणाके ऊपर एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदवाले प्रदेशोंका समूहरूप दूसरी वर्गणा होती है। इसप्रकार एक एक अविभागी प्रतिच्छेदकी वृद्धि करते करते ये वर्गणाएँ श्रेणिके असंख्यातवें भागके बराबर होती हैं। इनके समूहको दूसरा स्पर्द्धक कहते हैं। इसके बाद एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश नहीं मिलते, किन्तु असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितने अधिक अविभागी प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेश ही मिलते हैं, उनसे पहले कहे हुए क्रमके अनुसार तीसरा स्पर्द्धक प्रारम्भ होता है। इसी तरह चौथा, पांचवा वगैरह स्पर्द्धक जानने चाहिये। इन स्पर्द्धकोंका प्रमाण भी श्रेणिके असंख्यातवें भाग है। उनके समूहको एक योगस्थान[1] कहते हैं।

---

१ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें ४२ गाथाओंसे योगस्थानका वर्णन किया है। उसके अनुसार–

"अविभागपडिच्छेदो वग्गो पुण वग्गणाए फड्डयगं।
गुणहाणि वि य जाणे ठाणं पडि होदि णियमेण ॥ २२३ ॥"

एक योगस्थानमें अविभागी प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक और गुण-हानि, ये पांच चीजें नियमसे होती हैं। अब इनका स्वरूप और प्रमाण

यह योगस्थान सबसे जघन्यशक्तिवाले सूक्ष्म निगोदिया जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उससे कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे दूसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे तीसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे चौथा योगस्थान होता है। इस प्रकार इसी क्रमसे नाना जीवोंके अथवा कालभेदसे एक ही जीवके ये योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने होते हैं।

शङ्का—जीव अनन्त है, अतः योगस्थान भी अनन्त ही होने चाहिये।

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सब जीवों का योगस्थान जुदा जुदा ही नहीं होता, अनन्त स्थावर जीवोंके समान योगस्थान होता है, तथा असंख्यात त्रसोंके भी समान योगस्थान होता है। अतः विसदृश योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग ही होते हैं।

सुनिये—

"पल्लासंखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवंति इगिठाणे।
गुणहाणिफड्डयाओ असंखभागं तु सेढीये॥ २२४॥
फड्डयगे एक्केक्के वग्गणसंखा हु तत्तियालावा।
एक्केक्कवग्गणाए असंखपदरा हु वग्गाओ॥ २२५॥
एक्केक्के पुण वग्गे असंखलोगा हवंति अविभागा।
अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पदेसाणं॥ २२६॥"

अर्थात्—'एक योगस्थानमें पल्यके असंख्यातवें भाग गुणहानियाँ होती हैं। एक गुणहानिमें श्रेणिके असंख्यातवें भाग स्पर्द्धक होते हैं। एक एक स्पर्द्धकमें उतनी ही वर्गणाएँ होती हैं। एक एक वर्गणामें असंख्यात जगत्-प्रतर प्रमाण वर्ग होते हैं। और एक एक वर्ग में असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। प्रदेशोंमें जो जघन्य वृद्धि

इन योगस्थानोंसे असंख्यातगुणे ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोंके भेद होते हैं। यद्यपि मूलप्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ बतलाई हैं, किन्तु बन्धकी विचित्रतासे एक एक प्रकृति के अनेक भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, एक अवधिज्ञान को ही ले लीजिये। शास्त्रोंमें अवधिज्ञानके बहुतसे भेद बतलाये हैं। अतः अवधिज्ञानावरणके बन्धके भी उतने ही भेद होते हैं, क्योंकि बन्धकी विचित्रतासे ही क्षयोपशममें अन्तर पड़ता है और क्षयोपशममें अन्तर पड़नेसे ही ज्ञानके अनेक भेद हो जाते हैं। शायद कोई कहे कि अनेक भेद होने पर भी असंख्यात भेद किस तरह हो जाते हैं ? तो इसके लिये हमें पुनः अवधिज्ञानके भेदों पर एक दृष्टि डालनी होगी। सूक्ष्म पनकजीव की तीसरे समय में जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है। और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जघन्यक्षेत्रसे लेकर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट अवधिज्ञानके क्षेत्र तक क्षेत्रकी हीनाधिकताके कारण अवधिज्ञानके असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसलिये अवधिज्ञानके आवारक अवधिज्ञानावरण कर्मके भी बन्ध और उदयकी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसी

होती है अर्थात् जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्तिके अंशको अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं।' इस रीतिसे प्रत्येकमें प्रत्येकका प्रमाण बतलाया है। इसीको यदि उलटे क्रमसे कहें तो–अविभागीप्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग, वर्गों-का समूह वर्गणा, वर्गणाओंका समूह स्पर्द्धक, स्पर्द्धकोंका समूह गुणहानि और गुणहानियोंका समूह योगस्थान–इसप्रकार प्रत्येकका स्वरूप मालूम होजाता है। इसके अनुसार प्रत्येक प्रदेश एक एक वर्ग है, क्योंकि उसमें बहुतसे अविभागी अंश रहते हैं। गाथा २२९ की संस्कृतटीका तथा बाल-बोधनी भाषाटीकामें योगस्थान और उसके अङ्गोंका विस्तारसे कथन किया है, जो उपर्युक्त कथनसे विपरीत नहीं है।

प्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षासे बाकी उत्तर-प्रकृतियों और मूल प्रकृतियोंके भी बन्ध और उदयकी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। यहाँ पर भी जीवोंके अनन्त होनेके कारण उनके बन्धों और उदयोंकी विचित्रतासे प्रकृतियोंके भी अनन्त भेद होनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि नाना जीवोंके भी एकसा बन्ध और एकसा उदय होता है। अतः प्रकृतियोंके विसदृश भेद असंख्यात ही होते हैं। अतः योगस्थानोंसे प्रकृतियाँ असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि एक एक योगस्थानमें वर्तमान नाना जीव या कालक्रमसे एक ही जीव इन सभी प्रकृतियोंका बन्ध करता है।

तथा, प्रकृतिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिके भेद होते हैं। क्यों कि एक एक प्रकृति असंख्यात तरह की स्थितियों को लेकर बंधती है। जैसे एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी दो समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है, कभी तीन समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बांधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षासे ही स्थितिके असंख्यात भेद हो जाते हैं, तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षासे प्रकृतिके भेदोंसे स्थितिके भेदोंका असंख्यातगुणा होना स्पष्ट ही है। अतः प्रकृतिके भेदोंसे स्थितिके भेद असंख्यातगुणे होते हैं।

तथा स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं। कषायके उदयसे होनेवाले जीवके जिन परिणामविशेषोंसे स्थितिबन्ध होता है, उन परिणामोंको स्थितिबन्धाध्यवसाय कहते हैं। एक एक स्थितिबन्धके कारणभूत ये अध्यवसाय या परिणाम अनेक होते हैं; क्योंकि सबसे जघन्यस्थितिका बन्ध भी असंख्यातलोकप्रमाण अध्यवसायोंसे होता है। अर्थात् एक ही स्थितिबन्ध किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है और किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है। ऐसा

ही आगे भी समझ लेना चाहिये। अतः स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे होते हैं। तथा, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानसे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् स्थितिबन्धके कारणभूत परिणामोंसे अनुभागबन्धके कारणभूत परिणाम असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तो अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, किन्तु एक एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक आठ समय तक ही रहता है। अतः एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमें असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं।

तथा, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि पहले बतला आये हैं कि एक जीव एक समयमें अभव्यराशिसे अनन्तगुणे और सिद्धराशिके अनन्तवेंभाग कर्मस्कन्धोंको ग्रहण करता है। किन्तु अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंका प्रमाण तो केवल असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितना ही बतलाया है। अतः अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कर्मस्कन्ध सिद्ध होते हैं।

तथा, कर्मस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद या अविभागी प्रतिच्छेद हैं। बात यह है कि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके द्वारा कर्मपुद्गलोंमें रस पैदा होता है। यदि एक परमाणुमें मौजूद रस या अनुभागशक्तिको केवलज्ञानके द्वारा छेदा जाये तो उसमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद या रसच्छेद पाये जाते हैं। अर्थात् समस्त कर्मस्कन्धोंके प्रत्येक परमाणुमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे रसच्छेद होते हैं, किन्तु एक एक कर्मस्कन्धमें कर्मपरमाणु केवल सिद्धराशिके अनन्तवें भाग ही होते हैं। अतः कर्मस्कन्धोंसे रसच्छेद अनन्तगुणे सिद्ध होते हैं। इसप्रकार बन्ध और उनके कारणोंका अल्पबहुत्व जानना चाहिये॥

---

१ कर्मकाण्डमें इनमेंसे केवल छहका ही परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है–

प्रदेशबन्धका विस्तारसे वर्णन करनेपर भी अभीतक उसका कारण नहीं बतलाया, अतः प्रदेशबन्ध और प्रसङ्गवश पूर्वोक्त प्रकृति स्थिति और अनुभागबन्धके कारण बतलाते हैं—

जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥९६॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

भावार्थ—गाथाके इस उत्तरार्द्धमें चारों बन्धोंके कारण बतलाये हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योगको बतलाया है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण कषायको बतलाया है। योग और कषायका स्वरूप पहले बतला आये हैं। योग एक शक्तिका नाम है जो निमित्त-कारणोंके मिलनेपर कर्मवर्गणाओंको कर्मरूप परिणमाती है। कर्मपुद्गलों का अमुकपरिमाणमें कर्मरूप होना, तथा उनमें ज्ञान वगैरहको घातने आदि का स्वभाव पड़ना ये योगके कार्य हैं। तथा आये हुए कर्मपुद्गलोंका अमुक कालतक आत्माके साथ दूधपानीकी तरह मिलकर ठहरना और उनमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पड़ना, ये कषायके कार्य हैं। अतः दो बन्धोंका कारण योग है और दो का कारण कषाय है। जबतक कषाय रहती है, तबतक चारो बन्ध होते हैं। किन्तु कषायका उपशम या क्षय होजानेपर ग्यारहवें वगैरह गुणस्थानोंमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं। इसीसे **कर्मकाण्ड**में कहा है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ २५७ ॥'

अर्थात् 'प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। जिनकी कषाय अपरिणत है अर्थात् उदयरूप नहीं है तथा जिनकी कषाय नष्ट होगई है, उनके स्थितिबन्धका

रसच्छेदको उसमें नहीं लिया है। देखो गा० २५८-२६०।

कारण नहीं है'। चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव होजाता है, अतः वहाँ एक भी बन्ध नहीं होता है ।।

योगस्थानोंका प्रमाण श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाया है । अतः श्रेणिका स्वरूप बतलाना आवश्यक है । किन्तु लोक और उसके घनफल का कथन किये बिना श्रेणिका स्वरूप नहीं बतलाया जासकता, अतः श्रेणिके साथ ही साथ घन और प्रतरका स्वरूप भी कहते हैं—

चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

अर्थ—लोक चौदह राजु ऊँचा है, और बुद्धिके द्वारा उसका समीकरण करनेपर वह सातराजुके घनप्रमाण होता है। सातराजु लम्बी आकाश के प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं, और उसके वर्गको प्रतर कहते हैं ।

भावार्थ—इस गाथामें प्रसङ्गवश लोक, श्रेणि और प्रतरका स्वरूप बतलाया है। गाथामें '**चउदसरज्जू लोओ**' लिखा है, जिसका आशय है कि लोक चौदह राजु है । किन्तु यह केवल उसकी ऊँचाईका ही प्रमाण है। लोकका आकार कटिपर दोनों हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर खड़े हुए मनुष्यके समान बतलाया है । जो इस प्रकार है—

---

१ त्रिलोकसार में लिखा है—

'उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसंचयसण्णिहो हवे लोगो ।
अद्धुदओ मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥ ६ ॥'

अर्थात् खड़ा करके आधे मृदङ्ग के ऊपर रखे हुए पूरे मृदङ्ग के समान लोक का आकार जानना चाहिये । उसका मध्य भाग ध्वजाओं के समूह के सदृश अनेक प्रकार के द्रव्योंसे भरा हुआ है । अधोलोक आधे मृदङ्ग के आकार है और उर्ध्वलोक पूरे मृदङ्ग के आकार है । तथा सबलोक चौदह राजु ऊंचा है ।

इसके नीचेका भाग चौड़ा है। फिर दोनों राजुकी ऊँचाई पर एक बढ़ते बढ़ते १०॥ राजु चौड़ा है। फिर घटते ऊँचाई पर एक राजु पूर्व-पश्चिम में घटता ७ राजु मोटाई है। इस और ऊँचाईका यदि किया जाये तो वह सात होता है।
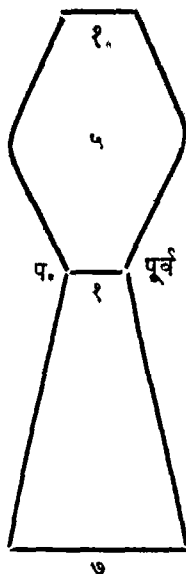
पूर्व-पश्चिम सात राजु ओरसे घटते घटते सात राजु चौड़ा है। पुनः की ऊँचाई पर पाँच राजु घटते चौदह राजु की चौड़ा है। इस प्रकार बढ़ता हुआ है। सर्वत्र की चौड़ाई मोटाई बुद्धिके द्वारा समीकरण राजु के घन के बराबर

इसके समीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात राजु है, और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-लोकके पासमें वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रक्खा जाये तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु होता है, किन्तु ऊँचाई सर्वत्र सातराजु ही रहती है। जैसे—
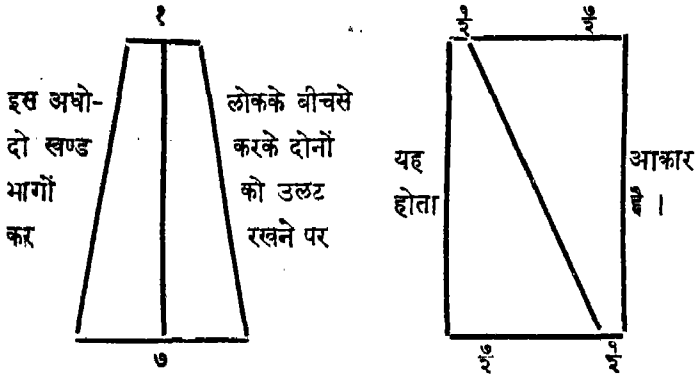
अब उर्ध्वलोकको लीजिये—उर्ध्वलोकका मध्यभाग पूर्वपश्चिममें ५ राजु चौड़ा है। उसमेंसे मध्यके तीन राजु क्षेत्रको ज्योंका त्यों छोड़कर दोनों ओरसे एक एक राजुके चौड़े और साढ़े तीन साढ़े तीन राजुके ऊँचे दो त्रिकोण खण्ड लेने चाहियें। उन दोनों खण्डोंको मध्यसे काटनेपर चार त्रिकोण खण्ड होजाते हैं, जिनमेंसे प्रत्येक खण्डकी भुजा एक राजु और कोटि पौने दो राजु होती है। उन चारों खण्डोंको उलटा सुलटा करके उनमेंसे दो खण्ड उर्ध्वलोकके अधोभागमें दोनों ओर, और दो खण्ड उसके उर्ध्वभागके दोनों ओर मिलादेने चाहिये। ऐसा करनेसे उर्ध्वलोककी ऊँचाईमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राजु होजाता है। जैसे—

इस तरह मिलाओ
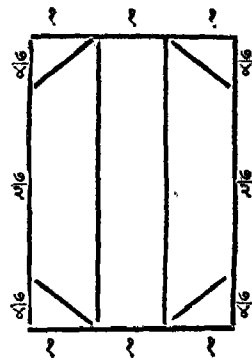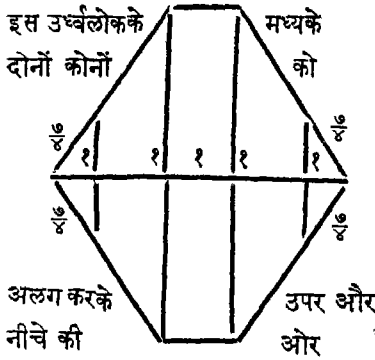
उर्ध्वलोकके इस नये आकारको अधोलोकके नये आकारके साथ मिलादेनेपर सात राजु चौड़ा, सात राजु ऊँचा और सात राजु मोटा चौकोर क्षेत्र हो जाता है। अतः ऊँचाई चौड़ाई और मोटाई, तीनों सात सात राजु होनेके कारण लोक सात राजु का घनरूप सिद्ध होता है।
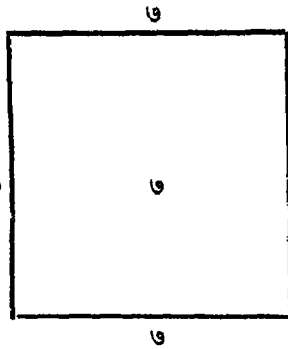
लोक तो वृत्त है और यह घन समचतुरस्ररूप होता है। अतः वृत्त करनेके लिये उसे १९ से गुणा करके बाईससे भागदेना चाहिये। तब वह कुछ कम सात राजू लम्बा, चौड़ा और गोल होता है। किन्तु व्यवहारमें सात राजूका चतुरस्र घनलोक जानना चाहिये।

सात राजु लम्बी आकाशके एक एक प्रदेशकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं। जहाँ कहीं श्रेणिके असंख्यातवें भागका कथन हो वहाँ यही श्रेणि लेनी चाहिये। श्रेणिके वर्गको प्रतर कहते हैं। अर्थात् श्रेणिमें जितने प्रदेश हों, उनको उतने ही प्रदेशोंसे गुणा करनेपर प्रतरका प्रमाण आता है। अथवा सात राजु लम्बी और सात राजु चौड़ी एक एक प्रदेशकी पंक्तिको प्रतर कहते हैं। तथा, प्रतर और श्रेणिको परस्परमें गुणा करनेपर घन या घनलोक होता है। इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घनलोकका प्रमाण जानना चाहिये॥

---

१ पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी श्रेणिका यही स्वरूप बतलाया है। यथा—'लोकमध्यादारभ्य उर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिः।' पृ० १००।

राजु का प्रमाण त्रिलोकसार में 'जगसेढिसत्तभागो रज्जु' (गा० ७) लिखकर श्रेणि के सातवें भाग बतलाया है। तथा द्रव्यलोक० में प्रमाणाङ्गुल से निष्पन्न असंख्यात कोटीकोटी योजनका एक राजु बतलाया है। यथा—'प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नयोजनानां प्रमाणतः। असंख्यकोटीकोटीभिरेका रज्जुः प्रकीर्तिता॥ ६४॥ १ स०।

२ प्रतर से आशय वर्ग का है। समान दो संख्याओंको आपसमें गुणा करने पर जो राशी उत्पन्न होती है वह उस संख्या का वर्ग कहलाती है। जैसे ७ का वर्ग करने पर ४९ आते हैं। तथा समान तीन संख्याओंका परस्पर में गुणा करने पर घन होता है। जैसे ७ का घन ७×७×७=३४३ होता है।

२१. उपशमश्रेणिद्वार

'नमिय जिणं धुवबन्धो' आदि पहली गाथामें जिन जिन विषयों का नाम लेकर उनका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञाकी थी, उन विषयोंका वर्णन तो किया जा चुका। अब उसी पहली गाथामें आये हुए 'च' शब्दसे जिन उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिका ग्रहण किया गया है, उनमेंसे पहले उपशमश्रेणिका कथन करते हैं—

अण-दंस-नपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥[1]

अर्थ—पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करता है। उसके बाद दर्शनमोहनीयका उपशम करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक एक संज्वलन कषायका अन्तर देकर दो दो सदृश कषायोंका एक साथ उपशम करता है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम करके संज्वलन क्रोधका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम करके संज्वलन मानका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम करके संज्वलन मायाका उपशम करता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करके संज्वलन लोभका उपशम करता है।

भावार्थ-पहले लिख आये हैं कि सातवें गुणस्थानसे आगे दो

---

१ यह गाथा आवश्यकनिर्युक्ति से ली गई जान पड़ती है। उसमें भी यह इसी प्रकार है—

'अण-दंस नपुंसित्थीवेय-छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ११६ ॥'

श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—एक उपशमश्रेणि और दूसरी क्षपकश्रेणि । उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका उपशम किया जाता है, इसीसे उसे उपशमश्रेणि कहते हैं । ग्रन्थकारने इस गाथामें मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम करनेका क्रम बतलाया है । सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम होता है, जिसका वर्णन निम्न प्रकारसे है—

चौथे, पाँचवे, छठे और सातवे गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करनेके लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है । यथाप्रवृत्तकरणमें प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है और उसकी वजहसे शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी वृद्धि तथा अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी हानि होती है । किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि अथवा गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं । यथाप्रवृत्तकरणका अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण होता है । इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध, ये पाँच कार्य होते हैं । अपूर्वकरणके प्रथम समयमें कर्मोंकी जो स्थिति होती है, स्थितिघातके द्वारा उसके अन्तिम समयमें वह संख्यातगुणी कर दी जाती है । रसघातके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंका रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है । [1]गुणश्रेणिरचनामें प्रकृतियोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर, ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक ले लेकर उदयावलीके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमें उनका निक्षेप कर दिया जाता है । अर्थात् पहले समयमें जो दलिक लिये जाते हैं, उनमेंसे सबसे कम दलिक प्रथम समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे भी असंख्यात गुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त कालके

१ गा० ८२-८३ में गुणश्रेणी का स्वरूप बतलाया है ।

अन्तिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयोंमें भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि गुणश्रेणिकी रचनाके लिये पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, वे थोड़े होते हैं। और उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण किया जाता है। तथा दलिकोंका निक्षेप, अवशिष्ट समयोंमें ही किया जाता है, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपरके समयोंमें नहीं किया जाता।

गुणसंक्रमके द्वारा अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियोंके थोडे दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही स्थिति-बन्ध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोड़ा होता है। अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समयसे ही पूर्वोक्त पाँच कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर जब एक भाग बाकी रहता है तो अनन्तानुबन्धी कषायके एक आवली प्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड़कर बाकी निषेकोंका उसी तरह अन्तरकरण किया जाता है जैसे कि पहले[1] मिथ्यात्वका बतलाया है। जिन अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँसे उठा उठाकर बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरणके प्रारम्भ होनेपर, दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी कषायके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंका उपशम किया जाता है। पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है, तीसरे समयमें

---

१ गा० १० में।

उससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक इसी तरह असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका प्रति समय उपशम किया जाता है। इतने समयमें सम्पूर्ण अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम हो जाता है। जैसे धूलिको पानी डाल डालकर कूट देनेसे वह दब जाती है और फिर हवा वगैरहसे उड़ नहीं सकती, उसी तरह कर्मरज भी विशुद्धिरूपी जलके द्वारा सींच सींच कर अनिवृत्तिकरणरूपी दुरमुठके द्वारा कूट दिये जानेपर उदय, उदीरण, निधत्ति वगैरह करणोंके अयोग्य हो जाती है। इसे ही अनन्तानुबन्धी[1] कषायका उपशम कहते हैं।

अनन्तानुबन्धीकषायका उपशम करनेके बाद मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिका उपशम करता है। जिनमेंसे मिथ्यात्वका उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका उपशम वेदकसम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, तब मिथ्यात्वका उपशम करता है। किन्तु उपशम श्रेणिमें प्रथमोपशमसम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता, अपि तु द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है, जिसमें दर्शनत्रिकका सम्पूर्णतया उपशम होता है। अतः यहाँ पर दर्शनत्रिकका उपशम वेदक-

---

१ कुछ आचार्य अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम नहीं मानते। उनके मतसे उसका विसंयोजन होता है। जैसा कि **कर्मप्रकृति** (उपशमकरण) में लिखा है—

'चउगइया पज्जता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा॥ ३१॥'

अर्थात्—'चौथे, पांचवे तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारोगतिके पर्याप्त जीव तीन करणोंके द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करते हैं। किन्तु यहां न तो अन्तरकरण होता है और न अनन्तानुबन्धीका उपशम ही होता है।'

सम्यग्दृष्टि ही करता है, और उसके उपशमका भी वही पूर्वोक्त क्रम है। अर्थात् तीन करण वगैरह करता है।

इस प्रकार दर्शनत्रिकका उपशम[1] करके, चरित्रमोहनीयका उपशम करनेके लिये पुनः यथाप्रवृत्त वगैरह तीन करणोंको करता है। करणोंका स्वरूप तो पूर्ववत् ही जानना चाहिये। यहाँ केवल इतना अन्तर है कि सातवें गुणस्थानमें यथाप्रवृत्त करण होता है, अपूर्वकरण अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थानमें होता है, और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामके नौवें गुणस्थानमें होता है। यहाँ पर भी स्थितिघात वगैरह कार्य होते हैं, इतनी विशेषता है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृतिका गुणसंक्रम होता है, जिसके

---

१ दर्शनमोहकी उपशमनाके सम्बन्धमें कर्मप्रकृतिमें लिखा है--

"अहवा दंसणमोहं पुव्वं उवसामइत्तु सामन्ने।
पढमठिइमावलियं करेइ दोण्हं अणुदियाणं॥ ३३॥
अद्धापरिवित्ताऊ पमत्त इयरे सहस्ससो किच्चा।
करणाणि तिन्नि कुणए तइयविसेसे इमे सुणसु॥३४॥" उपशमना०

अर्थ—'यदि वेदक सम्यक्दृष्टि उपशमश्रेणि चढ़ता है तो पहले मुनि अवस्थामें नियमसे दर्शनमोहनीयत्रिकका उपशम करता है। इतना विशेष है कि अन्तरकरण करते हुए अनुदित मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व-की प्रथमस्थितिको आवलिका प्रमाण करता है। तथा सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिको अन्तर्मुहूर्तप्रमाण करता है। उपशमन करके प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानमें हजारों बार आवागमन करके चारित्रमोहनीयकी उपशमनाके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। तीसरे अनिवृत्ति-करणमें कुछ विशेषता है, उसे सुनो।' इस विशेषताको जाननेके लिये इससे आगेकी गाथाएँ देखनी चाहियें।

सम्बन्धमें वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानमें सम्पूर्ण अशुभ प्रकृतियोंका गुणसंक्रम होता है। अपूर्वकरणके कालमेंसे संख्यातवाँ भाग बीत जानेपर निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। उसके बाद और भी काल बीतनेपर सुरद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति वगैरह तीस प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद होता है। तथा अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्धविच्छेद होता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात वगैरह कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर चारित्र मोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। जिन कर्मोंका उस समय बन्ध और उदय होता है, उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थितिमें क्षेपण करता है। जैसे पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका उस समय केवल उदय ही होता है, बन्ध नहीं होता, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थितिमें ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थितिमें नहीं। जैसे स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला स्त्रीवेदका। जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उस समय केवल बंध ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका द्वितीयस्थितिमें ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे संज्वलन क्रोधके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला शेष संज्वलन कषायोंका। किन्तु जिन कर्मोंका न तो बन्ध ही होता है और न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें क्षेपण करता है। जैसे द्वितीय और तृतीय कषायका।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुंसकवेदका[1] उपशम करता है।

---

१ आवश्य० नि० गा० ११६ की टीका के, तथा विशेषा० भा० गा० १२८८ के अनुसार यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीवकी अपेक्षासे बतलाया गया है। यदि स्त्रीवेदके उदयसे कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुंसकवेदका उपशम करता है। फिर क्रम

से पुरुषवेद, हास्यादिषट्क और स्त्रीवेदका उपशम करता है। तथा यदि नपुंसकवेदके उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेदका उपशम करता है उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद हास्यादिषट्क और नपुंसक-वेद का उपशम करता है। सारांश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि पर चढ़ता है, उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है। जैसा कि विशेषा० भा० में लिखा है—

"तत्तो य दंसणतिगं तओऽणुइण्णं जहन्नयरवेयं।
तत्तो वीयं छक्कं तओ य वेयं सयमुदिन्नं ॥१२८८॥"

अर्थात्—अनन्तानुबन्धी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है। उसके पश्चात् अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है। उसके पश्चात् दूसरे वेदका उपशम करता है। उसके पश्चात् हास्यादिषट्कका उपशम करता है। उसके पश्चात् जिस वेदका उदय होता है उसका उपशम करता है।

कर्मप्रकृतिमें इस क्रमको इस प्रकार बतलाया है—

'उदयं वज्जिय इत्थी इत्थिं समयइ अवेयगा सत्त।
तह वरिसवरो वरिसवरित्थिं समगं कमारद्धे ॥ ६५ ॥' उपशमना०

अर्थात्—यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुंसकवेद-का उपशम करती है उसके बाद चरमसमयमात्र उदयस्थितिको छोड़कर स्त्री वेदके शेष सभी दलिकोंका उपशम करती है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करती है। तथा यदि नपुंसक उपशमश्रेणि पर चढ़ता है तो एक उदयस्थितिको छोड़कर शेष नपुंसक वेदका तथा स्त्रीवेदका एक साथ उपशम करता है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुष वेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है।

लब्धिसारमें भी कर्मप्रकृतिके अनुरूप ही विधान है। देखो-गा० ३६१-३६२।

उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें हास्यादिषट्कका उपशम करता है। हास्यादिषट्कका उपशम होते ही पुरुषवेदके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है। हास्यादिषट्ककी उपशमनाके अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्रमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। जिस समयमें हास्यादिषट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। जब संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक आवलिका काल शेष रह जाता है तो संज्वलन क्रोधके बन्ध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन क्रोधकी प्रथमस्थितिगत एक आवलिकाको और ऊपरकी स्थितिगत एक समय कम दो आवलिकामें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन क्रोधका उपशम हो जाता है। जिस समयमें संज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मानकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको ले लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करनेके प्रथमसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मानका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका संज्वलन मानमें प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया वगैरहमें किया जाता है। एक आवलिका शेष रहनेपर संज्वलन मानके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिगत एक

आवलिका और एक समय कम दो आवलिकामें बांधे गये ऊपरकी स्थिति-गत कर्मदलिकोंको छोड़कर शेष दलिकोंका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मानका उपशम करता है। जिस समयमें संज्वलन मानके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्तप्रकारसे प्रथम स्थिति करता है और उसी समयसे लेकर तीनों मायाका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन अवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाके दलिकोंका संज्वलन मायामें प्रक्षेप नहीं करता, किन्तु संज्वलन लोभमें प्रक्षेप करता है। एक आवलिका शेष रहने-पर संज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिकामें बाँधे गये ऊपरकी स्थितिगत दलि-कोंको छोड़कर शेषका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मायाका उपशम करता है। जब संज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन लाभकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्त प्रकारसे प्रथम स्थिति करता है। लोभका जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थितिका काल रहता है। प्रथम त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व स्पर्द्धक करता है। अर्थात् पहलेके स्पर्द्धकोंमेंसे दलिकोंको ले लेकर उन्हें अत्यन्त रस-हीन कर देता है। द्वितीय त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकों और अपूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अनन्त कृष्टि करता है, अर्थात् उनमें अनन्तगुणा हीन-रस करके उन्हें अन्तरालसे स्थापित कर देता है। कृष्टिकरणके कालके

अन्त समयमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करता है। उसी समयमें संज्वलन लोभके बन्धका विच्छेद होता है और बादर संज्वलन लोभके उदय तथा उदीरणाका विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवें गुणस्थानका अन्त हो जाता है। उसके बाद दसवाँ सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान होता है। सूक्ष्मसाम्परायका काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आनेपर ऊपरकी स्थितिसे कुछ कृष्टियोंको लेकर सूक्ष्मसाम्परायके कालके बराबर प्रथम स्थितिको करता है, और एक समय कम दो आवलिकामें बंधे हुए शेष दलिकोंका उपशम करता है। सूक्ष्म साम्परायके अन्तिम समयमें संज्वलन लोभका उपशम हो जाता है। उसी समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है। अनन्तर समयमें ग्यारहवां गुणस्थान उपशान्त[1] कषाय हो जाता है। इस गुणस्थानमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंका उपशम रहता है।

शङ्का[2]—सप्तम[3] गुणस्थानवर्ती जीव ही उपशमश्रेणिका प्रारम्भ करता

---

१ लब्धिसार गा० २०५-३९१ में उपशम का विधान विस्तार से किया है, जो प्रायः उक्त वर्णन से मिलता जुलता है। किन्तु उसमें अनन्तानुबन्धी के उपशम का विधान नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार विसंयोजन के ही पक्षपाती हैं। जैसा कि उसमें लिखा भी है—

'उवसमचरियाहिमुहा वेदगसम्मो अणं वियोजित्ता ॥ २०५ ॥'

अर्थात् 'उपशमचारित्रके अभिमुख वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके' इत्यादि।

२ इस शङ्का-समाधानके लिये विशेषावश्यक भा० गा० १२९५-१३०३ देखना चाहिये।

३ इस सम्बन्ध में मतान्तर भी है। यथा—

"अन्ने भणंति अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं।

है, और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्वका उपशम करनेपर सातवाँ गुणस्थान होता है, क्योंकि उनका उदय होते हुए सम्यक्त्व वगैरहकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती। ऐसी दशामें उपशम श्रेणिमें पुनः उनका उपशम बतलानेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्रकी प्राप्ति उक्त प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होती है और वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही उपशम-श्रेणिमें उपशम सम्यक्त्व होता है। अतः उपशम श्रेणिका प्रारम्भ करनेसे पहले उक्त प्रकृतियोंका क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम।

शङ्का—उदयमें आये हुए कर्म दलिकोंका क्षय, और सत्तामें विद्यमान कर्मदलिकोंका उपशम होनेपर क्षयोपशम होता है। अतः उपशम और क्षयोपशममें अन्तर ही क्या है ?

अन्नयरो पडिवज्जइ दंसणसमणम्मि उ नियट्टी ॥१२९१॥" विशे० भा०

अर्थात्–'अन्य आचार्योंका कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशमश्रेणि चढ़ता है।'

इस मत भेदका कारण सम्भवतः यह मालूम पड़ता है कि, जिन्होंने दर्शनमोहनीय के उपशम से, या यूं कहना चाहिये कि द्वितीय उपशम-सम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ माना है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंको उपशमश्रेणिका प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि उपशमसम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों में ही प्राप्त किया जाता है। किन्तु जो चारित्रमोहनीय के उपशम से या यूं कहना चाहिये कि उपशम-चारित्रकी प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नसे उपशमश्रेणिका प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवको ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सातवें गुणस्थानमें ही यथाप्रवृत्तकरण होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय इस दूसरे मतको ही मानता है।

उत्तर—क्षयोपशममें घातक कर्मोका प्रदेशोदय रहता है किन्तु उपशममें उनका किसी भी तरहका उदय नहीं होता ।

शङ्का—यदि क्षयोपशमके होनेपर भी अनन्तानुबन्धी कषाय वगैरहका प्रदेशोदय होता है, तो सम्यक्त्व वगैरहका घात क्यों नहीं होता ?

उत्तर—उदय[1] दो तरहका होता है—एक फलोदय और दूसरा प्रदेशोदय । फलोदय होनेसे गुणका घात होता है, किन्तु प्रदेशोदय अत्यन्त मन्द होता है अतः उससे गुणका घात नहीं होता । अतः क्षयोपशम और उपशममें अन्तर होनेके कारण उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धी वगैरहका उपशम किया जाता है । सारांश यह है कि उपशम श्रेणिमें मोहनीयकर्मकी समस्त प्रकृतियोंका पूरी तरहसे उपशम किया जाता है । उपशम कर देनेपर उस कर्मका अस्तित्व तो बना ही रहता है, जैसे गदले पानीसे भरे हुए घड़ेमें फिटकरी वगैरह डाल देनेसे, पानीकी गाद उसके तलमें बैठ जाती है । पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्योंकी त्यों मौजूद रहती है । उसी तरह उपशम श्रेणिमें जीवके भावोंको कलुषित करनेवाला प्रधान मोहनीय कर्म शान्त कर दिया जाता है । अपूर्वकरण वगैरह परिणाम ज्यों ज्यों ऊँचे उठते जाते हैं, त्यों त्यों मोहनीयरूपी धूलिके कणस्वरूप उसकी उत्तर प्रकृतियां एकके बाद एक शान्त होती चली जाती हैं । इसप्रकार उपशम की गई प्रकृतियोंमें न तो स्थिति और अनुभागको कम किया जासकता है, और न उन्हें बढ़ाया जासकता है । न उनका उदय या उदीरणा हो

---

१ "तथा चोक्तमागमे-'एवं खलु गोयमा ! मए दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा-पएसकम्मेय अणुभावकम्मे य । तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ । तत्थ णं जं तं अणुभावकम्मं तं अत्थे गइयं वेदेइ, अत्थे गतियं नो वेएइ' । भग० ।" विशेषा० मा० कोट्या० टी० पृ० ३८२ ।

सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृतिरूप ही किया जासकता है । उपशम करनेका ये ही लाभ हैं । किन्तु उपशम तो केवल अन्तर्मुहूर्त कालके लिये किया जाता है । अतः दसवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका उपशम करके जब जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है, तो कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तके बाद, शान्त हुई कषायें[2] उसी तरह उठ खड़ी होती हैं, जैसे शहरमें उपद्रव करनेवाले गुण्डे पुलिसको आता देख कर इधर उधर छिप जाते हैं, किन्तु उसके जाते ही प्रकट होकर पुनः उपद्रव मचाना शुरू कर देते हैं । फल यह होता है कि वह जीव जिस क्रमसे ऊपर चढ़ा था उसी क्रमसे नीचे उतरना शुरू कर देता है, और ज्यों ज्यों नीचे उतरता जाता है त्यों त्यों, चढ़ते समय जिस जिस गुण स्थानमें जिन जिन प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिति की थी, उस उस गुण स्थानमें आनेपर वे पुनः बंधने लगती हैं । उतरते उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है और यदि वहां भी अपनेको नहीं सम्हाल पाता तो पांचवे और चौथे गुणस्थानमें पहुँचता है । यदि अनन्तानुबन्धीका उदय आजाता है तो सास्वादन[3] सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्वमें पहुँच जाता है । और इस

---

१ "अन्यत्राप्युक्तं-'उवसंतं कम्मं जं न तओ कडेइ न देइ उदए वि ।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्डए तं तु ॥१॥"
पञ्च० कर्मग्रन्थ स्वो० टी०पृ०१३१ ।

२ "उवसामं उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि ।
पडिवायंति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे ॥११८॥" आव०नि०।
अर्थात्-गुणवान् पुरुषके द्वारा उपशान्तकी गई कषाय जिन भगवानके सदृश चारित्रवाले व्यक्तिका भी पतन करा देती हैं, फिर अन्य सरागी पुरुषोंका तो कहना ही क्या है ?

३ विशे० भा० में लिखा है-
"पज्जवसाणे सो वा होइ पमत्तो अविरओ वा ॥ १२९० ॥"

तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है। किन्तु यदि छठे गुणस्थानमें आकर सम्हल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणि चढ़ सकता है, क्योंकि एक

कोट्याचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—" 'पज्जवसाणे' तस्याः प्रतिपतन् स वा भवेद् अप्रमतसंयतो वा स्यात्, प्रमत्तो वा, अविरत-सम्यग्दृष्टिर्वा, वा शब्दात् सम्यक्त्वमपि जह्यात्" ।

अर्थात्—'श्रेणी से गिरकर अप्रमत्तसंगत, प्रमत्तसंयत, (देशविरत) या अविरतसम्यग्दृष्टि होता है । 'वा' शब्द से सम्यक्त्व को भी छोड़ देता है ।

बृहद्वृत्तिमें लिखा है—'श्रेणेः समाप्तौ च निवृत्तोऽप्रमत्तगुणस्थाने प्रमत्तगुणस्थाने वाऽवतिष्ठते । कालगतस्तु देवेष्वविरतो वा भवति । कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु प्रतिपतितोऽसौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमपि यावद् गच्छति ।'

अर्थात्—'श्रेणि की समाप्ति पर वहां से लौटते हुए जीव सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है। किन्तु यदि मर जाता है तो मरकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है । कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो श्रेणिसे गिरकर जीव पहले गुणस्थान तक भी जाता है ।' इससे पता चलता है कि सम्यक्त्व का वमन करने में सिद्धान्तशास्त्रियों और कर्मशास्त्रियों में मतभेद है । दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्यों में भी इस विषय में मतभेद है । यह बात लब्धिसार की निम्न गाथाओं से स्पष्ट है । उपशमसम्यक्त्वका काल बतलाते हुए लिखा है—

"चडणोदरकालादो पुव्वादो पुव्वगोत्ति संखगुणं ।
कालं अधापवत्तं पालदि सो उवसमं सम्मं ॥ ३४७ ॥
तस्सम्मत्तद्धाए असंजमं देससंजमं वापि ।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि ॥ ३४८ ॥
जदि मरदि सासणो सो णिरयतिरक्खं णरं ण गच्छेदि ।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण ॥ ३४९ ॥

भवमें दो बार उपशम श्रेणि चढ़नेका विधान[1] पाया जाता है। किन्तु दो बार उपशम श्रेणि चढ़नेपर वह जीव उसी भवमें क्षपकश्रेणि नहीं चढ़ सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह दूसरी बार क्षपक श्रेणि

णरतिरियक्खणराउगसत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदुं।
तम्हा तिसुवि गदीसु ण तस्स उप्पज्जणं होदि ॥ ३५० ॥"

अर्थात्—चढ़ते समय अपूर्वकरणके प्रथम समय से लेकर उतरते समय अपूर्वकरणके अन्तिम समय पर्यन्त, जितना काल लगता है, उससे संख्यात-गुणा काल द्वितीय उपशम सम्यक्त्वका होता है। इसमें अधःप्रवृत्तका काल भी समझ लेना चाहिये। यह काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। इस कालमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने पर जीव देशसंयम को प्राप्त करता है अथवा अप्रत्याख्यानावरणाकषायका उदय होनेपर असंयम को प्राप्त होता है। तथा, छह आवली काल बाकी रह जानेपर अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यदि सासादनदशामें वह मरण करता है, तो नियमसे देव ही होता है ऐसा यतिवृषभाचार्य का मत है, क्योंकि नरकायु, तिर्यश्चायु और मनुष्यायु (परभव की अपेक्षासे) की सत्तावाला मनुष्य चारित्र मोहनीयका उपशम नहीं कर सकता।' इस प्रकार यतिवृषभाचार्य के मतसे सासादनगुणस्थानकी प्राप्ति बतलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बतलाते हुए लिखते हैं—

"उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुतस्स फुडोवदेसेण ॥ ३५१ ॥"

अर्थात्—'भूतबलि स्वामी के निर्मल सूत्र (महाकर्म प्रकृति) के स्पष्ट, उपदेश के अनुसार जीव उपशमश्रेणि से उतरकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त नही होता।'

१ 'एकभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा. ६४, पञ्चसं० गा० ९३ (उपशम०)

भी चढ़ सकता है। किन्तु यह कर्मशास्त्रियोंका मत है। सिद्धान्तशास्त्रियों-के मतसे तो एक भवमें एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ता है। इसप्रकार उपशम श्रेणिका स्वरूप जानना चाहिये।

२२. क्षपकश्रेणिद्वार

उपशमश्रेणिका वर्णन करके अब क्षपकश्रेणिका वर्णन करते हैं—

अण-मिच्छ-मीस-सम्मं तिआउ-इग-विगल-थीणतिगु-ज्जोवं।

---

१ "उक्तञ्च सप्ततिकाचूर्णौ—

'जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवग-सेढी हुज्ज त्ति।' पञ्च० कर्मग्र० टी०, पृ १३२।

२ "तम्मि भवे निव्वाणं न लभइ उक्कोसओ व संसारं।

पोग्गलपरियट्टद्धं देसूणं कोइ हिंडेज्जा॥ १३१५॥" विशे० भा०।

अर्थात्—उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोक्ष नहीं जा सकता, और कोई कोई तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसार में भ्रमण करते हैं।

लब्धिसार में लिखा है कि जीव उपशम श्रेणिमें अधःकरण पर्यन्त तो क्रम से गिरता है। उसके बाद यदि पुनः विशुद्ध परिणाम होते हैं तो पुनः ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है। और यदि संक्लेश परिणाम होते हैं तो नीचे के गुणस्थानोंमें आता है।

यथा—"अद्धाखये पडंतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण।

सुज्झंतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो॥ ३१०॥"

३ आवश्यकनिर्युक्ति (प्र० भा०) में इन प्रकृतियोंको इस प्रकार गिनाया है—

तिरि-नरय-थावरदुगं साहारा-यव-अड-नपु-त्थीए ॥ ९९ ॥
छग-पुं-संजलणा-दोनिद्द-विग्घ-चरणक्खए नाणी ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, मनुष्यायुके सिवाय बाकीकी तीन आयु, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय (दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियजाति), स्त्यानर्द्धि आदि तीन, उद्योत, तिर्यञ्च-गति और तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति और नरकानुपूर्वी, स्थावर और सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनकषाय, दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण, इन ६३ प्रकृतियोंका क्षय करनेपर जीव केवलज्ञानी होता है ।

भावार्थ—पहले लिख आये हैं कि क्षपकश्रेणिमें मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका मूलसे नाश किया जाता है । इसीसे उसे क्षपकश्रेणि कहते हैं । अर्थात् उपशमश्रेणिमें तो प्रकृतियोंके उदयको शान्त कर दिया जाता है, प्रकृतियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु वे अन्तर्मुहूर्तके लिये अपना फल वगैरह नहीं दे सकतीं । किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है । अतः उनके पुनः उदय होनेका भय नहीं रहता, और इसी कारणसे क्षपकश्रेणिमें पतन नहीं होता । उक्त गाथामें उन प्रकृतियोंके नाम बतलाये हैं, जिनका क्षपकश्रेणिमें क्षय किया जाता है । क्षपणका क्रम निम्न प्रकार है—

"अण मिच्छ-मीस-सम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेय-छक्कं च ।
पुमवेयं च खवेइ कोहाइए य संजलणे ॥ १२१ ॥
गइ अणुपुव्वि दो दो जातीनामं च जाव चउरिंदी ।
आयावं उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च ॥ १२२ ॥
साहारमप्पजत्तं निद्दानिद्दं च पयलपयलं च ।
थीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं ॥ १२३ ॥"

आठ वर्षसे अधिक आयुवाला, उत्तम संहननका धारक,[1] चौथे, पाँचवे, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ करता है । [2]सबसे पहले वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका एक साथ नाश करता है, और उसके शेष अनन्तवें भागको मिथ्यात्वमें स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंशका एक साथ नाश करता है । उसके बाद इसी प्रकार क्रमशः सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय[3] करता है । जब सम्यक्मिथ्यात्वकी स्थिति एक आवलिकामात्र बाकी रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीयकी स्थिति आठवर्ष प्रमाण बाकी रहती है । उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण खंड कर करके खपाता है । जब उसके अन्तिम स्थितिखण्डको खपाता है तब उस क्षपकको कृतकरण कहते हैं । इस कृतकरणके काल

---

१ "पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं ।

अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो॥१३२१॥ विशे०भा० ।

दिगम्बर सम्प्रदायमें चारित्रमोहनीयके क्षपणसे ही क्षपकश्रेणि ली जाती है जैसा कि उपशमश्रेणिके बारेमें भी लिख आये हैं । अतः वहाँ क्षपकश्रेणिका आरोहक सप्तम गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही माना जाता है ।

२ "पढमकसाए समयं खवेइ अंतोमुहुत्तमेत्तेणं ।

तत्तो च्चिय मिच्छत्तं तओ य मीसं तओ सम्मं ॥१३२२॥" विशे०

३ लब्धिसार में दर्शनमोह की क्षपणा के बारे में लिखा है—

"दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो ।

तित्थयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥ ११० ॥

णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य ।

किदकरणिज्जो चदुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥ १११ ॥"

अर्थात्—कर्मभूमि का मनुष्य तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूल में दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है । अधःकरणके प्रथम समयसे लेकर जब तक मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीयका द्रव्य

में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें उत्पन्न हो सकता है। यदि क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ बद्धायु जीव करता है, तो अनन्तानुबन्धीके क्षयके पश्चात् उसका मरण होना संभव है। उस अवस्था-में मिथ्यात्वका उदय होनेपर वह जीव पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध करता है, क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धी नियमसे बंधती है। किन्तु

सम्यक्त्व प्रकृतिरूप संक्रमण करता है, तब तकके अन्तर्मुहूर्त कालको दर्शनमोहके क्षपणका प्रारम्भक काल कहा जाता है। और उस प्रारम्भ कालके अनन्तर समयसे लेकर क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पहले समय तक-का काल निष्ठापक कहा जाता है। सो निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था, वहाँ ही, अथवा सौधर्मादि स्वर्गोंमें, अथवा भोग भूमिमें, अथवा घर्मा नामके प्रथम नरकमें होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है।

सम्भवतः ऊपर जिसे 'कृतकरण' कहा है उसे ही दिगम्बर सम्प्र-दायमें 'कृतकृत्य' कहते हैं। जो इस बात को बतलाता है कि उस जीवने अपना कार्य कर लिया, अतः वह कृतकृत्य हो गया। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अधिकसे अधिक चौथे भवमें नियमसे मोक्ष चला जाता है। कृतकृत्य वेदकका काल अन्तर्मुहूर्त है। उस अन्तर्मुहूर्तमें यदि मरण हो तो—"देवेसु देवमणुवे सुरणरतिरिये चउगईसुंपि।

कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अंतोमुहुत्तेण ॥५६२॥" कर्मकाण्ड।

उसके प्रथम भागमें मरनेपर देवगतिमें, दूसरे भागमें मरनेपर देव और मनुष्यगतिमें, तीसरे भागमें मरनेपर देव, मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें, और चौथे भागमें मरनेपर चारों गतिमें कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है।

१ "बद्धाउ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि॥१३२३॥विशे०भा०

मिथ्यात्वका क्षय होजानेपर पुन: अनन्तानुबन्धीके बन्धका भय नहीं रहता। बद्धायु होनेपर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता, तो अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहका क्षपण करनेके बाद वह वहीं ठहर जाता है, चारित्र मोहनीयके क्षपण करनेका यत्न नहीं करता। किन्तु यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणिको समाप्त करके केवलज्ञानको प्राप्त करता है, और फिर मुक्त हो जाता है। अत: सकल श्रेणिको समाप्त करने वाले मनुष्यके देवायु, नरकायु और तिर्यञ्चायुका अभाव तो स्वत: ही होता है। तथा पूर्वोक्त क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि चार तथा दर्शनत्रिकका क्षय चौथे आदि चार गुण स्थानोंमें कर देता है। उसके पश्चात् चरित्र मोहनीयका क्षय करनेके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करता है।

इन तीनों करणोंका स्थान तथा कार्य पहले उपशम श्रेणीके वर्णनमें बतला ही आये हैं। यहाँ अपूर्वकरणमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायकी आठ प्रकृतियोंका इस तरह क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें उनकी स्थिति पल्यके असंख्यातवें भागमात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग वीत जानेपर स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थिति उद्वलना संक्रमणके द्वारा उद्वलना होनेपर पल्यके असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। उसके बाद गुणसङ्क्रमके द्वारा बध्यमान प्रकृतियोंमें उनका प्रक्षेप कर करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयका प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वह क्षीण नहीं होती है, अंतरालमें ही पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंका क्षपण किया जाता

---

१ "बद्धाऊपडिवन्नो नियमा खोणम्मि सत्तए ठाइ।
इयरोऽणुवरओ च्चिय सयलं सेढिं समाणेइ ॥१३२३॥" विशे० भा०।

है। उनके क्षयके[1] पश्चात् उन आठ कषायोंका भी अन्तर्मुहूर्तमें ही क्षय कर देता है। उसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार संज्वलन कषायोंमें अन्तरकरण करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायोंका क्षपण करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीन खण्ड करके दो खण्डोंका एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन क्रोधमें मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके लिये है। यदि[2] स्त्री श्रेणि-

---

१ किसी किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है, उनके मध्यमें आठ कषायका क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। देखो, पंच० कर्म० प्र० टी० पृ० १३५ और कर्मप्रकृ० सत्ताधि० गा० ५५ की यशो० टी०। कर्मकाण्डमें इस सम्बन्ध में मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"णत्थि अणं उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य।
पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइ णिद्दिट्ठं ॥ ३९१ ॥"

अर्थात्–'उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धिका सत्व नहीं होता। और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायों का क्षपण करके पश्चात् सोलह वगैरह प्रकृतियोंका क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते हैं।'

२ पञ्चसंग्रह में लिखा है–

"इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा।
अपुमोदयंमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥ ३४६ ॥"

अर्थ—स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेपर पहले नपुंसकवेदका क्षय होता है, फिर स्त्री वेदका क्षय होता है, फिर पुरुष वेद और हास्यादिषट्का क्षय होता है। नपुंसकवेदके उदयसे श्रेणि चढनेपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका एक साथ क्षय होता है, उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादिषट्कका क्षय होता है।

कर्मकाण्ड गा० ३८८ से भी इसी क्रम को बतलाया है।

पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेदका क्षपण करती है। उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्री वेदका क्षपण करती है। तथा यदि नपुंसक श्रेणिपर आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेदका क्षपण करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद छह नोकषाय और नपुंसकवेदका क्षपण करता है। सारांश यह है जिस वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उसका क्षपण अन्तमें होता है। वेदके क्षपणके बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभका क्षपण उक्त प्रकारसे करता है। अर्थात् संज्वलन क्रोधके तीन खण्ड करके दो खण्डोंका तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन मानमें मिला देता है। इसीप्रकार मानके तीसरे खण्डको मायामें मिलाता है और मायाके तीसरे खण्डको लोभमें मिलाता है। प्रत्येकके क्षपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है तथा श्रेणिका काल भी अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। लोभ कषायके भी तीन खण्ड करके दो खण्डोंका तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खण्डके संख्यात खण्ड करके चरम खण्डके सिवा शेष खण्डोंको भिन्न भिन्न समयमें खपाता है। फिर उस चरम खण्डके भी असंख्यात खण्ड करके उन्हें दसवें गुणस्थानमें भिन्न भिन्न समयमें खपाता है। इसप्रकार लोभकषायका पूरी तरहसे क्षय होनेपर अनन्तर समयमें क्षीणकषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थानके कालके संख्यात भागोंमेंसे एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीयकर्मके सिवा शेषकर्मोंमें स्थितिघात वगैरह पूर्ववत् होते हैं। उसमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय और दो निद्रा, इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थितिको क्षीणकषायके कालके बराबर करता है, केवल निद्राद्विककी स्थितिको एक समय कम करता है। इनकी स्थिति बराबर होते ही इनमें स्थितिघात वगैरह कार्य होने बन्द होजाते हैं, शेष प्रकृतियोंमें होते रहते हैं। क्षीणकषायके उपान्त समयमें निद्राद्विकका क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियोंका अन्तिम समयमें क्षय करता है।

उसके[1] अनन्तर समयमें वह सयोगकेवली हो जाता है[2] ।

---

१ विशे० भा० में इस क्रमको चित्रण करते हुए लिखा है—

"दंसणमोहखवणे नियट्टि अणियट्टि बायरो परओ ।
जाव उ सेसो संजलणलोभमसंखेज्जभागोत्ति ॥ १३३८ ॥
तदसंखिज्जइभागं समए समए खवेइ एक्केक्कं ।
तत्थइ सुहुमसरागो लोभाणू जावमेक्को वि ॥ १३३९ ॥
खीणे खवगनिगंठो वीसमए मोहसागरं तरिउं ।
अंतोमुहुत्तमुदहिं तरिउं थाहे जहा पुरिसो ॥ १३४० ॥
छउमत्थकालदुचरिमसमए निद्दं खवेइ पयलं च ।
चरिमे केवललाभो खीणावरणांतरायस्स ॥ १३४१ ॥

२ आवश्यकनिर्युक्तिकी मलयगिरिकृत टीकामें बारहवें गुणस्थानमें क्षय की जानेवाली प्रकृतियोंके सम्बन्धमें एक मतान्तरका उल्लेख किया है । लिखा है—

"अन्ये त्वेवममिदधति–द्विचरमे समये क्षीणमोहो निद्रां प्रचलां च क्षपयति, नाम्नश्च इमाः प्रकृतीः, तद्यथा–देवगतिदेवानुपूर्व्यौ, वैक्रियद्विकं, प्रथमवर्जानि पञ्च संहननानि, उदितवर्जानि पञ्च संस्थानानि, आहारकनाम, तीर्थकरनाम च यद्यस्यातीर्थकरः प्रतिपत्ता इति । अत्रार्थे च तन्मतेन तिस्रोऽन्यकर्तृका इमा गाथाः–"वीसमिऊण नियंठो दोहि उ समएहिं केवले सेसे । पढमं निद्दं पयलं नामस्स इमाउ पयडीतो ॥ १ ॥ देवगइआणुपुव्वीवेउव्वियसङ्घयणपढमवज्जाई । अन्नयरं संठाणं तित्थयराहारनामं च ॥ २ ॥ चरमे नाणावरणं पंचविहं दंसणं चउविकप्पं । पंचविहमन्तरायं खवइत्ता केवली होइ ॥३॥" एतच्च मतमसमीचीनम्, चूर्णिकृतो भाष्यकृतः सर्वेषां च कर्मग्रन्थकाराणामसम्मतत्वात्, केवलं वृत्तिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति । सूत्रेऽप्येता गाथा प्रवाहपतिताः, निर्युक्तिकारकृतास्तु एता न भवन्ति, चूर्णौ भाष्ये

वह सयोगकेवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टसे कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करके, यदि उनके वेदनीय वगैरह कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मसे अधिक होती है तो उनके समीकरणके लिये समुद्घात करते हैं, और उसके पश्चात् योगका निरोध करनेके लिये उपक्रम करते हैं। अन्यथा समुद्घात किये बिना ही योगका निरोध करनेके लिये उपक्रम करते हैं। सबसे पहले बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् बादर वचनयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म काय योगके

च अग्रहणात् इति ॥" पृ. १२७ उ०।

अर्थात्-किन्हींका कहना है कि बारहवें गुणस्थानके उपान्त समयमें निद्रा, प्रचला तथा नामकर्मकी देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियद्विक, पहलेके सिवाय बाकीके पाँच संहनन, जिस संस्थानका उदय हो उसके सिवाय शेष पाँच संस्थान, आहारक नाम, यदि क्षपक तीर्थंकर न हुआ तो तीर्थंकर नाम, इन प्रकृतियोंका क्षय करता है। इसके समर्थनमें किसी अन्य आचार्यकी बनाई हुई तीन गाथाएँ वे उपस्थित करते हैं। जो इस प्रकार हैं, उनमें लिखा है कि 'जब केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें दो समय शेष रह जाते हैं तो निर्ग्रन्थ पहले समयमें निद्रा प्रचला वगैरहका क्षय करता है और अन्त समयमें ज्ञानावरण वगैरहकी चौदह प्रकृतियोंका क्षपण करके केवली हो जाता है।' किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि चूर्णिकार, भाष्यकार और समस्त कर्मग्रन्थोंके रचयिता आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। केवल वृत्तिकारने किसी अभिप्रायसे इसे लिख दिया है। सूत्रमें भी ये गाथाएँ प्रवाह रूपसे आ मिली हैं, किन्तु ये निर्युक्तिकारकी बनाई हुई मालूम नहीं होती, क्योंकि चूर्णि और भाष्यमें इनका ग्रहण नहीं किया है।

नोट-आगमोदयसमितिसे प्रकाशित नन्द्यादिगाथाद्यकारानुक्रमणिकामें उक्त गाथाओंका नम्बर क्रमशः १२४, १२५ और १२६ है और उन्हें आवश्यकसूत्रकी गाथाएँ बतलाया है।

द्वारा बादर काययोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। उसके पश्चात् सूक्ष्म काययोग-को रोकनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानको ध्याते हैं । उस ध्यानमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय पर्यन्त आयु-कर्मके सिवा शेष कर्मोंका अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समयमें सब कर्मोंकी स्थिति अयोगी अवस्थाके कालके बराबर हो जाती है। इतना विशेष है कि अयोगी अवस्थामें जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। सयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियोंके उदय और उदीरणाका विच्छेद होजाता है । उसके अनन्तर समयमें वह अयोगकेवली होजाते हैं । उस अवस्थामें वह व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं । यहाँ स्थितिघात वगैरह नहीं होता, अतः जिन कर्मोंका उदय होता है उनको तो स्थिति-का क्षय होनेसे अनुभव करके नष्ट करदेते हैं । किन्तु जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, उनका स्तिबुक सङ्क्रमके द्वारा वेद्यमान प्रकृतियोंमें संक्रम करके अयोगी अवस्थाके उपान्त समय तक वेदन करते हैं। उपान्त समयमें ७२ का और अन्त समयमें १३ [1]प्रकृतियोंका क्षय करके

---

१ इस सम्बन्धमें मतान्तर है, जिसका उल्लेख छठे कर्म-ग्रन्थ तथा उसकी टीकामें इस प्रकार किया है-

"तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतं सगमुक्कोसं जहन्नयं बारस हवन्ति ॥ ६८ ॥
मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीववागत्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिमभवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥"

अर्थात्-'तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें आनुपूर्वी सहित तेरह

अयोगी नित्य सुखको प्राप्त[1]करते हैं ।

प्रकृतियोंकी सत्ता उत्कृष्ट रूपसे रहती है और जघन्यसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवा शेष बारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है । इसका कारण यह है कि मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाका मनुष्यायु, क्षेत्र विपाका मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाका शेष नौ, कोई एक वेदनीय तथा उच्चगोत्र ये तेरह प्रकृतियाँ तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें क्षयको प्राप्त होती हैं, द्विचरम समयमें नष्ट नहीं होतीं । अतः तद्भवमोक्षगामीके अन्तिम समयमें उत्कृष्टसे तेरह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और जघन्यसे बारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ।'

किन्तु अन्तमें बारह प्रकृतियोंका क्षय माननेवालोंका कहना है कि मनुष्यानुपूर्वीका क्षय द्विचरम समयमें ही हो जाता है, क्योंकि उसके उदयका अभाव है । जिन प्रकृतियोंका उदय होता है, उनमें स्तिबुकसंक्रम न होनेसे अन्त समयमें अपने अपने स्वरूपसे उनके दलिक पाये ही जाते हैं, अतः उनका चरम समयमें सत्ताविच्छेद होना युक्त ही है। किन्तु चारों ही आनुपूर्वियाँ क्षेत्रविपाका होनेके कारण दूसरे भवके लिये गति करते समय ही उदयमें आती हैं, अतः भवमें स्थित जीवके उनका उदय नहीं हो सकता, और उदयके न हो सकनेसे अयोगी-अवस्थाके द्विचरम समयमें ही मनुष्यानुपूर्वीकी सत्ताका विच्छेद हो जाता है ।

पंचमकर्मग्रन्थकी टीकामें ७२+१३का ही विधान किया है इसलिये हमने मूलमें उसे ही स्थान दिया है। कर्मकाण्डमें भी यही विधान है, जैसा कि लिखा है-'उदयगवार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥ ३४१ ॥' अर्थात् उदयवती बारह प्रकृतियाँ और मनुष्यानुपूर्वी, ये तेरह प्रकृतियाँ अन्त समयमें सत्तासे व्युच्छिन्न होती हैं ।

१ कर्मकाण्डमें क्षपकश्रेणिका विधान इस प्रकार बतलाया है-

"णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते ण हि देससयलवदखवगा ।
अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टीकरणचरमम्हि ॥ ३३५ ॥

जुगवं संजोगित्ता पुणो वि अणियट्टीकरणबहुभागं ।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवदि कमे ॥ ३३६ ॥"

अर्थात्–नरकायुका सत्त्व रहते हुए देशव्रत नहीं होते, तिर्यश्चायुके सत्त्वमें महाव्रत नहीं होते, और देवायुके सत्त्वमें क्षपकश्रेणि नहीं होती। अतः क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्यके नरकायु, तिर्यश्चायु तथा देवायुका सत्त्व नहीं होता। तथा, असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्त संयत मनुष्य पहलेही की तरह अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका एक साथ विसंयोजन करता है अर्थात् उन्हें बारह कषाय और नौ नोकषायरूप परिणमाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोहका क्षपण करनेके लिये पुनः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरणके कालमें से जब एक भाग काल बाकी रहजाता है और बहुभाग बीत जाता है तो क्रमशः मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षपण करता है, और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है। उसके बाद चारित्र मोहनीयका क्षपण करनेके लिये क्षपकश्रेणि चढ़ता है। सबसे पहले सातवें गुणस्थानमें अधःकरण करता है। उसके बाद आठवें गुणस्थानमें पहुंचकर पहले की ही तरह स्थितिखण्डन, अनुभाग खण्डन वगैरह कार्य करता है। उसके बाद नौवे गुणस्थानमें पहुंच कर–

"सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदो एक्कं ।
खीणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवत्तंते ॥ ३३७ ॥"

नामकर्मकी १३ और दर्शनावरणकी तीन, इसप्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षपण करता है। उसके बाद उसी गुणस्थानमें क्रमशः आठ कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमायाका क्षपण करता है। उसके बाद दसवें गुणस्थानमें पहुँचकर संज्वलन लोभका क्षपण करता है। दसवेंसे एकदम बारहवें गुण-

'नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ता' आदि पहली गाथामें जिन द्वारोंका वर्णन करनेंकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारनेकी थी, उन द्वारोंका वर्णन समाप्त करके ग्रन्थकार अपना और [illegible] नाम बतलाते हुए ग्रन्थको समाप्त करते हैं—

देविंदसूरिलिहियं सयगमिण [illegible]सरा[illegible] ॥ १०० ॥

अर्थ—देवेन्द्रसूरिने आत्मस्मरण[illegible] नामके इस कर्मग्रन्थकी रचनाकी है ।

भावार्थ—इस ग्रन्थके कर्ताका नाम देवेन्द्रसूरि है । इनका विशेष परिचय ग्रन्थकी प्रारम्भिक प्रस्तावनामें दिया गया है । ग्रन्थका नाम **शतक** है क्योंकि इसमें सौ गाथाएँ है । तथा, इस ग्रन्थके बनानेका उद्देश्य ख्याति, लाभ वगैरह नहीं है, किन्तु आत्माके संबोधन के लिये ही इसकी रचनाकी गई है ।

हिन्दी व्याख्या सहित पंचम कर्मग्रन्थ समाप्त ।

स्थानमें पहुंचकर सोलह प्रकृतियोंका क्षपण करता है । फिर सयोगकेवली होकर चौदहवें गुणस्थानमें चला जाता है और उसके उपान्त समयमें ७२ प्रकृतियोंका तथा अन्त समयमें १३ प्रकृतियोंका क्षपण करके मुक्त होजाता है । संक्षेपमें यही क्षपणका क्रम है । बिस्तारसे जाननेके लिये लब्धिसारका क्षायिक सम्यक्त्व प्ररूपणाधिकार (गा० ११०–१६७) तथा क्षपणासार देखना चाहिये । क्षपणासार गा० ३९२ की टीकामें स्व०पं० टोडरमलजीने चारित्र मोहनीयकी क्षपणाके प्रारम्भक जीवका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके परिणाम अतिविशुद्ध होते हैं, शुक्ल लेश्या होती है, भाववेद तीनों में से कोई भी हो सकता है किन्तु द्रव्यवेद पुरुषवेद ही होता है, सात मोहनीय और तीन आयुओंके सिवाय शेष प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । किन्तु आहारकद्विक और तीर्थङ्करनामका सत्त्व किसीके होता है, किसीके नहीं होता है । इत्यादि, अन्य भी अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं ।

हिन्दीव्याख्यासहित

पञ्चम कर्मग्रन्थके

परिशिष्ट

१ पञ्चमकर्मग्रन्थकी मूल गाथाएँ

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा बुच्छं बंधविह सामी य ॥ १ ॥
वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥
तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेउत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥
पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा; दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥
निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥
थिरसुभियर विणु अद्धुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥
तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेसवेयतिगं ।
आगिइतिगवेयणियं, दुजुयल सग उरल सासचऊ ॥ ८ ॥
खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥
पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥
सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा, भइया मीसाइनवगम्मि ॥ ११ ॥
आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो, अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥ १२ ॥

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥ १३ ॥
संजलण नोकसाया, विग्घं इय देसघाइओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४ ॥
सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं ।
परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥
बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥ १६ ॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयणित्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥
नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिच्छ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥ १८ ॥
तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुगनिद्दा ।
तसवीसाऽऽउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥
घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥
नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥
मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥ २२ ॥
एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥
नव छ च्चउ दंसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥ २४ ॥
तिपणछअट्ठनवहिया, वीसा तीसेगतीस इग नामे ।
छस्सगअट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥ २६ ॥
मुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥
विग्घावरणअसाए, तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे, दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥
चालीस कसाएसुं, मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दंबिलाईणं ॥ २९ ॥
दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥ ३० ॥
भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुग्गंधे ।
वीसं कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥
गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥ ३३ ॥
इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासंखंस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा, अबाह सेसाण भवतंसो ॥ ३४ ॥
लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥
दो इग मासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥ ३६ ॥
अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डुभवं ॥ ३८ ॥

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहु अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥
सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥
अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥
विगलसुहुमाउगतिगं, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं।
एगिंदिथावरायव, आ ईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥
तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥
सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥
उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥
चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥ ४७ ॥
साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥
जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो।
एसि अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥ ५० ॥
तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

सव्वाण वि जिट्ठठिई, असुभा जं साऽइ संकिलेसेणं ।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥ ५२ ॥
सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज हस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥
असमत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा, परमपजबिए असंखगुणा ॥ ५४ ॥
पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया, सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥ ५५ ॥
तिरिनिरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं, पणिंदिसु अबंधठिइ परमा ॥ ५७ ॥
विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥
समयादसंखकालं, तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥
जलहिसयं पणसीयं, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे ।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥
असुखगइजाइआगिइसंघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥ ६१ ॥
समयादंतमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥
तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिकसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाई असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदेसआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकड्डिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥
तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥ ६६ ॥
विउव्विसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥ ६७ ॥
तमतमगा उज्जोयं, सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥
थीणतिगं अण मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥
अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥
विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥
तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं ।
आसुहुमायव सम्मो, व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥ ७२ ॥
तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियराति मिच्छ चउगइया ॥ ७३ ॥
चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥
सेसम्मि दुहा इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥
एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥
इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाढं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥
नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झंतीण विभज्जइ, सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥
सम्मदरसव्वविरई उ अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥
गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥
पलियासंखसमुहू, सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥ ८४ ॥
उद्धार अद्ध खित्तं, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥
दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥
उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥
लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥
अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥
मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसायं, वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥
सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥
दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥
सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ९६ ॥
चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होई सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥
अण दंस नपुंसित्थी, वेय च्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥
अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुजोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥
छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

मूल पञ्चम कर्मग्रन्थ समाप्त ।

२ पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

३ अनुवाद तथा टिप्पणमें उद्धृत अवतरणोंका
अकारादि अनुक्रम

४ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद तथा टिप्पणी में आगत पारिभाषिक शब्दोंका कोश[1]

---

1 इसमें प्रायः उन्हीं शब्दोंको स्थान दिया गया है जिनकी परिभाषा अनुवाद या टिप्पणम दी गई है। प्रत्येक शब्द के आगे का अङ्क पृष्ठ का सूचक है, तथा बिन्दु के बाद का अङ्क पंक्ति का सूचक है।

---

५ पञ्चमकर्मग्रन्थकी गाथाओंमें आये हुए पिण्डप्रकृतिके सूचक शब्दोंका कोश

६ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा सङ्केतविवरण

अनुयोग० सू०
अनुयोग० } अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति सूरत।

अनुयोगद्वार टीका—आगमोदयसमिति सूरत।

अभिधर्म०—अभिधर्मकोश, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी।

अभिधर्म० व्या०
अभि०व्या० } अभिधर्मकोशव्याख्या, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी।

आव० नि०—आवश्यकनिर्युक्ति, आगमोदयसमिति सूरत।

आव० नि० टी०—आवश्यकनिर्युक्ति मलयटीका, आगमोदयसमिति।

कर्मप्रकृति (चूर्णि सहित)-
कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीका
कर्मप्रकृति मलय० टी०—कर्मप्रकृति की मलयगिरि टीका } मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई गुजरात

कर्मग्रन्थ[1] की स्वोपज्ञ टीका—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

काललोकप्रकाश—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

क्षपणासार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

गो० कर्मकाण्ड
कर्मकाण्ड } —गोमटसार कर्मकाण्ड, रायचंद जैन शास्त्रमाला बम्बई।

---

१ अनुवाद आदिमें जहां कहीं केवल कर्मग्रन्थ लिखा है, वहां पञ्चम कर्मग्रन्थ ही समझना चाहिये।

गोमट्टसार जीवकाण्ड } रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई ।
जीवकाण्ड }

गीतारहस्य—चित्रशाला स्टीम प्रेस पूना ।

छठा कर्मग्रन्थ—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—राय धनपतिसिंह बहादुर द्वारा प्रकाशित ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की सं० टीका— ,, ,,

ज्योतिष्क०—ज्योतिष्करण्डक, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे० सं० रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादिदशशास्त्रान्तर्गत ।

तत्त्वार्थसूत्र—श्री आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक फंड बम्बई ।

त० राजवार्तिक } तत्वार्थराजवार्तिक, श्री जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी
राजवार्तिक } संस्था कलकत्ता ।

तत्त्वार्थभाष्य—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, आर्हत्प्रभाकर कार्यालय पूना ।

त्रिलोकसार—श्रीमाणिकचन्द दि० जैनग्रन्थमाला बम्बई ।

द्रव्यलोक०—द्रव्यलोक प्रकाश, देवचन्द लाल भाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत ।

द्वितीय कर्मग्रन्थ—'सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः' के अन्तर्गत, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर ।

नन्द्यादि अकाराद्यनुक्रमणिक—आगमोदय समिति सूरत ।

न्या० मञ्ज०—न्यायमञ्जरी, विजयानगरं सिरीज काशी ।

पञ्चसं०—पञ्चसंग्रह मूल, श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित पन्चाशकादि दसशास्त्रान्तर्गत ।

पञ्चसं०—पञ्चसंग्रह सटीक दो भाग, मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई ।

पञ्चमकर्मग्रन्थका टबा—प्रकरण रत्नाकर के चतुर्थभाग के अन्तर्गत।

पञ्चम कर्म० स्वोपज्ञटी०
पञ्च० कर्म० टी०
प० कर्म०
} पञ्चमकर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

पञ्चमकर्मग्रन्थका गुजराती अनुवाद—जैन श्रेयस्कर मण्डल म्हेसाणा।

पञ्चाशक—श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादि दस शास्त्रान्तर्गत।

पञ्चास्ति०—पञ्चास्तिकाय, रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई।

प्रकरणरत्नाकर—प्रकाशक श्रीभीमसी माणक बम्बई।

प्र० कर्मग्र०—प्रथमकर्मग्रन्थ, 'सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः' के अन्तर्गत, भावनगर।

प्रवचनसा०
प्रवचन०
} प्रवचनसारोद्धार, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

प्रवचन० टी०—प्रवचनसारोद्धार की टीका, देवचन्द लालभाई सूरत।

प्रवचनसार अमृत० टी०—प्रवचनसार की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका, रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद भाष्य, विजयानगरं सिरीज काशी।

प्रशस्त० कन्दली०—प्रशस्तपाद भाष्य की कन्दली टीका, विजयानगरं सिरीज काशी।

ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र, निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

भ० गीता—भगवत्गीता निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

मिलिन्दप्रश्न—महाबोधि सोसयटी सारनाथ, बनारस।

योगद०—योगदर्शन, व्यासभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी और भास्वती आदि टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस।

लब्धिसार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

लो० प्र०—लोकप्रकाश, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारसंस्था सूरत।

विशे० भा०
विशेषा० भा० —विशेषावश्यक भाष्य कोट्याचार्य प्रणीत टीका सहित, श्वेताम्बरसंस्था रतलाम।
विशे० ,, बृहद्वृत्ति सहित, यशोविजय ग्रन्थमाला काशी

विशेषणवती—श्वेताम्बर संस्था रतलामद्वारा प्रकाशित।

बृहत्कर्म० भा०—बृहत्कर्मस्तव भाष्य।

संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरिरचित)-प्रकरणरत्नाकरके चतुर्थभागके अन्तर्गत।

सटी० च० कर्म०—सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः, श्री आत्मानन्द सभा भावनगर।

समयप्राभृत—काशीस्थ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था।

सर्वार्थसिद्धि—जैनेन्द्र मुद्रणालय कोल्हापुर।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

सांख्यकारिका—चौखम्बा काशी।

माठ० वृ०—सांख्यकारिका की माठरवृत्ति, चौखम्बा काशी।

शुद्धिपत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१७	२१	सुहमस्य	सुहुमस्स
२१	१८	उद्योग	उद्योत
४०	७	आवश्यकचूर्णि	आवश्यकनिर्युक्ति
५४	१५	भवधिपाकी	क्षेत्रविपाकी
५९	२५	पञ्च० सं	पञ्चसं०
९६	१०	पञ्चन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
१०८	१५	उतरार्द्ध	उत्तरार्द्ध
१२०	२३	उच्छ्वास	उछ्वास
१७३	२२	सव्वग्घं	सव्वग्घं
२०६	५	वर्णणाएँ	वर्गणाएँ
२२२	१५	रूप	रूव
२४३	१९	सपुन्न	संपुन्न
२७२	१३	अद्धापल्योपम	अद्धापल्य
३०७	२३	बन्ध	बन्ध
३३५	१४	ममिदधति	मभिदधति
३६८	६	प्रज्ञप्ति का	प्रज्ञप्तिकी

हिन्दी व्याख्यासहित

पञ्चमकर्मग्रन्थ

समाप्त

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल
रोशन मुहल्ला, आगरा से
प्रकाशित पुस्तकों की सूची

१ सामायिक और देव वन्दन सूत्र विधि	-)
२ देवसि राई प्रतिक्रमण—मूल	I)
३ जीव विचार—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी	I-)
४ नवतत्व—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी	I-)
५ दण्डक—हिन्दी भावार्थ अनु० पं० सुखलालजी	I)
६ कर्मग्रन्थ पहला—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	III)
७ कर्मग्रन्थ दूसरा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	III)
८ कर्मग्रन्थ तीसरा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	II)
९ कर्मग्रन्थ चौथा—हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी	२)
१० योग दर्शन तथा योग विंशिका—न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी उपाध्याय कृत तथा वर्णित-हिन्दी अनुवाद सहित।	१II)
११ दर्शन और अनेकान्तवाद—कर्त्ता पं० हंसराजजी शर्मा शास्त्री, इसमें जैनधर्म का अन्य दर्शनों के साथ मेल दिखाया है।	II)

१२ पुराण और जैनधर्म—लेखक पं० हंसराजजी शास्त्री |||)

१३ भक्तामर कल्याण मन्दिर स्तोत्र—हिन्दी अनुवाद सहित मूल तथा हिन्दी =)||

१४ वीतराग स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक पं० बृजलालजी =)

१५ अजित शान्ति स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक मुनि श्री माणिक्य विजय जी।)||

१६ श्री उत्तराध्ययन सूत्र सार—लेखक मुनि श्री माणिक्य विजय जी। =)

१७ बारह व्रत की टीप—लेखक मुनि श्री दर्शनविजय जी ≡)

१८ जिन कल्याणक संग्रह—इसमें २४ भगवान् के कल्याणक कहाँ और कब हुये सब बतलाया है। -)

१९ ज्ञान थापने की विधि—ज्ञान पंचमी के तप करनेवालों को यह पुस्तक अवश्य मँगानी चाहिये। ≡)

२० भजन पचासा—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें कुरीति सुधार के ऊपर बड़े मनोहर गायन हैं। -)||

२१ भजन मंजूषा—कर्त्ता सेठ ऋषभदासजी नाहटा सिकन्दराबाद, इसमें नवीन राग रागनी स्तवन के हैं।)||

२२ हिन्दी जैन शिक्षा भाग १—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है।)||

२३ हिन्दी जैन शिक्षा भाग २—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है। -)

२४ **हिन्दी जैन शिक्षा भाग ३**—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, बच्चों को पढ़ाने के लिये सर्वोत्तम पुस्तक है। -)॥

२५ **हिन्दी जैन शिक्षा भाग ४**—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दजी घीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है। =)

२६ **कलियुगियों की कुलदेवी**—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें वेश्या नृत्य का खण्डन है।)॥

२७ **सदाचार रक्षा, प्रथम भाग**—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करनेवाली ५४ कुरीतियों का खण्डन किया गया है, यदि गृहस्थ अपनी सन्तान को सदाचारी बनाना चाहें तो इसे अवश्य पढ़ें और इन कुरीतियों से बचावें तो शर्त्तिया सन्तान सदाचारी बन सकती है। ।-)

२८ **प्राचीन कविता संग्रह**—सेठ जवाहरलालजी नाहटा द्वारा संग्रहीत, इसमें शत्रुञ्जय का रास, गौतम स्वामी का रास, हो रानी पद्मावती, पुण्य प्रकाश स्तवन, श्रावक की करणी, महावीर स्वामी का पारणादि अनेक प्राचीन कवितायें हैं। ।=)

२९ **देव परीक्षा**— -)॥

३० **विमल विनोद**—कर्त्ता मुनि श्री विमल विजयजी, इसमें विधवा विवाह का खण्डन उपन्यास के ढंग पर किया गया है और आर्य्य समाज के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सरलता से किया गया है। ॥=)